श्रेष्ठि-देवचंद-लालभाई-जैनपुस्तकोद्धारे ग्रन्थाङ्कः १०७

श्रीदूसगणिशिष्य-श्रीदेववाचकविरचितम्

नंदीसूत्रम् । 卐

[आचार्यश्रीमलयगिरिकृतटीकायाः संक्षेपरूप-अवचूर्या समलङ्कृतम्]

संशोधकौ- जैनरत्न-व्याख्यानवाचस्पति-पूज्यपादाचार्यश्रीमद्विजयलब्धिसूरीश्वरचरणचञ्चरीकौ आचार्यश्रीविक्रमसूरि-पन्यासश्रीभास्करविजयौ

प्रकाशक- सुरतवास्तव्यश्रेष्ठि-देवचंद-लालभाई-जैनपुस्तकोद्धारकोशस्य कार्यवाहको मोतीचंद मगनभाई चोकसी.

वीरसंवत् २४९५ विक्रमसंवत् २०२५ इस्वीसन् १९६९

मूल्यम्-रूप्यकचतुष्कम्

प्रकाशिका:- देवचंद लालभाई जैनपुस्तकोद्धार संस्था
बडेखान चकलो, गोपीपुरा, सूरत.

मुद्रक— जसवंत प्रिन्टींग प्रेस, दोशीवाडानी पोळ, कालुपुर, अमदावाद–१.

* પ્રકાશકીય નિવેદન *

આચાર્યભગવંત શ્રીદેવવાચકકૃત નંદિસૂત્ર પરની આ અવચૂરી કે જે વાસ્તવમાં નંદિસૂત્ર પરની મલયગિરિજી કૃત ટીકાનું લગભગ સંક્ષિપ્તીકરણ છે, તેને આજે સર્વપ્રથમ મુદ્રિત કરાવી શ્રીસંઘના કરકમલોમાં મૂકતાં અમો આનંદ અનુભવીએ છીએ

નંદિસૂત્રની આ અવચૂરીની પ્રતને શક્ય તેટલી શુદ્ધ કર્યા પછી અમે છપાવી છે છતાંય મૂળ હસ્તપ્રતની અશુદ્ધિઓના કારણે તેમાં અશુદ્ધિઓ રહી જવા પામી હશે. તો તે વિષયના તજજ્ઞ મહાપુરુષો સુધારીને વાંચે તેવી વિનંતી છે.

પ્રસ્તુત પ્રકાશનનું સંપાદન જૈનરત્ન વ્યાખ્યાનવાચસ્પતિ આચાર્યદેવ શ્રીમદ્વિજયલબ્ધિસૂરીશ્વરજીના વિદ્વાન શિષ્યરત્નો આચાર્ય શ્રીવિજયવિક્રમસૂરીશ્વરજી તથા પન્યાસપ્રવર શ્રીભાસ્કરવિજયજીગણિએ સ્વીકારી અમને ઉપકૃત કર્યા છે તે બદલ અમે તેમના ઋણી છીએ.

વાંચવા ... છે.

પ્રાન્તે પ્રેસદોષ તથા મતિમંદતા આદિના યોગે જે કંઈ જિનવચનવિરુદ્ધ છપાયું હોય તેનો ત્રિવિધે મિચ્છામિ દુક્કડં આપું છું.

લી૦
મોતીચંદ મગનભાઈ ચોકસી
મે૦ ટ્રસ્ટી

‘किंचिद् वक्तव्य’

प्रस्तुत ग्रंथ ज्यारे पाठकोना हाथमां आवशे त्यारे पहेला फर्मोना मुद्रगने लगभग १५ थी १६ वर्ष परिपूर्ण थइ चूक्यां हशे. आम सारो एवो काळ पसार करीने आ ग्रंथ बहार पडे छे. आ साथे ‘दुर्गपद्व्याख्या’ पण छपाववानी हती अने तेनो प्रथम फर्मो तैयार पण थइ गयो छे जे आ साथे मुक्यो छे. पण नंदीनी पू. हरिभद्रसूरि म०नी पुनर्मुद्रित टीकामां ते व्याख्या छपाइ गइ होवाथी एक फर्मो जे तैयार हतो तेटलो ज आपीने आगळ काम साथे जोडवानो निर्णय कर्यो छे. वळी प्रति तेमज प्रेसना कारणे घणी अशुद्धिओ थवा पामी छे. पण नवमुद्रित चूर्णि तेमज टीकाने साथे राखीने तैयार करी शुद्धिपत्रक अंतमां आप्युं छे. आ ग्रंथनु शुद्धिपत्रक तैयार करवामां मुनि जिनभद्रविजयजीए सारो परिश्रम उठाव्यो छे. अंते आ ग्रंथ आटला वखते पण छपाइने बहार पडयो छे तेथी ज संतोप अनुभववो रहे छे. प्रस्तुत ग्रंथनी प्रस्तावना पण पांच वर्ष पहेलां लखाइ चूकी हती. तेमां पण पुनः प्रेसकोपी करती वखते घणो सुधारो वधारो करवामां आव्यो छे, अने समयना अभावे ईतिहास विभागनी चर्चा तो अति संक्षिप्तमां ज करी देवी पडी छे.

बेंगलोर
संवत २०२५
महावीर जन्म वांचन दिन

आचार्य विक्रमसूरि

मृ।

विभाग—१

[१] नंदी (ज्ञान)नुं माहात्म्य

जैनशासनमां ज्ञानने कर्मनाशनुं उत्तम साधन कह्युं छे [1]मुक्तिनी साधनामां ज्ञाननी परम आवश्यकता स्वीकारवामां आवी छे. ज्ञान वगरनी क्रिया पूरेपूरुं फळ आपवामां असमर्थ छे. ज्ञान ए आत्मगुण छे, ज्यारे क्रिया माटे तेम नथी. जो के क्रिया कर्मनाश करनार छे—पण ए क्रिया केवी रीते करवी तेनो बोध ज्ञान द्वारा थाय छे अने एवुं ज्ञान वीतराग भगवंतो के जेओ सर्वज्ञ सर्वदर्शी छे—तेओना उपदेशरूप आगम-शास्त्रोथी थाय छे. तेवां आगमसूत्रो जैन-शासनमां हालमां ४५नी संख्यामां छे. तेमज तेना आधारे रचायेलां अनेक महान सूत्रो पण छे. तेमां एकला ज्ञाननुं निरूपक आगमशास्त्र 'नंदी' छे.

आ नंदीसूत्र परम मंगल छे. केमके आत्माने स्वच्छ करनार, स्वस्वरूपमां लावी आपनार अने अनादिना मोह अंधकारने हरनार छे. तत्वार्थसूत्रकारे 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' आ सूत्रमां ज्ञानने वचमां मूक्युं छे. जे 'देहलीदीपक'न्याये बन्ने बाजु प्रकाश आपे छे. रत्नत्रयीमां तेणे हृदयनुं स्थान लीधुं छे. एटले सम्यक्त्व अने

१ ज्ञानस्य फलं विरतिः प्रशमरतिप्रकरण

चारित्रनो प्राण ए ज्ञान छे. [1]अथवा ज्ञान ज सम्यक्त्व ज्ञान अने चारित्ररूप छे. आवा ज्ञाननुं निरूपण तेमां करेलुं होवाथी नंदीसूत्र परम मंगल छे.

आत्मा तेमज सकल पदार्थोने ओळखावनार जीवनो मुख्य गुण ए ज्ञान छे. ए ज्ञानना अवरोधक तत्त्वोनो समूल नाश–क्षय अथवा नाश साथे दबाण [क्षयोपशम]ज थई शके छे. पण एकलुं दबाण [उपशम] थई शकतो नथी. आ आगमसूत्र ते परम आत्मगुणनी ज विवेचना करतुं होइ सर्व मंगलोमां अग्रगण्य स्थान भोगवे छे. जैनशासनमां अग्रपद धरावता आचार्यपदनुं आरोपण करवानुं होय ते समये आ 'नंदी'सूत्रनुं श्रवण ए आवश्यक मनायुं छे.

[२] जैन साहित्यमां नंदीनुं स्थान

जैन आगमशास्त्रोमां पण आ सूत्रनुं घणुं उच्चस्थान छे. केमके कोईपण शास्त्रनो अभ्यास करतां पहेलां नंदीसूत्रनो अभ्यास करवो जोइए.

'[2]नंदीअणुयोगदारं, विहिवदुवग्घाइयं च नाऊणं । काऊण पंचमंगल–मारम्भो होइ सुत्तस्स' ॥१॥

अर्थात् नंदी अने अनुयोगद्वारनो विधिपूर्वक अभ्यास करीने पछी ज सूत्रमात्रनो अभ्यास करवो उचित छे.

नमस्कार महामंत्रने जे महाश्रुतस्कंध कहेवाय छे. तेना कारणमां तेनुं सर्वशास्त्रमां अभ्यन्तरपणुं कारण होय तेवुं सांभळवामां आवे छे. ते नमस्कारनी सर्वशास्त्राभ्यन्तरताने सिद्ध करवा माटे पू. जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणजी जे दलील

१ आत्मानमात्मना वेत्ति, मोहत्यागाद्य आत्मनि, तदेव तस्य चारित्रं, तज्ज्ञानं तच्च दर्शनम् ॥१॥ उपाध्यायजी यशोविजयजी म. तत्वार्थटीका पृ. १६ ।

२ आ नि. गा. १०१३ ।

आपे छे ते विचारवा जेवी छे. तेओ जणावे छे के–

"जं च पिहो ण पढिज्जइ नंदीए सो सुअक्खन्धो" गाथा १०

अर्थात् नंदीसूत्रमां बधां सूत्रोनां नाम आव्यां छे. तेमां पंच-अध्ययनात्मक नमस्कार श्रुतस्कंधने पृथक् कह्यो न होवाथी ते सर्व श्रुताभ्यन्तरभूत छे.

पंचमाङ्गरूप श्रीभगवतीजी जेवा आगमग्रन्थमां पू. देवर्धिगणि क्षमाश्रमणजीए नंदीसूत्रनी भलामण करी छे. आगमने पुस्तकारूढ कर्यां ते वखते तेओश्रीए ज्यां ज्यां जरूर पडी त्यां त्यां नंदी आदि अनंगप्रविष्ट ग्रंथोनी भलामण करी छे. श्रीमल्लवादीसूरिजीए पण नयचक्रमां नंदीनुं प्रमाण 'आर्षम्' कहीने आप्युं छे. चतुर्दशपूर्वधर श्रीभद्रबाहुस्वामीजीए आवश्यक-निर्युक्तिमां नंदीना अध्ययननी आवश्यकता जणावी छे.

आ सूत्र माटे बीजा लेखको लखे छे के, छेवटे जैन सिद्धांतमां नंदीसूत्र अने अनुयोगद्वारसूत्रनो विचार करवानो रहे छे. बन्नेना विषयो समान होवा छतां पद्धतिमां बन्ने जुदा छे. तेओ छेवटे अंशे ज्ञानकोश समान छे अने पवित्र मूळ ग्रन्थोनुं साचुं ज्ञान मेळववा साधनरूप छे.' आ प्रमाणे डॉ वेलरना अभिप्राय प्रमाणे तेना कर्ता पोताना वाचकोने आ सूत्रोमां प्रस्तावनारूपे सिद्धांत प्रतिपादन करे छे. ते विद्वान जणावे छे केः– 'आ बे ग्रन्थो तेना माटे सुंदर योजायेला छे के जे ग्रंथोना समूहने पूर्ण करीने तेनी टुंकी नोंध उतारीने पवित्र ज्ञानना झरणमांथी पान करवा जिज्ञासु होय.' [उत्तरहिन्द. जैनधर्म. पृष्ठ २११]

[३] शैली अने काळनिर्णय

आ सूत्रमां ऐतिहासिक पट्टावली-पाटपरंपरा आपवामां आवी छे. जेमां अनेक महान शासनप्रभावक आचार्योनी नामावली मूकवामां आवी छे अने ते महापुरुषोए शुं शुं कार्य कर्युं तेनुं आछुं दिग्दर्शन कराव्युं छे. जो आनी साथे संवत मूकवामां आव्या होत तो आजे स्वतंत्र विचारको द्वारा जे गुंचवणो उभी करवामां आवी छे ते थवा पामत नहीं. जो के ते दिशामां श्रद्धालु विद्वानो प्रयास करशे तो ते गुंचवणोनो उकेल जरूर आवशे. जे काळमां अत्यारे अतिशयज्ञानीओनो अभाव छे, पूरा ग्रंथो मळी शकता नथी. छतां केवळ शैलीना अनुसारे कल्पनाओ द्वारा ईतिहास तैयार करवामां आवे छे ते वास्तविक कही शकाय नही. केम के शैली एक काळमां पण विविध देखाय छे. कालीदासना समयमां थयेला कविओनी शैली अने कालीदासनी शैली एक सरखी हती एम कोण कही शके ?

शैलीनुं वैविध्य लेखकोनां ज्ञानगांभीर्यादि विविध कारणो पर आधार राखे छे. 'पउमचरियं' नामना ग्रंथमां ग्रंथकारे संवतनो उल्लेख: कर्यो छे. छतां पण केटलाक विद्वानो ते मानवा तैयार नथी. जाणे पोते जे शैली जे कालनी निश्चित करी छे ते पहेलानां काळमां ए शैली होय ज नहीं. आम अहंमानी विद्वानो बधी शताब्दीओनी शैलीना ज्ञाता होय तेवो डोळ करे छे. मारुं तो मानवुं छे के जेटली स्पष्ट सामग्री मळे तेटलो ज ईतिहास लखे ता खोटो प्रचार थवा पामे नहीं. निर्युक्तिना रचनाकाळ विषे जेम भ्रम हतो अने ह्युनसंगना [चाईनीस-ह्युएन-संग] लखाण उपर विश्वास मूकीने भर्तृहरि माटे केटलो बधो भ्रम फेलाववामां आव्यो हतो ते आजे प्राचीन ग्रंथोनी

उपलब्धिथी दूर थयो छे. त्यारे शुं भर्तृहरिनी शैली ते काळना लेखकोनी शैलीने मळती ज हती ? नहीं ज. माटे शैली आदि लइने कल्पनात्मक काळनिर्णय करवो ए बिलकुल व्याजबी नथी.

मात्र शब्दोनी के शैलीनी साम्यताथी अमुक ग्रंथ उपर अमुक ग्रंथकारनो प्रभाव पड्यो छे. आ वार्ता इष्ट नथी. हा जरूर ग्रंथनो के ग्रंथकारनो नामनिर्देश करवामां आव्यो होय अथवा "उक्तं च" आदि शब्दोथी एमनो आशय टांकवामां आव्यो होय तो "आ ग्रंथकारनी पछी आ ग्रंथकार थया छे" एवुं नक्की करवामां आवे तो ते हजुए ठीक छे.

(१) जो के शिलालेखना आधारे अथवा सिक्काओना आधारे पण अनुमान थइ शके. छतां पण राजाओनां एकना एक नामो पण घणां आवे छे. तेथी कया राजानो संबंध कोनी साथे छे ते बाबतमां ज्यां सुधी स्पष्ट प्रमाण न मळे त्यां सुधी केवळ कल्पनाना आधार उपर इतिहासनो निर्णय करवो ए अमने तो व्याजबी लागतुं ज नथी. आटली विचारणा कर्या पछी हवे मूळ ग्रंथना विवेचन उपर जइए.

विभाग—२

विषय—निरूपण

आ समस्त ग्रंथ एक व्यवस्थित रचनाथी युक्त छे. जेना सामान्य रीते आ दस विभाग छे. ते प्रथम दर्शाववामां आवे छे.

[१०] परोक्ष ज्ञानना बीजा भेदनुं विस्तारथी वर्णन करीने श्रुतज्ञान, परोक्षज्ञान अने ज्ञानसामान्यनुं वर्णन पूर्ण करे छे. हवे प्रत्येक विभागनी विशेषता तपासी लइए.

[१] अहीं प्रथम श्लोकनुं अवतरण करतां चूर्णिकार जणावे छे के 'सव्वसुत्तत्था य जतो तित्थगरप्पभवा अतो वत्तीण पन्नवगसावगे पढगचिंतगा य पढमत्ताए नमोक्कारं करेत्ता भणंति' अर्थात् श्रुतना सर्व अर्थो तीर्थंकरथी नीकळेला (कहेवायेला) होय छे. तेथी प्ररूपक श्रोता जाणनार अने चिंतन करनारने प्रथम नमस्कार करीने शरूआत करे छे. आ हेतुथी श्रमणसंघमां व्याख्याननी शरूआत करतां पहेलां 'जयइ जगजीवजोणी' आदि श्लोक द्वारा अद्यापि पर्यंत मंगलाचरण करवानी पद्धति चालती आवी होय तेम लागे छे. जेना द्वारा वीर प्रभुने नमस्कार थाय छे. वळी सर्व प्रथम गाथा जाणे ग्रंथना ज्ञान द्वारा कर्मशत्रुनो जय करवानुं ज सूचन करती होय तेम लागे छे—'जयइ' एवा शब्दथी शरू थाय छे तेमज गाथाना प्रथम शब्दथी लइने छेल्लेथी पहेला शब्द सुधी दरेक शब्दनी आदिमां 'ज' आवतो होवाथी वर्णानुप्रास नामना अलंकारथी शोभी रहेल छे अने आ कवित्वशक्तिनो संघने आपेलां रूपकोमां तेमज स्थविरावलीना वर्णनमां सारो परिचय मळी रहे छे.

[२] अहीं संघने रथ, चक्र, नगर, पद्म, चन्द्र, सूर्य, समुद्र अने मेरुपर्वतनुं रूपक आपवामां आव्युं छे. पण [पू. हरिभद्र सू. म. कृत टीकामां तेनो क्रम जुदो जोवामां आवे छे. ते आ प्रमाणे–[१] नगर [२] चक्र [३] रथ [४] पद्म [६] सूर्य [७] समुद्र [८] मेरुपर्वत. तफावत मात्र एटलो ज छे के चूर्णिमां रथना रूपकनो प्रथम अने नगरना

रूपकनो त्रीजो नंबर छे. ज्यारे हारिभद्रीय टीकामां नगरनी उपमा प्रथम छे अने रथनी उपमानो त्रीजो नंबर छे. ते बधां रूपको अत्यंत सुन्दर अने गंभीर होवाथी तेनुं यत्किंचित् दर्शन अहीं कराववामां आवे छे.

(१) रथः— पंचमहाव्रत रूपी रथ खेंचनारा तप अने नियमरूपी अनेक प्रकारना अश्वो छे वळी स्वाध्यायना शब्द रूपी नंदीघोषथी ते रथ गुंजी रह्यो छे. प्रथम श्लोकमां ज पंचमहाव्रतने संघ कह्यो छे. ते पण घणुं ज सूचक छे. वळी 'नंदी' एवुं नाम पण सूचवायुं होय तेम लागे छे.

(२) चक्रः— अहीं संघने चक्रनुं रूपक आप्युं छे जे चक्रमां (१) अहीं 'सावग' शब्दथी श्रोता ज अर्थ करवो जोइए केमके प्रज्ञापक शब्दनी पछी 'च' मूकवामां आव्यो छे. जेथी अहीं जेनो अधिकार प्राप्त थयो होय ते ज ग्रहण शरु थइ शके पण श्रावक एटले श्रमणोपासक (गृहस्थ) नहीं. वळी अधिकारीनुं वर्णन कर्या बाद चूर्णिकारे जे अवतरणिका करी छे. तेनाथी पण ते ज वस्तुनुं सारी रीते समर्थन थाय छे.

"दुस्सगणिसीसो देववाचको साहू जो जणहिएच्छाए इणमाह."

(३) नगरः— सेंकडो गुण रूपी भवनोथी संकीर्ण दर्शनविशुद्धिरूप शेरीओथी युक्त, निरतिचार चारित्ररूप किल्लाथी युक्त एवुं संघरूपी नगर छे. वळी ते नगर श्रुतरूप रत्नोथी भरेलुं (समृद्ध) छे.

(४) पद्मः— अहीं संघने कमळनी उपमा आपी छे. कमळ जेम जळमांथी पेदा थाय छे. तेम संघरूपी कमळ पण कर्मरजरूपी जलना समुदायमांथी पेदा थयेलुं छे. (नीकळेलुं छे.) ते कमळनुं लिंग श्रुतरूप रत्न छे. वळी तेमां पांच महाव्रतरूपी स्थिर कर्णिका छे.

वळी ते संघरूपी कमळ गुणरूप केशराथी युक्त छे. ते कमळ जिनेश्वर भगवंतनी धर्मदेशनारूप तेज (किरणो)थी खीलेलु' छे. तेनी शोभाथी आकृष्ट थयेला श्रमणोपासकरूप भ्रमरोथी व्याप्त छे. वळी संघरूपी कमळमां हजारो श्रमणसमुदायरूपी पत्रो छे.

[५] चन्द्रः— निर्मळ सम्य त्वरूप विशुद्ध चांदनीथी युक्त नास्तिकवादरूप राहुवडे मूळथी गळी न शकाय तेवो मध्यवर्ती तप अने संयमरूप लंछनथी शोभतो संघरूपी चन्द्र छे.

[६] सूर्यः— जेम सूर्यने प्रज्वलंत किरणो होय छे, तेम आ संघरूपी सूर्यने पण तप-तेजरूपी देदींप्यमान किरणो छे. वळी ते संघरूपी सूर्य परतीर्थिक ग्रहोनी प्रभानो नाश करनार छे. ज्ञानरूपी उद्योतथी युक्त छे. आवो उपशमप्रधान संघरूपी सूर्य छे.

[७] समुद्रः— विशाल संघरूपी समुद्र, धृतिरूप वेलाथी विंटळायेलो छे. तेमां स्वाध्याय ने योगरूप मगरो छे. वळी ते समुद्र क्षोभ न पामे तेवो छे.

[८] आठमी अने आखरी सुंदर मेरुपर्वतनी उपमा संघने आपवामां आवी छे.

'संघरूपी मेरुपर्वत'

[A] ते संघरूपी मेरुपर्वतनी सम्यगूदर्शनरूप (वज्रमय) पीठ छे.

[B] ते संघरूप मेरुपर्वत मूलगुणरूप सुवर्णनो बनेलो छे. जेमां उत्तरगुणरूपी रत्नो शोभी रह्यां छे.

[C] जेमां नियमरूपी सुवर्णना शिलातलोमां, प्रतिसमय कर्मनो नाश करतां होवाथी उज्ज्वल चित्त(मन)रूपी कूटो छे.

[D] ते संघ पर्वतमां संतोपरूपी मनोहर नंदनवन छे. जे नंदनवन शीलरूपी सुगंधीथी महेकायमान थइ रह्युं छे.

[E] ते पर्वतमां सेंकडो हेतुरूप धातुओ रहेली छे. वळी ते पर्वतनी [1]गुफामां अनेक आमर्शौषध्यादिरूप दिव्य औषधो छे. तेमज श्रुतरूप चन्द्रकान्तादि रत्नो क्षायोपशमिकादि भावने वहावी रह्यां छे.

[F] ते पर्वतमां जीवदयारूपी सुन्दर [2]कंदराओ छे. ज्यां मुनिवररूपी दर्पित सिंहो विचरी रह्या छे.

[G] वळी जे पर्वतमां संवररूप जलमांथी श्रुतज्ञानरूप झरणां निकळी रह्यां छे. अने ते झरणारूप मोतीना हारथी ते पर्वत शोभी रह्यो छे.

[H] वळी ते पर्वतनी [3]कुहरो श्रावकजनरूपी रणकार करता प्रवर मयूरोथी नाचती होय तेम लागे छे.

[I] वळी ते संघरूपी पर्वतमां युगप्रधानरूप महापुरुषो विनयथी नमेला श्रेष्ठ मुनिरूप विद्युतना चमकाराथी ओळखाइ रह्या छे.

[J] वळी ते संघरूप मेरुपर्वतमां (मुनिओना) गच्छरूप वनो छे. जे वनोमां रहेलां मुनिरूप वृक्षो उपर लब्धिरूपी

---

१ 'देवखातबिले गुहा' देवखातो अकृत्रिमो बिले बिलविषये (अमरकोशः)। २ 'दरी तु कन्दरा पर्वतस्य गृहाकारं कृत्रिमं विवरम्' (अमरकोशः)।
३ 'कुहरं शुषिरं विवरम्' इत्यादि छिद्रमात्रस्य (अमरकोशः)।

पुष्पो छे. ते वृक्षो पर धर्मरूप फळो छे.

[K] ते संघरूप पर्वतनी, विमल वैडूर्यरत्नोनी प्रभावडे श्रेष्ठ तेमज ज्ञानरूपी रत्नोथी दीपी रहेली मनोहर चूलिका छे. आम पवित्र एवा संघनी मनोहर उपमाओ द्वारा स्तुति अहीं समाप्त करे छे.

(३) अने (४)मां कंई विशेष वक्तव्य नथी.

[५] आ परंपरामां केटलाक महापुरुषोनुं नामोत्कीर्तन तेमना गोत्रनी साथे जोवामां आवे छे. केटलाकमां ते महापुरुषोना श्रामण्यवंशनो उल्लेख प्राप्त थाय छे, तो केटलाकमां कवित्वशक्तिना सुन्दर नमूनारूप हृदयंगम विशेषणो छे. तेओश्री ३७मी गाथामां जणावे छे के "अत्यारे पण अर्धभरतमां जेओनो यश खूब प्रसरेलो छे तेवा स्कंदिलाचार्यने हुं वंदन करुं छुं" अहीं आ गाथाना विवेचनमां चूर्णिकार तेमज टीकाकार जणावे छे के "१२ वर्षनो दुकाळ वीती गया पछी तेओए (स्कंदिलाचार्ये) मथुरामां वाचना आपी हती. वळी ते पट्टावलीमां पू. देववाचक गणिए हिमवदाचार्यनी २ श्लोकवडे (३८–३९) पछी नागार्जुनाचार्यनी ३ श्लोकवडे (४० थी ४२) पछी भूतदिन्नाचार्यनी ३ श्लोक वडे (४३–४४–४५) तेमज दुष्यगणिनी ३ श्लोक वडे (४७–४८–४९) स्तवना करेली छे. ज्यारे सर्व महापुरुषोनी स्तवना क्यांक श्लोकार्धथी तो क्यांक आखा श्लोकवडे करेली छे. ते विद्वानोए लक्ष्यमां लेवा जेवी वात छे. पट्टावलिना अंतिम श्लोकमां तेओए नमस्कार द्वारा सर्व श्रुतधरोनो संग्रह कर्यो छे. "जे अन्ने भगवंते कालिअसुयअणुओगिए धीरे" जे अन्य कालिक–श्रुत–आनुयोगिक धीर पुरुषो छे, तेओने मस्तकवडे [illegible] करीने हुं प्ररूपणा करीश."

वळी तेओए दुष्यगणिने आपेलां विशेपणो अन्यने अपायेलां विशेषणोथी घणां ज विलक्षण छे. जेमकेः—

[१] 'पयईइ महुरवाणिं' प्रकृतिथी मधुरवाणीवाला. [२] 'सुकुमालकोमलतले' सुकुमाल अने कोमल तलवाळा. अहिं आ विशेपणोथी चूर्णिकारनुं कथन हशे के 'गुरवोत्ति काउं बहुवयणं' अर्थात् दुष्यगणि (तेमना) देववाचक गणिना गुरु छे. माटे बहुवचननो प्रयोग कर्यो छे.

[६] अहीं जैन शासननी विशिष्ट परंपरा अनुसार अधिकारीओनो विचार १३-१४ दृष्टांत आपी स्पष्ट करेल छे. अने ते बाद (१) समजु (२) अणसमजु अने (३) दुर्विदग्ध एम त्रण प्रकारे पर्षदाना पण भेद बताव्या छे. ज्ञाननी प्ररूपणानी प्रतिज्ञानी पछी अने ज्ञानना निरूपण पहेलां अधिकारीओनो विचार खूब मननीय छे. 'पण्णत्तं' ए मूळसूत्रमां रहेला शब्दना करेला घणा अर्थोमां एक अर्थ 'अहवा पण्णा —बुद्धी पहाण-पण्णेण अवाप्तं, पण्णत्तं सम्मद्दिट्ठिणा लब्धमित्यर्थः' (पृ. २० पं. ५) तेना अनुसार अहीं सम्यगदृष्टिना ज्ञाननुं विवेचन छे, तेम जणाय छे. अहीं क्रम सर्व शास्त्रना जेवो छे. ते क्रम शा माटे आवी रीते राखवामां आव्यो छे, तेनो चूर्णिकार तेमज टीकाकारे खुलासो आप्यो छे. [१] मति अने श्रुतज्ञानमां स्वामि—काल—कारण—विपय अने परोक्षत्वनुं साधर्म्य छे. [२] मति श्रुत अने अवधिज्ञानमां—काल—विपर्यय—स्वामि अने लाभनुं साधर्म्य छे. [३] अवधि अने मनःपर्यवज्ञानमां छद्मस्थ-विपय-भाव-प्रत्यक्षत्व अने स्वामिरूप साधर्म्य छे. [४] मनःपर्यव अने केवलज्ञानमां—अप्रमत्तस्वामित्व अने विपर्ययाभावरूप साधर्म्य छे.

आथी जो कोइ अहीं बधा ज ज्ञाननो अधिकार छे. तेम कहे तो पण अयोग्य छे. कारण के आ क्रम मात्र अहीं छे तेम नथी पण सर्वत्र छे. अने तेथी सर्वत्र आ क्रम माटे उपरोक्त कारण छे. वळी अहीं तो मुख्यपणे सम्यग्दृष्टिना ज्ञाननो अधिकार छे तेम कहे तो पण अयोग्य छे. कारण के आ क्रम मात्र अहीं ज छे. पण प्रसंगथी श्रुतादिना भेदथी अज्ञाननुं विवेचन छे. एटले ज अवधिज्ञाननुं वर्णन छे. पण विभंगज्ञाननुं नथी. वळी जो एम कहेवामां आवे के विभंग अने अवधिमां मात्र स्वामिनो ज भेद छे. बाकी कशो भेद नथी तो ते केवळ अज्ञानविलसित छे. कारण के अहीं जे भेद दर्शाववामां आव्यो छे, तेमांना केटलाक भेद अवधिज्ञानीने ज होय, विभंगज्ञानीने कदी न होय माटे मुख्यत्वे तेनो अधिकार छे.

[७] [A] अहीं ज्ञानना प्रत्यक्ष अने परोक्ष भेद करी ज्ञानना पांच प्रकारोने तेमां ज समावी लेवामां आव्या छे.

[B] प्रत्यक्षना बे प्रकार इन्द्रियप्रत्यक्ष अने नोइन्द्रियप्रत्यक्ष जणावी इन्द्रियप्रत्यक्षना पांच भेद बतावबामां आव्या छे. केटलाक समन्वयप्रेमीओ आ प्रकारनी रचना जोइने बोली काढे छे के "जैनेतर बधा दर्शनो इन्द्रियजन्यज्ञानने परोक्ष नहीं पण प्रत्यक्ष माने छे. आ लौकिक मतनो समन्वय करवो नंदीसूत्रकारने अभिप्रेत हतो" एमनो आ आशय कया आधारे हतो ते तो तेओए जणाववुं जोइए ने ? वळी आ प्रमाणे कहेनारने एक प्रश्ननो जवाब आपवो जरूरी छे के अन्य लोको मनथी थता ज्ञानने प्रत्यक्ष कहे छे तो शु अहीं ते भेद नंदीसूत्रकारे जणाव्यो छे ?

जो ए भेद दर्शाव्यो नथी तो समन्वय थयो केवी रीते ? पण अहीं धृष्ट हृदयवाळा एम कहेवानी पण हिंमत करे तेवा छे के ते समन्वय करवामां नंदीसूत्रकारनी खामी रहेली छे. तेवा अहंमानी 'धूर्त' पंडितोने जवाब अने युक्ति आपवानो कशो ज हेतु नथी. छतां पण बुद्धिने ठेकाणे राखीने जोवुं होय तो विचारे के ज्यां आ ज्ञानने प्रत्यक्ष कह्युं छे त्यां कयी इन्द्रियनो संग्रह शरू थइ शके ? द्रव्येन्द्रियनो के भावेन्द्रियनो ? जो द्रव्येन्द्रियने प्रमाण मानवामां आवे छे तो तमे कया प्रमाणथी जाण्युं ? मूळकारनो तेवो अभिप्राय छे, ए जाणवा माटे कोइ प्रामाणिक साधन तमारी पासे छे ज नहीं. एटलुं ज नहीं पण जैनशासननो कोइ पण न्यायग्रन्थ तमारी वातनुं समर्थन करतो नथी. अने जे प्रमाणथी (टीका चूर्णि तेमज परंपराद्वारा) मूळकारनो अभिप्राय प्राप्त छे. तेनाथी तो स्पष्ट ज छे के " सावरणाखओवसमातो लद्धी तं भाविंदियं तस्स पच्चक्खं ति इंदियपच्चक्खं तं पंचविहं......" नंदीचूर्णिकार पोताना आवरणना क्षयोपशमथी जे लब्धि छे ते भावेन्द्रिय, तेनुं प्रत्यक्ष ते इन्द्रियप्रत्यक्ष, ते पांच प्रकारे छे" वळी आगळ जइने जणावे छे के ' भाविंदियोवचारपच्चक्खओ अ तं पच्चक्खं, परमत्थओ पुण चिंतमाणं एतं परोक्खं" भावेन्द्रिय-उपचार-प्रत्यक्षत्वथी आ प्रत्यक्ष छे. परमार्थथी तो परोक्ष छे" वळी तत्त्वार्थमां सिद्धसेनगणि पण जणावे छे के (पृ. १६८) ' तस्माल्लब्ध्यादयः चत्वारः समुदिताः शब्दादिविषयपरिच्छेदमापादयन्त इन्द्रियताव्यपदेशम् अश्नुवते '

अर्थात् निवृत्ति, उपकरण, लब्धि अने उपयोग, चारे मळीने शब्दादि विषयनुं ज्ञान करती इन्द्रियना व्यपदेशने पामे छे. माटे अहीं भावेन्द्रियनुं ग्रहण करवाथी आत्मानुं ग्रहण थयुं अने तेथी तो तमारे इष्ट एवो समन्वय थयो ज नहीं. कारण के समन्वय जेमने इष्ट छे तेमने तो द्रव्येन्द्रियने प्रमाणरूपे स्वीकारवी पडे तेम नथी तो कयी रीते तमारो समन्वय सधायो ते विचारो.

वळी वधारे धृष्टतापूर्वक पूछवामां आवे के इन्द्रियप्रत्यक्षने सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष एवुं शा माटे कह्युं ? तेनुं प्रयोजन मात्र समन्वय ज हतुं ? आम कहेनारने केवी रीते समजाववुं के आ तो नयवादनी एक विशिष्ट प्ररूपणा छे अने ते विशिष्ट अपेक्षाथी बधां ज ज्ञान प्रत्यक्ष छे कोइ ज्ञान परोक्ष नथी. पू. सिद्धसेन दिवाकर सू म. सर्व ज्ञानने प्रत्यक्ष कहे छे. 'एकं प्रमाणम् अर्थैक्यात्, ऐक्यम् एतल्लक्षणैक्यतः' अने पछी सिद्धसेनगणि पण ते श्लोकनी अवतरणिकामां 'विशुद्धशब्दनयाभिप्रायेण एकमेव प्रत्यक्षं प्रमाणम्' एम कहे छे. वळी इन्द्रियोने पारमार्थिक प्रत्यक्ष माननारना मते तो आंखथी पदार्थज्ञानमां अंधकारमां दीपक अथवा दिवसना आलोकने कारण मानवामां आवे छे. पण दीपक अने आलोकने प्रमाण नथी मानता. तेम ज्ञान करनार आत्माने इन्द्रियो साधनरूप छे तेथी तेने प्रमाण केवी रीते कहेवाय ? तत्त्वतः इन्द्रियो प्रमाण बनी शके नहीं. कोइ कहे के इन्द्रियो साक्षात् उपलंभक छे तो ते वात टकी शकती नथी. कारण के इन्द्रियोनो नाश थया पछी पण पदार्थनुं स्मरण थाय छे. ते इन्द्रिय साक्षात् उपलंभक

जो ए भेद दर्शाव्यो नथी तो समन्वय थयो केवी रीते ? पण अहीं धृष्ट हृदयवाळा एम कहेवानी पण हिंमत करे तेवा छे के ते समन्वय करवामां नंदीसूत्रकारनी खामी रहेली छे. तेवा अहंमानी 'धूर्त' पंडितोने जवाब अने युक्ति आपवानो कशो ज हेतु नथी. छतां पण बुद्धिने ठेकाणे राखीने जोवुं होय तो विचारे के ज्यां आ ज्ञानने प्रत्यक्ष कह्युं छे त्यां कयी इन्द्रियनो संग्रह शरू थइ शके ? द्रव्येन्द्रियनो के भावेन्द्रियनो ? जो द्रव्येन्द्रियने प्रमाण मानवामां आवे छे तो तमे कया प्रमाणथी जाण्युं ? मूळकारनो तेवो अभिप्राय छे, ए जाणवा माटे कोइ प्रामाणिक साधन तमारी पासे छे ज नहीं. एटलुं ज नहीं पण जैनशासननो कोइ पण न्यायग्रन्थ तमारी वातनुं समर्थन करतो नथी. अने जे प्रमाणथी (टीका चूर्णि तेमज परंपराद्वारा) मूळकारनो अभिप्राय प्राप्त छे. तेनाथी तो स्पष्ट ज छे के " सावरणाखओवसमातो लद्धी तं भाविंदियं तस्स पच्चक्खं ति इंदियपच्चक्खं तं पंचविहं......" नंदीचूर्णिकार पोताना आवरणना क्षयोपशमथी जे लब्धि छे ते भावेन्द्रिय, तेनुं प्रत्यक्ष ते इन्द्रियप्रत्यक्ष, ते पांच प्रकारे छे" वळी आगळ जइने जणावे छे के ' भाविंदियोवचारपच्चक्खओ अ तं पच्चक्खं, परमत्थओ पुण चिंतमाणं एतं परोक्खं " भावेन्द्रिय-उपचार-प्रत्यक्षत्वथी आ प्रत्यक्ष छे. परमार्थथी तो परोक्ष छे" वळी तत्त्वार्थमां सिद्धसेनगणि पण जणावे छे के (पृ. १६८) ' तस्माल्लब्ध्यादयः चत्वारः समुदिताः शब्दादिविषयपरिच्छेदमापादयन्त इन्द्रियताव्यपदेशम् अश्नुवते '

अर्थात् निवृत्ति, उपकरण, लब्धि अने उपयोग, चारे मळीने शब्दादि विषयनुं ज्ञान करती इन्द्रियना व्यपदेशने पामे छे. माटे अहीं भावेन्द्रियनुं ग्रहण करवाथी आत्मानुं ग्रहण थयुं अने तेथी तो तमारे इष्ट एवो समन्वय थयो ज नहीं. कारण के समन्वय जेमने इष्ट छे तेमने तो द्रव्येन्द्रियने प्रमाणरूपे स्वीकारवी पडे तेम नथी तो कयी रीते तमारो समन्वय सधायो ते विचारो.

वळी वधारे धृष्टतापूर्वक पूछवामां आवे के इन्द्रियप्रत्यक्षने सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष एवुं शा माटे कह्युं ? तेनुं प्रयोजन मात्र समन्वय ज हतुं ? आम कहेनारने केवी रीते समजाववुं के आ तो नयवादनी एक विशिष्ट प्ररूपणा छे अने ते विशिष्ट अपेक्षाथी बधां ज ज्ञान प्रत्यक्ष छे कोई ज्ञान परोक्ष नथी. पू. सिद्धसेन दिवाकर सू. म. सर्व ज्ञानने प्रत्यक्ष कहे छे. 'एकं प्रमाणम् अर्थैक्यात्, ऐक्यम् एतल्लक्षणैक्यतः' अने पछी सिद्धसेनगणि पण ते श्लोकनी अवतरणिकामां 'विशुद्धज्ञानदर्शनाभिप्रायेण एकमेव प्रत्यक्ष प्रमाणम्' एम कहे छे. वळी इन्द्रियोने पारमार्थिक प्रत्यक्ष माननारना मते तो आत्मनी पदार्थज्ञानमां अंभ-कारणमां दीपक अथवा दिवसना आलोकने कारण मानवामां आवे छे. पण दीपक अने आलोकने प्रमाण नथी मानता. तेम ज्ञान करनार आत्माने इन्द्रियो साधनरूप छे तेथी तेने प्रमाण केवी रीते कहेवाय ? तत्त्वतः इन्द्रियो प्रमाण बनी शके नहीं. कोई कहे के इन्द्रियो साक्षात् उपकारक छे तो ते वात पण शकती नथी. कारण के इन्द्रियोनो नाश थया पछी पण पदार्थनुं स्मरण थाय छे. तो इन्द्रिय साक्षात् उपकारक

होय तो बनी शके नहीं. साक्षात् ज्ञान करनार तो रह्यो नहीं तो पछी स्मरण केवी रीते थाय ?

घरनी बारीमांथी जोनार मनुष्य बारी तूटी गया पछी त्यां नूतन बारी मुक्या पछी पण ए बारी द्वारा अनुभूत पदार्थनुं स्मरण सारी रीते करी शके छे. पण (मनुष्य विना) बारी पदार्थनुं स्मरण करी शके ज नहीं. ज्ञान गुण ए आत्मानो गुण छे. अने इन्द्रियो बारीनी जेम साधन छे. पण प्रमाणरूप नथी. इन्द्रियज्ञाननो मति अने श्रुतमां अंतर्भाव करवामां आवेलो छे. एटले मति अने श्रुत ए परोक्ष छे. ज्यारे अवधि आदि प्रत्यक्ष छे. जे ज्ञानमां आत्माने इन्द्रिय आदि साधनोनी मदद लेवी पडे नहीं, ते ज्ञानने प्रत्यक्ष कहेवामां आवे छे. अर्थात् सीधो आत्मा ज ज्ञान करे तेवा ज्ञानने प्रत्यक्ष कहेवामां आवे छे अने जेमां इन्द्रिय आदिनी मदद लेवी पडे तेने परोक्ष कहेवामां आवे छे. अहीं अक्ष एटले आत्मा लेवानो छे. तेथी चक्षु आदि इन्द्रियो प्रमाण बनी शके नहीं. छेवटना सर्व दर्शनकारोने ज्ञान करनार आत्मा ज छे एम तो मानवुं ज पडे छे. आंख खेंच्या पछी पण चक्षु द्वारा मेळवेल ज्ञाननुं स्मरण करनार आत्मा छे. माटे तेनो अनुभविता आत्मा ज छे. इन्द्रियोनो सन्निकर्षादि आलोक आदिनी माफक साधन छे. आथी तेने प्रमाण कहेवाय नहीं. आ ज वस्तुनुं न्यायनी दृष्टिए विशद वर्णन विशेषावश्यकनी स्वोपज्ञ टीकामां तेमज पू. मलधारी हेमचन्द्र महाराजनी ते परनी टीकामां छे. ते वधु जाणवानी इच्छावाळाए त्यां जोइ लेवुं.

वळी एम पण दलील करवी सर्वथा अयोग्य छे के तेओए पण 'इन्द्रियमणोभवं जं तं संववहारं पच्चक्खं' (गाथा ९५ पृ. २४) इन्द्रिय अने मनथी थता ज्ञानने संव्यवहार प्रत्यक्ष तो कह्युं छे माटे तेमणे समन्वय करवा माटे ज आम कह्युं ते पण योग्य नथी. कारण के ते समन्वय करवा माटे नथी पण व्यवहारनयनी प्ररूपणा छे. तेथी ज पू. जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण तेमज नंदीचूर्णिकार जणावे छे के, "तेषामपि च 'तं' संव्यवहारत एव तत् प्रत्यक्षम् न परमार्थतः' अने इन्द्रियोनुं पण ते संव्यवहारथी (व्यवहारनयथी प्रत्यक्ष छे), परमार्थथी नथी' 'परमत्थओ पुण चिंतमाणं एतं परोक्खं'' परमार्थथी विचारतां ए परोक्ष ज छे. वळी आगळ वधीने एम ज कहेवा जाय छे के व्यवहार अने निश्चयनयनी योजना पण समन्वय माटे ज छे तो कहेवुं जरूरी छे के नयवादने ज केवल समन्वयवाद कहेनार अने समजनारना ज्ञानने धन्यवाद घटे छे.

अहीं वाचकोने इन्द्रियने प्रत्यक्ष प्रमाण माननारानी मान्यता केवी छे, अने ते क्यां सुधी योग्य छे तेनो ख्याल आपवा माटे थोडोक विचार करवामां आवे छे. तेओनुं लक्षण छे के 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' ते प्रमाना प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अने शब्द तेवा चार भेद छे. तेमांथी इन्द्रिय अने मनथी थता ज्ञानने तेओ प्रत्यक्ष प्रमा कहे छे, अने तेनुं कारण होवाथी इन्द्रियोने पण तेओ प्रत्यक्षप्रमाण कहे छे. आ व्यवस्था द्वारा 'जड'ने पण प्रमाण मानी लीधुं. जो के अनुमानादि प्रमामां ते ज्ञान ज प्रमाण छे.

त्यारे प्रत्यक्ष माटे ज्ञानथी पृथक् इन्द्रियोने तेमने कारण मानवी पडी. तेथी जैनदर्शनकारनी माफक तेमना मते सामान्यनुं कोइ एक कारण रह्युं नथी. ते खामीनुं द्योतक छे. वळी जेम इन्द्रियो कारण बने छे तेम संनिकर्षादि पण कारण बनी ज जाय छे. कारण के संनिकर्षथी निर्विकल्पज्ञान अने ते द्वारा सविकल्पज्ञान थाय छे. तेथी ते संनिकर्ष पण कारण छे. अर्थात् ते पण प्रमाण बनी गयो. आ मतमां इन्द्रिय प्रत्यक्ष मात्र प्रति पण कोइ अनुगत करण नथी पण व्यवस्थानी खामी छे. वळी परतः प्रामाण्यवादीना मते ज्ञान पण कारण बनी जशे त्यारे एक ज्ञानने ज प्रमाण मानवुं ते इष्ट छे, अने ते ज जैनशास्त्रकारोए 'स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्' कहीने स्वीकार्युं छे. तेथी सर्वत्र ज्ञानने ज प्रमाणरूप मानवाथी आवी अव्यवस्थानो संभव थशे नहिं. आम स्पष्ट प्रतिवाद होवा छतां पण समन्वय समन्वयनी वातो करी मात्र एक ज बाजुने बहार पाडनार पंडितोनी शास्त्रावगाहिताने केवा स्वरूपमां बिरुदाववी ?

[७] [C] अहीं'नो' (शब्दनो) अर्थ सर्व प्रतिषेधमां छे. जेथी चारे प्रकारनी इन्द्रियो तेम ज बन्ने प्रकारना मननो निषेध थाय छे. टीकाकार जणावे छे के 'इन्द्रियप्रत्यक्षं न भवति इति नोइन्द्रियप्रत्यक्षम्' 'नो' शब्द प्रतिषेधक छे. जो के अहीं इन्द्रिय प्रत्यक्षना पांच भेद गणवामां आव्या छे. तेमां मनने तो गणाव्युं नथी. तेथी मनथी थता ज्ञाननो समावेश न थयो माटे अहीं पण ते नंदीसूत्रकारने समन्वय ज इष्ट हतो तेम कहेनारने पू. जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणना मतनो पण तेनाथी केवी रीते समावेश थाय छे ते बतावे छे, अने

(१) 'नो' अनिन्द्रियज्ञान के जे आत्माने प्रत्यक्ष छे. तेना त्रण विभाग (१) अवधिज्ञान (२) मनःपर्यवज्ञान (३) केवलज्ञान छे. टी. पृ. २५। "आह – न सूत्रे विशिष्याभिहितं परोक्ष' मनोऽभिमतम् इति । उच्यते तत् प्रत्यक्षमपि नैवोक्तम्, आह—ननूक्तम्– 'इन्दियपच्चक्खं च नोइन्दियपच्चक्खं च [नंदी०] इति । नोइन्द्रियं च मन इति, उच्यते – न, सर्वनिषेधमात्रवचनत्वान्नोशब्दस्य । कथम्, अवध्यादिविशेषणात् । अवध्यादित्रयस्य च मनोनिमित्तत्वप्रसङ्गात्, ततः च मनःपर्याप्तिलब्धिशून्यस्यावधिज्ञानोपयोगाभावः स्यात्, अनिष्टं चैतत्, यस्मादुक्तम्– 'चुतेमित्ति जाणति' सिद्धस्य चाज्ञानित्वप्रसङ्गः, अमनस्कत्वात् ।" (विशेषावश्यकभाष्य–स्वोपज्ञटीका)

"अवधिज्ञान"

[८] प्रथम अवधिज्ञानना भवप्रत्यय अने क्षायोपशमिक तेवा बे भेद बताववामां आव्या छे. तेमांनुं प्रथम अवधिज्ञान नारक तेमज देवोने होय छे, अने बीजो भेद मनुष्य तेमज तिर्यंचने होय छे अहीं चूर्णिकारो तेमज टीकाकारो खुलासो आपे छे के बन्ने ज्ञानमां क्षयोपशम तो कारण छे ज, पण देव अने नरकने ते भव पामतां निश्चित अवधिज्ञान थाय छे माटे मूळकारे आवा बे भेद पाड्या छे. त्यारबाद मूळमां ते ज्ञान तदावरणीय कर्म (अवधिज्ञान तेम अवधिदर्शनना) आवरणना क्षयोपशमथी थाय छे, ते जणावे छे. आगळ ते सूत्रमां "अहवा गुणपडिवण्णस्स अणगारस्स ओहिणाणं समुप्पज्जति' तेम जणावेल छे तेनो अर्थ शुं करवो? ते ते विषयना श्रद्धालु विद्वानोए विचार करवा योग्य छे. आगळ अवधिज्ञानना प्रकारान्तरे छ भेद पाडे छे.

[१] आनुगामिक [२] अनानुगामिक [३] वर्धमान [४] हीयमान [५] प्रतिपाति [६] अप्रतिपाति.

आनुगामिकनो अर्थ पाछळ जनार छे. आ ज्ञान जे प्राणीने उत्पन्न थाय छे तेने सदैव तेनी साथे रहेनारु होय छे. तेथी आनुगामिक अवधिज्ञान कहेवाय छे. तेमां पू. हरिभद्र सू. म. लोचननुं दृष्टांत आपे छे. पछी ते ज अवधिज्ञानना बे भेद पाडया छे. [१] अंतगत अने [२] मध्यगत. तेमांना प्रथमनो परिचय आपतां जणावे छे के, [१] अहीं सकल जीवमां उपयोग होवा छतां पण साक्षात् आत्माना एक देशथी (छेडाथी) वस्तुनुं ग्रहण थतु होवाथी आत्मा आत्मप्रदेशान्तगन्त छे. [२] अथवा औदारिक शरीरनी अपेक्षाए एक देशथी [छेडेथी] वस्तुनु ग्रहण थतु होवाथी औदारिकशरीरान्तगत छे. [३] अथवा ते अवधिज्ञानी यथोक्त प्रकाशित क्षेत्रना अंतमां रहेल होवाथी क्षेत्रान्तगत अवधि छे. अर्थात् आत्मप्रदेशान्तगत, औदारिकशरीरान्तगत तेमज क्षेत्रान्तगत एम त्रण अर्थ अन्तगतथी समजवा. तेवी ज रीते मध्यगतना पण त्रण अर्थ समजवा. [१] आत्मप्रदेशमध्यगत [२] औदारिकशरीरमध्यगत [३] अने तेना प्रकाशित क्षेत्रना मध्यमां (ते व्यक्ति) रहेली होवाथी प्रकाशित-क्षेत्रमध्यगत. त्यारबाद आनुगामिक अंतगत अवधिज्ञानना त्रण भेद दृष्टांत सहित बताव्या छे.

[१] पुरतः अंतगत [२] मार्गतः अंतगत [३] पार्श्वतः अंतगत

[१] तेमांनु प्रथम दृष्टांत आपे छे के जेम चुडलिकादि प्रकाश आपती वस्तुने आगळ लइने चालतो मनुष्य आगळनो प्रदेश जोइ शके छे तेम आ अवधिज्ञानवाळो मनुष्य आगळना प्रदेश (क्षेत्रने) जाणी शके छे.

[२] तेवी ज रीते बीजो अवधिज्ञानी पाछळ चुडलिकादिने लइने चालता मनुष्य जेवो छे.

[३] अने त्रीजो अंतगत अवधिनो भेद बाजुमां चुडलिकादिने लइने चालता मनुष्य जेवो छे

ज्यारे मध्यगत (आनुगामिक) अवधिज्ञानवाळो प्रदीपादिनी सामग्रीने मस्तक उपर लइने चालता मनुष्य जेवो छे. जेथी तेओना ज्ञानना क्षेत्रमां पण तेवो ज फेर पडे छे. ते आगळना सूत्र द्वारा जणावे छे. पुरतः अंतगत, मार्गतः अंतगत, पार्श्वतः अंतगत अने मध्यगत अनुक्रमे आगळ रहेला, पाछळ रहेला, बाजुमां रहेला तेमज चारे बाजुना, संख्यात के असंख्यात योजनने जाणी शके छे. अहीं 'जाणइ पासइ' प्रयोग नोंधवा योग्य छे. आम आनुगामिक अवधिज्ञाननुं वर्णन पूर्ण करे छे. त्यारबाद बीजो भेद अनानुगामिक छे. तेनो परिचय आपे छे. जेम सांकळे बांधेलो दीवो ज्यां रहेतो होय त्यां ज प्रकाश आपे छे, तेम आ अवधिज्ञानीने जे क्षेत्रमां अवधिज्ञान उत्पन्न थयेलुं होय, त्यां आवे त्यारे ज तेने तेटला क्षेत्रनुं (क्षेत्रमां रहेला पदार्थोनुं) ज्ञान थाय छे.

अहिं आपेल औदारिकशब्द पण एम सूचवतो मालुम पडे छे के आ भेद औदारिकशरीरवाळाने लागु पडे छे. अन्यत्र जाय तो ते अवधिज्ञानथी ज्ञान थाय नहीं. माटे ज तेने अनानुगामिक अर्थात् पाछळ नहीं जनारुं कहेवामां आव्युं छे. तेमां हेतु आपता पू. हरिभद्रसूरीश्वरजी म. जणावे छे के 'तदावरणक्षयोपशमस्य तत्क्षेत्रसंबन्धसापेक्षत्वात्' अर्थात् तेनो (अवधिज्ञान–अवधिदर्शनावरणनो) क्षयोपशम ते क्षेत्र साथे सापेक्ष होवाथी आम बने छे. [३] ते पछी वर्धमान अवधिज्ञाननुं वर्णन छे.

तेना प्रथम सूत्रना विवेचनमां पू. हरिभद्र सू. म. जणावे छे के 'ते वर्धमान अवधि प्रशस्त अध्यवसायस्थानोमां वर्तता (अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि) तेमज वर्धमान चारित्रवाळा (अर्थात् देशविरत सर्वविरत) जे विशुद्ध भावमां अने विशुद्ध चारित्रमां वर्तता होय छे; तेमने सर्व रीते चारे बाजुथी अवधि वधे छे. ज्यारे चूर्णिकार 'पसत्थ-अज्झवसाणातो य चरणाऽऽदिविशुद्धितो य चरणपच्चयलद्धीए वड्ढी भवति' अर्थात् प्रशस्त अध्यवसायथी चरणात्मक-विशुद्धि थाय छे. तेनाथी चरणप्रत्ययिक आत्मलब्धिनी वृद्धि थाय छे. आम तेओने चरणप्रत्ययिक लब्धिनी वृद्धि थाय छे तेम जणावे छे. आना समाधानमां एम जणाववानुं मन थाय छे के चूर्णिकारनुं कथन लोकावधि तेमज परमावधि माटे होय. जेना अधिकारी श्रावक होइ शके नहीं. ज्यारे पू. हरिभद्रसूरिमहाराजे आ बे साथे अन्य वर्धमान अवधिनो पण समावेश थाय ते माटे आम जणाव्युं हशे एम संभवे छे. तेथी एटलुं ज नकी थाय के पंचम गुणस्थानके लोकावधि तेमज परमावधि न होय. त्यारबाद निर्युक्तिनी गाथाओ मूकवामां आवी छे. जेमां अवधिनुं जघन्य मध्यम अने उत्कृष्ट क्षेत्र बताव्युं छे. ते आ प्रमाणे समजवुं.

ज्यारे १००० योजनना देहमानवाळो मत्स्य पोताना शरीरमांथी नीकळीने क्रमे करीने पोताना आत्मप्रदेशने संकोचतो पोताना ज शरीरनी बहारना एक देशमां सूक्ष्मपनक (निगोद)रूपे पेदा थाय छे. त्यारे तेमां उत्पन्न थवानी अपेक्षाए त्रीजा समयमां एनी जेटली अवगाहना होय तेटला प्रमाणनुं अवधिज्ञाननुं जघन्य क्षेत्र जाणवुं.

[१] अहीं पू. हरिभद्रसूरि महाराजे 'वर्तमान' एवो अर्थ करेल छे, अने तेओए 'वड्ढमाण' एवो पाठ स्वीकार्यो छे.

त्यारबाद उत्कृष्ट क्षेत्र माटे जणावे छे के असंख्यात लोकाकाश जेटला खंडो अलोकमां पण जाणवानुं तेनुं सामर्थ्य छे. त्यारबाद अवधिना मध्यम क्षेत्रो बतावतां काळ अने क्षेत्रनो केवो संबंध छे ते दर्शावेल छे. अर्थात् केटला क्षेत्रनुं अवधि होय तेने केटला कालनुं अवधि होय ते नीचे प्रमाणे छेः—

क्षेत्र	काल
[१] १अंगुलनो असंख्यातमो भाग	[१] २आवलिकानो असंख्यातमो भाग
[२] अंगुलनो संख्यातमो भाग	[२] आवलिकानो संख्यातमो भाग
[३] एक अंगुल प्रमाण क्षेत्र	[३] कंइक न्यून एवी आवलिका
[४] ३अंगुलपृथकृत्व	[४] पूर्ण आवलिका
[५] हस्तमात्र	[५] अंतर्मुहूर्त्त
[६] १ गव्यूत (गाउ)	[६] किंचित् न्यून दिवस
[७] १ योजन	[७] दिवसपृथकृत्व (२ थी ९ दिवस)
[८] २५ योजन	[८] कांइक न्यून पक्ष (परववाडीयुं)

१ अहीं जे क्षेत्रनुं माप बताव्युं छे तेटला क्षेत्रमां रहेला पदार्थोने जाणे अने जुए एम समजवुं. २ अहिं जे कालनुं माप बताव्युं छे तेटला भूतकालमां थयेला पदार्थना पर्यायो अने भविष्यमां थनारा पर्यायो जाणे अने जुए एम समजवुं. ३. बेथी नव आंगळनी संख्या.

[९] सकल भरतक्षेत्रप्रमाण	[९] अर्धमास पूर्ण
[१०] जंबूद्वीपप्रमाण (१ लाख योजन)	[१०] साधिक मास
[११] मनुष्यलोकप्रमाण	[११] १ वर्ष
[१२] रुचकवरद्वीपप्रमाण	[१२] वर्षपृथक्त्व
[१३] संख्यातद्वीपसमुद्रप्रमाण	[१३] संख्यात वर्ष (१००० वर्षथी वधु)
[१४] असंख्यात द्वीपसमुद्र	[१४] असंख्यातकाल (पल्योपमादि)

आखरे तेमनो नियम दर्शावतां जणावे छे के 'कालनी वृद्धि थतां द्रव्य, क्षेत्र, काल अने भाव चारे वधे. क्षेत्रनी वृद्धि थतां द्रव्य भाव तो अवश्य वधे पण कालनी भजना अर्थात् वधे पण खरो अने न पण वधे. आम थवानुं कारण जणावतां टीकाकार खुलासो आपे छे के क्षेत्र करतां द्रव्य सूक्ष्म छे, अने द्रव्य करतां पर्याय सूक्ष्म छे.

[४] हीयमान अवधिज्ञानः— जेम शुभ अध्यवसायोवडे अवधिज्ञान वधे छे. तेम अप्रशस्त अध्यवसायस्थानोमां वर्तता (अविरत सम्यग्दृष्टि) तेमज वर्तमानचारित्रवाळा (देशविरति आदि) ते संक्लेशवाळा होय अथवा जे संक्लिष्ट चारित्रवाळा होय छे, तेमनुं अवधिज्ञान चारे बाजुथी घटे छे.

[५] प्रतिपाति अवधिज्ञानः— प्राप्त थयेलुं जे अवधिज्ञान एकाएक दीपकना बुझावानी जेम नाश पामे छे,

ते प्रतिपाति अवधिज्ञान समजवु. समग्र लोकने पण जाणीने अवधिज्ञान चाल्युं जाय तेम पण बने. कारण के प्रतिपातिनो उत्कृष्ट विपय समग्र लोक छे.

[६] अप्रतिप्राति-अवधिज्ञानः— लोकावधि करतां जरा पण आगळ वधे अर्थात् अलोकाकाशना एक प्रदेशने जोवानुं सामर्थ्य जेमां होय ते अवधिज्ञान अप्रतिपाति समजवु. आम छ भेदनुं वर्णन समाप्त थयुं. हवे द्रव्यादि विपयना भेदथी अवधिज्ञाननो भेद जणावे छे. अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काळ तथा भावनो जघन्य अने उत्कृष्टथी केटलो विपय होय ते जणावे छे.

जघन्य	उत्कृष्ट
[१] द्रव्यः— अनन्त रूपी द्रव्य	[१] सर्व रूपी द्रव्य
[२] क्षेत्रः— अंगुलनो असंख्यातमो भाग	[२] अलोकमां पण लोकप्रमाण असंख्यात खंडो
[३] कालः— आवलिकानो असंख्यातमो भाग	[३] असंख्यात उत्सर्पिणी—अवसर्पिणी
[४] भावः— अनन्त भाव	[४] अनन्त भाव (सर्व भावोनो अनन्तमो भाग)

पण आ अनन्त भाव जघन्यथी जे अनन्त भाव छे तेना करतां अनन्तगुणा समजवा. ते पछी एक संग्रहगाथा छे. जेमां देव, नरक अने तीर्थंकर भगवंतो अवश्य अवधिज्ञानवाळा होय छे. ज्यारे बीजाओ माटे तेवो नियम नथी ते जणावेल छे. ते गाथा चूर्णिकारे लीधेली नथी. आम विविध भेदपूर्वक अवधिज्ञाननुं निरूपण पूर्ण करे छे.

मनःपर्यवज्ञानंनुं स्वरूप

प्रथम मनःपर्यवज्ञान मनुष्यगतिमांज उत्पन्न थाय छे. तेमां पण केटली केटली योग्यतावाळाओने उत्पन्न थाय छे, ते योग्यताओनुं वर्णन करेल छे. तेना बे भेद छे. ऋजुमति अने विपुलमति. चिन्तनमां रहेला द्रव्यना पर्यायोमांथी केटलाक पर्यायने जाणनार ऋजुमतिज्ञान छे. चिन्तनमां रहेला द्रव्यना घणा पर्यायोने जाणनार विपुलमति ज्ञान छे. तेनो द्रव्य क्षेत्र, काळ अने भावनी अपेक्षाए चार प्रकारे विषय बतावेल छे.

ऋजुमतिनो विषय	विपुलमतिनो विषय
द्रव्यथीः— अनंता अनंतप्रदेशी स्कन्धो	ते ज स्कन्धो वधारे प्रमाणमां अने विशुद्ध रीते
क्षेत्रथीः- जघन्यथी—अंगुलनो असंख्यातमो भाग उत्कृष्टथीः— अधोदिशामां—रत्नप्रभाना क्षुल्लक प्रतर सुधी ऊर्ध्वदिशामांः— ज्योतिषीना उपरना तळीआ सुधी तिर्यग्दिशामांः— मनुष्य क्षेत्र सुधी	दरेक दिशामां अढी अंगुल अधिक अने निर्मळपणे
कालथीः— जघन्यथी पल्योपमनो असंख्यातमो भाग	ऋजुमति करतां वधारे अने निर्मळ

उत्कृष्टथीः- मोटो पल्योपमनो असंख्यातमो भाग	ऋजुमति करतां वधारे अने निर्मळ
भावथीः- अनन्ता भाव	विशेष अनन्ता भाव

केवळज्ञाननुं स्वरूप

जुदी जुदी अपेक्षाए केवळज्ञानना अनेक भेदोनुं वर्णन कर्युं छे. जेम के १. भवस्थ केवळज्ञान २. सिद्ध केवळज्ञान. भवस्थ केवळज्ञानना बे भेद छे. १. सयोगिभवस्थ केवळज्ञान २. अयोगिभवस्थ केवळज्ञान. सयोगिभवस्थ केवळज्ञानना बे भेद छे. १. प्रथमसमय सयोगिभवस्थ केवळज्ञान २. अप्रथमसमय सयोगिभवस्थ केवळज्ञान अथवा १. चरमसमयसयोगिभवस्थ केवळज्ञान २. अचरमसमयसयोगिभवस्थ केवळज्ञान. एवी ज रीते अयोगिभवस्थ केवळज्ञानना पण भेदो पाड्या छे. सिद्ध केवळज्ञानना बे भेद छे. १. अनंतर सिद्धकेवळज्ञान २. परंपरसिद्धकेवळज्ञान. अनंतरसिद्ध केवळज्ञानना १. तीर्थसिद्ध २. अतीर्थसिद्ध विगेरे पंदर भेदो गणावेला छे.

परंपरसिद्ध केवलज्ञान अनेक प्रकारनुं छे. अप्रथमसमय, संख्यातसमयसिद्ध, असंख्यातसमयसिद्ध यावत्, अनन्तसमयसिद्ध. आम केवलज्ञानना भेदोनुं वर्णन करीने द्रव्यादि चार विषयोनी अपेक्षाए तेना भेदनुं वर्णन करे छे.

१. द्रव्य–सर्व द्रव्य २. क्षेत्र–सर्व क्षेत्र ३. काल–सर्वकाल ४. भाव–सर्वभावने जाणे अने जुए.

आम केवलज्ञाननुं वर्णन पूर्ण करतां ते ज्ञान अप्रतिपाति, शाश्वत अने एक प्रकारनुं छे तेम जणाव्युं छे.

[९] आभिनिबोधिकज्ञान (मतिज्ञान)–हवे आगळ निर्देश करेल परोक्षज्ञानना अहीं बे भेद पाडे छे. [१] आभिनिबोधिक

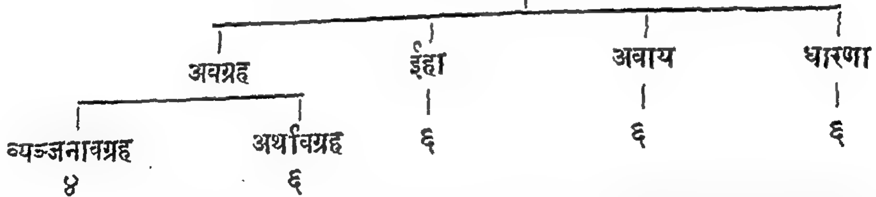
परोक्षज्ञान [२] श्रुत परोक्षज्ञान. त्यारबाद जणावे छे के ज्यां आभिनिबोधिकज्ञान छे त्यां श्रुतज्ञान छे अने ज्यां श्रुतज्ञान छे त्यां आभिनिबोधिक ज्ञान छे. आम अन्योन्यानुगत होवा छतां पण आचार्यो द्वारा प्ररूपायेल भेद व्युत्पत्ति द्वारा दर्शावे छे. त्यारबाद भेदने वधु स्पष्ट करतां कहे छे के श्रुतज्ञान मतिपूर्वक छे पण श्रुतपूर्वक मति नथी. अहीं वधु स्पष्टता करता टीकाकारो विशेषावश्यक भाष्य अनुसार ते वातने वधु स्पष्ट करे छे. त्यारबाद सम्यग्दृष्टिनी मति ते मतिज्ञान छे अने मिथ्यादृष्टिनी मति ते मतिअज्ञान छे. तेवी ज रीते सम्यग्दृष्टिनुं श्रुत ते श्रुतज्ञान छे, अने मिथ्यादृष्टिनुं श्रुत ते श्रुतअज्ञान छे तेम जणावे छे. आम ते बन्नेनुं कथन सामान्य आभिनिबोधिकपरोक्षज्ञानना बे भेद दर्शावे छे.

आभिनिबोधिक परोक्षज्ञान बे प्रकारे छेः—

१. श्रुतनिश्रित २. अश्रुतनिश्रित. तेमां द्वितीय भेदमां अल्प वक्तव्य होवाथी ते अश्रुतनिश्रितना भेद प्रथम बतावे छे. १. औत्पत्तिकी २. वैनियकी ३. कार्मिकी ४. पारिणामिकी. तेमां प्रथम औत्पातिकीमतिनुं लक्षण बतावी घणा रमुजी एवा २३ दृष्टांत आप्या छे. पछी वैनयिकी बुद्धिनुं लक्षण देखाडवापूर्वक १५ दृष्टान्त मूकवामां आव्या छे. ते पछी कार्मिकी बुद्धिनुं लक्षण १२ दृष्टांतपूर्वक निरूपण करवामां आव्युं छे. ते ज प्रमाणे अनेक ऐतिहासिक पुरुषोना दाखला सहित अने लक्षणपूर्वक पारिणामिकी बुद्धीनुं निरूपण करवामां आव्युं छे. जेमां अभयकुमार, चाणाक्य, स्थूलभद्र, वज्रस्वामी आदि २१ दृष्टांत छे. पछी श्रुतनिश्रितना अवग्रहादि भेदो स्पष्ट कर्या छे. ते पछी ते बधानो परिचय आपवा साथे भेद दर्शाव्या छे साथे साथे अवग्रह आदिना एकार्थको (पर्याय शब्दो) गणाव्या छे.

ते पछी अवग्रहादिनी काळमर्यादा बतावी छे अने मल्लक (कोडीयुं) आदि दृष्टांतथी तेनी समजण आपी विषय स्पष्ट कर्यों छे. ते पछी तेना द्रव्यादि चार विषयो बताव्या छे. जेमके शब्द स्पृष्ट ग्रहण कराय छे, रूप अस्पृष्ट ग्रहण कराय छे. आम प्राप्यकारी अने अप्राप्यकारीना भेद बताव्या छे पण प्राप्यकारी इन्द्रियोना विषयमां पण शब्द करतां गंध, रस अने स्पर्शमां विशेषता बताववामां आवी छे. जे विचार जैन दर्शन सिवाय अन्य दर्शनमां भाग्ये ज जोवा मळशे. आम मतिज्ञान परोक्ष छे. तेनुं निरूपण समास करे छे.

अहीं उपर जणावेल भेदोनी सूचि तेमज पर्याय शब्दो नीचे मुजब जाणी लेवा.



व्यञ्जनावग्रहना चक्षु अने मनने छोडीने चार इन्द्रियवडे ४ भेद. अर्थावग्रहादि प्रत्येकना ५ इन्द्रिय अने मन एम छ वडे भेद गणवाथी २४ भेद. एम २८ भेद मतिज्ञानना थाय छे.

[A] अवग्रहना पर्यायः– १. अवग्रहणता २. उपधारणता ३. श्रवणता ४. अवलंबनता ५. मेधा.

[B] ईहाना पर्यायः– १. आभोगनता २. मार्गणता ३. गवेषणता ४. चिन्ता ५. विमर्श.

[C] अवायना पर्यायः– १. आवर्तनता २. प्रत्यावर्तनता ३. अपाय ४. बुद्धि ५. विज्ञान.

[D] धारणाना पर्यायः– १. धारणा २. साधारणा ३. स्थापना ४. प्रतिष्ठा ५. कोष्ठ

[E] आभिनिबोधिकना पर्याय (मतिज्ञानना पर्याय):– १. ईहा २. अपाय ३. विमर्श ४. मार्गणा ५. गवेषण ६. संज्ञा ७. स्मृति ८. प्रज्ञा

[१०] श्रुतज्ञानः– स्याद्वाद परोक्ष श्रुतज्ञानना १४ भेद बतावे छे. पछी ते १४मा भेदना पेटाभेदने पूर्ण करतां परोक्षज्ञान, श्रुतज्ञान अने ज्ञानमार्गनुं निरूपण पूर्ण करतां ग्रंथनी समाप्ति करे छे.

प्रत्येक भेद-प्रभेदो नीचे मुजब जाणी लेवा.

[१] अक्षरश्रुतः– संज्ञाक्षर–[1]संज्ञाक्षर एटले अक्षरना संस्थाननी आकृति. [2] व्यंजनाक्षर– अकारादि अक्षरोनुं उच्चारण. [3]लब्धिअक्षर– शब्द–अर्थनी विचारणाने अनुसरतो बोध. आगळना बे भेद द्रव्यश्रुत छे. ज्यारे त्रीजो भेद भावश्रुत छे. मन अने इन्द्रियना विज्ञानथी उत्पन्न थती घटादि पदार्थनी अक्षरलब्धि जे समजण ते लब्धि-अक्षर समजवो. तेना ५ इन्द्रिय अने मनना कारणे छ भेद छे.

[२] अनक्षर श्रुतः– तेना उच्छ्वास, निच्छ्वास, निष्ठ्युत (थुंकवुं) खांसी, छींक, निसिंघन, अनुस्वारादि अनेक प्रकारो छे.

[३] संज्ञिश्रुतः— [A] कालिकोपदेशिक संज्ञिश्रुतना २ भेद छे. (I) संज्ञिने होय छे (II) असंज्ञिने होय छे.

[B] हेतुपदेशिक संज्ञिश्रुतः— उपर मुजबना बे भेदवाळु' छे.

[C] दृष्टिवादोपदेशिक संज्ञिश्रुत तेना उपर प्रमाणे २ भेद छे.

[I] श्रुतनिश्रित-क्षयोपशमथी प्राप्त थयेल. [II] अश्रुतनिश्रित-क्षयोपशमथी प्राप्त थयेल. (आ सम्यग्दृष्टिने ज होय तेथी सम्यग्श्रुत ज जाणवु'.)

[४] असंज्ञिश्रुतः— आनो भेद जुदो नथी बताव्यो. तेथी जे उपर असंज्ञिश्रुतनो भेद बताव्यो छे, ते ज समजी लेवो.

[५] सम्यक्श्रुतः— तेना १२ भेद छेः—

(१) आचारांग (२) सूयगडांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति (६) ज्ञाताधर्मकथा (७) उपासकदशांग (८) अंतकृद्दशांग (९) अनुत्तरौपपातिक (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाकसूत्र (१२) दृष्टिवाद. अहिं जणावे छे के जे संपूर्ण दशपूर्वी छे, तेने नियमथी (भाव) सम्यक् श्रुत छे. तेथी ओछा ज्ञानवाळामां भाव सम्यक्श्रुतनी भजना समजवी.

[६] मिथ्याश्रुतः— अहीं मिथ्यादृष्टिविरचित अनेक ग्रंथोना नाम जणाव्या छे. जेनो परिचय आपे छेः—

आमां पण एक विशिष्टता बतावी छे के आ द्रव्य मिथ्याश्रुत पण सम्यक्श्रुत बने छे. पछी उपरोक्त विशिष्टतानुं कारण जणावतां फरमावे छे के, ते ज मिथ्याश्रुत मिथ्यादृष्टि कोइक जीवने सम्यक्त्वनुं पण कारण बने छे. तेथी तेनु' मिथ्याश्रुत पण कदाचित् सम्यक्श्रुत बने छे.

(७) सादि (८) अनादि (९) सपर्यवसित (१०) अपर्यवसितश्रुत. आ चारेने संक्षेपमां बतावे छे– 'आ द्वादशांगी पर्यायार्थिक नयनी अपेक्षाए सादिसपर्यवसित छे अने द्रव्यार्थिक नयनी अपेक्षाए अनादि-अपर्यवसित छे.' अहीं ते नयने स्थाने अनुक्रमे व्यवच्छित्तिनय तेमज अव्यवच्छित्तिनय एवो प्रयोग कर्यो छे. ते पछी उपरोक्त विकल्पने द्रव्य, क्षेत्र, काळ अने भावथी विचारे छे. अने ते दर्शावी अंतमां जणावे छे के 'अक्षरनो–ज्ञाननो अनंतमो भाग जीवनो सदाय अनावृत रहे छे. जो एटलो भाग पण आवरण पामी जाय (ढंकाइ जाय) तो जीव, जीव तरीके रही शके नहीं'. त्यारबाद तेना समर्थनमां दृष्टांत आप्या छे.

[११] गमिकश्रुत [१२] अगमिकश्रुतः–

गमिकमां दृष्टिवाद, अगमिक–कालिकश्रुतमां एटले प्रायः जेमां गमा बहु ओछा छे, तेवा आचारांगादि ११ अंगनो समावेश थाय छे. त्यारबाद छेल्ला बे भेद दर्शावे छे.

[१३] अंगप्रविष्ट [१४] अंगबाहिरः–

ते अंगप्रविष्टना १२ भेद छे. ते १२ अंग जाणवा. सम्यक्श्रुतना अधिकारमां जे नाम बताव्या छे ते ज जाणवा. अंगबाहिरमां छ आवश्यक [१] सामायिक [२] चतुर्विंशतिस्तव [३] वंदन [४] प्रतिक्रमण [५] कायोत्सर्ग अने [६] प्रत्याख्यान.

आवश्यकव्यतिरिक्तः– तेना बे भेद [१] कालिक [२] उत्कालिक.

त्यारबाद उत्कालिकमां दशवैकालिकादि २९ सूत्रनी गणत्री करावी छे, अने कालिकमां उत्तराध्ययनादि २९ भेद बताव्या छे. अन्य प्रकीर्णक (ग्रंथो)नी संख्या बतावतां जणावे छे के, प्रथम तीर्थपति ऋषभदेव तीर्थंकर भगवंतना शासनमां ८४००० प्रकीर्णक हता अने प्रभु महावीरना शासनमां संख्यात सहस्र [पोताना शिष्यनी संख्या जेटला] प्रकीर्णको होय छे. अथवा तो जे तीर्थंकर प्रभुना जेटला शिष्यो चार बुद्धिथी युक्त होय तेटला प्रकीर्णक–सहस्रो तेमना शासनमां होय छे. त्यारबाद विस्तृत वक्तव्यवाळा छेल्ला भेदमां अंगप्रविष्टमां १२ अंगनी गणत्री कर्या बाद ११ अंगनो विस्तारथी परिचय आपे छे. १२ मा अंगनो परिचय आपतां दृष्टिवादना पांच भेद बतावे छे. [१] परिकर्म [२] सूत्र [३] पूर्वगत [४] अनुयोग [५] चूलिका. ते परिकर्मना ७ भेद बताव्या छे. त्यारबाद साते सातना अनुक्रमे १४, १४, ११, ११, ११, ११, ११ भेद बतावेला छे. आ साते परिकर्ममां आजीविकामतनो विचार छे. अने तेमां प्रथम छ परिकर्म चार नयथी युक्त छे अने गोशालके प्रवर्तावेला त्रिराशी [जीव, अजीव, जीवाजीव–नोजीव] नुं निरूपण करनार छे. त्यारबाद सूत्रना २२ भेद बताव्या छे, तेना माटे जणावे छे के, पूर्वगतना १४ भेद बतावे छे.

१ उत्पादपूर्व	२ अग्रायणीय	३ वीर्यप्रवाद	४ अस्तिनास्तिप्रवाद
५ ज्ञानप्रवाद	६ सत्यप्रवाद	७ आत्मप्रवाद	८ कर्मप्रवाद

९ प्रत्यक्षप्रवाद   १० विद्यानुप्रवाद   ११ अवंध्य   १२ प्राणायु

१३ क्रियाविशाल   १४ लोकबिन्दुसार

त्यारवाद ते सर्वनो विषय जणावे छे. अनुयोग (दृष्टिवाद) (A) मूळ प्रथमानुयोग (B) गंडिकानुयोग. मूळ प्रथमानुयोगमां धर्मप्रणेता तीर्थंकर भगवंतोना चरित्रनुं वर्णन कर्युं छे. ते पछी गंडिकानुयोगमां गंडिकाना भेद जणाव्या छे. आवी बीजी पण गंडिकाओनो तेमां समावेश करी लेवो तेम जणावेल छे.

त्यारवाद चूलिका(दृष्टिवाद)मां प्रथम ४ पूर्वनी चूलिकाओ छे. अन्य पूर्वोनी नथी तेम जणावेल छे. एम दृष्टिवादना भेदनुं वर्णन पूर्ण करीने ते समस्त दृष्टिवादनो सामान्य परिचय आपे छे. ते पछी तेनी विराधनाथी अनंत जीवो अतीत अने अनागत कालमां संसारने पाम्या तेमज पामशे अने वर्तमान काळमां पण संख्याता जीवो विराधनाथी संसारने पामी रह्या छे तेवी ज रीते तेनी आराधनाथी अतीत अने अनागत काळमां अनंत जीवो संसारथी तरी गया तेमज तरी जशे, अने वर्तमानमां संख्यात जीवो तरी रह्या छे. आ प्रमाणे आराधना अने विराधनानुं फळ बताव्या पछी ते द्वादशांगी भूतकाळमां सदा हती वर्तमानमां छे अने भविष्यमां सदा रहेशे, तेम जणावी तेने ध्रुव, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित अने नित्य छे, तेवां विशेषणो आपेल छे. तेनो द्रव्य, क्षेत्र, काळ अने भावथी कहेलो विषय छे ते जणावी अंतमां संग्रह गाथा आपी अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान अने परोक्षज्ञाननुं वर्णन पूर्ण करतां नंदीसूत्र पूर्ण थाय छे.

विभाग—३

—: आगम अने तेना अधिकारीओ: —

नंदीमां आवता अधिकारना विचार विषे आगळ जणाव्युं छे. अहीं प्रसंग पामीने तेनो पण विचार करवो योग्य छे. माटे अहीं तेनो थोडो विस्तारपूर्वक विचार करवामां आवे छे.

जैन शासनमां जेने कोइ पण आगम भणवु' होय तेनी योग्यता जोवा माटे शास्त्रकार भार मूके छे. योग्यता जोया सिवाय आगम भणावनारा आचार्योने जैनशासनमां गुनेगार गणवामां आव्या छे. माटे ज आगमो हाल जेना तेना हाथमां मुकवामां आवे छे ते एक विचारणीय प्रश्न शरु थइ रह्यो छे. आजे आगमोनुं मुद्रण थतां जरूर तेनो प्रचार वधवा पाम्यो छे. पण एथी गुरु द्वारा थता ज्ञाननी परिणतिनो नाश जोवामां आवे छे. ए आगमाभ्यास मुक्ति माटेनो सुप्रयत्न बनवाने बदले केवळ विद्वान गणावानी अपेक्षाए ज मुख्यत्वे थइ रह्यो छे.

आगमोना भाषान्तर करवानी प्रवृत्ति तो अनिच्छनीय ज छे. केटलाक सुधारको आगमने इतर विद्वानो वांचशे तेथी जैनधर्मना ज्ञानवाळा बनशे एवी उडाऊ दलील करे छे. पण जैन आगमोनु' ज्ञान मुख्यतया मोक्ष तरफनी कूचमां वेग लाववा माटे छे. तेने बदले तेनी उपर परंपरागमरूप अर्थोने लखनारा निंयुक्तिकारो, भाष्यकारो अने टीकाकारोने बाजुमां मूकीने स्वतंत्रपणे असंबद्ध अर्थ करनारा थया छे, अने तेनो प्रचार करीने जैन आगमोना अहर्निश अभ्यासी आचार्योनी टीका करवामां आवे छे. आम सारासारनो तेमज योग्यायोग्य पात्रोनो विचार करवानी दरकार कर्या सिवाय

सार्वत्रिक आगमनुं मुद्रण थइ रह्युं छे. अमारो आशय ए नथी के आगमोने कबाटमां राखी मूकवां. पण आत्मानी योग्यता जोइने ज गुरुमहाराज आगमोनुं ज्ञान आपे छे अयोग्य आत्माने आपवाथी तो जैनशासननी हीलना थाय छे. केमके अयोग्य आत्मा तेनो दुरुपयोग करतां पण अचकातो नथी. अत्यारना कहेवाता केटलाक पंडितो तेना प्रत्यक्ष पूरावारूप छे. वळी तेवाओनो कहेवातो पंडिताइ पण घणां स्थलोए सुधरेली मूर्खाइथी जुदी पडी शकती नथी. आम आ रीते विचारतां संपूर्णपणे मुद्रण अने तेनो प्रचार पसंद पडे नहीं. मुद्रण थाय तो पण तेनो प्रचार तेनी योग्यता धरावनाराओ सारी रीते लाभ उठावी शके तेटला पूरतो मर्यादित होवो जोइए.

आजे छेदसूत्रो के जे अत्यंत गुप्त राखवा जेवां छे. साधुओने पण तेनी योग्यता जोइने ज तेनो पाठ आपवामां आवे छे. साधुओनी परीक्षा माटे अपरिणामी, अतिपरिणामी अने परिणामी एम त्रण प्रकारो पाडवामां आवे छे. तेमां अपरिणामी अने अतिपरिणामीओ माटे छेदसूत्र भणवानो अधिकार नथी. आथी समकितदृष्टि मुनिओने जेना तेना हाथमां छेदसूत्रो जाय ते पसंद नथी. ते हकीकत तेओनी शास्त्रानुसारिता बतावी रही छे. पण तेनी सामे—

"इस संबंधमें तो यह बात है कि प्रायः प्रत्येक शास्त्र ही गोपनीय है। अधिकारका ध्यान सर्वत्र ही रखना चाहिए। क्या अन्य सूत्र अनधिकारीको प्रवृत्त किये जा सकते है? नहीं। प्राचीनकालमें जैसे लेखन था वैसे ही आज के युग में मुद्रण है। गुरुमुख से चली आने वाली श्रुतपरम्परा जिस दिन कलम और दवात का सहारा लेकर पुस्तकारूढ हुइ, उसी दिन उसकी गोप्यता का प्रश्न समाप्त हो गया। जब श्रुत पुस्तकारूढ है तो वह

कभी भी, कहीं भी, किसी भी, व्यक्ति के हाथों में आ सकता है। और कोइ भी उसे पढ सकता है। मेरे विचार में तत्कालीन लेखन और अद्यतन मुद्रण की स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं है।" [पृ. ४ निशीथसूत्र पीठिका]

आम उपाध्याय अने मुनिजीए जे लख्युं ते क्यां सुधी शास्त्रानुसार छे ते विचारीए. एमणे जे निशीथसूत्रनी पीठिका छपावी छे. ते पीठिकानी रचना लेखनकाल शरु थया पछीनी छे. छतां एमां अधिकारनी वात करी छे. अन्य सूत्रो अने छेदसूत्रो आ बेमां एटलो वधो फरक छे के एक औत्सर्गिक छे ज्यारे छेदसूत्रो आपवादिक छे. महाव्रतोमां अपवादनुं विधान करनार छेदसूत्रो छे. आनो अभ्यास जे ते करी न शके. आवी सघळीए वातो ग्रन्थकारे करी छे. अन्य सूत्रोमां अधिकारी होवा छतां ते साधु छेदसूत्रोनो अधिकारी बनी शकतो नथी अन्यसूत्रो तो योगोद्वहन विनाना साधुओ श्रवण करता होवा छतां पण निशीथसूत्र तो अन्य साधुओ श्रवण न करे तेनी तकेदारी ज्ञानदाताए राखवी तेवी आज्ञा तेमां ज फरमावी छे.

चोदगाह – जइ कम्मकूखवणसामत्थाओ इमं णिसीहं एवं सव्वज्झयणाणं णिसीहत्तं भवतु ?

गुरू भणति – आमं, किं पुण " अविसेसे वि त्ति सव्वज्झयण–कम्मक्खवणस सामत्थाविसेसा इह अज्झयणे विसेसो। विसेसो णाम भेओ। को पुण विसेसो ? इमो सुतिं पि जं णेति अण्णेसिं। सुतिं सवणं सोइंदिउवलद्धी जम्हा कारणा, ण इति पडिसेहे, एति आगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः, अण्णेसिंति अगीतअइपरिणामापरिणामगाणं ति वक्कसेसं। किं पुण कारणं तेसिमं सुइं णागच्छति ? सुण–इदमज्झयणं अववायबहुलं, ते य अगीयत्थादि-

दोसजुत्तत्ता विणस्सेज्ज तेण णागच्छति। " अवि " पदत्थसंभावणे । किं संभावयतिं ? जति अगीयाण–अण्णसाहु–परायवत्तयंताण वि सवणं पि ण भवति, कओ–उद्देसवायणत्थ–सवणाणि, एवं सम्भावयति।" [निशीथचूर्णि पृ. ३५]

भावार्थः– कर्मक्षय माटे सर्व अध्ययनो सामर्थ्य धरावे छे. तो आमां–निशीथमां शुं विशेष छे ? आना जवाबमां आचार्य भगवान कहे छे के, 'अगीतार्थ, अतिपरिणामी अने अपरिणामीना कानमां निशीथना अक्षरो पण पडता नथी. शिष्य पूछे छे के 'कया कारणथी एवाओना कानमां पण निशीथना अक्षरो आवता नथी. सूरि महाराज कहे छे के, 'आ सूत्र अपवादथी भरेलुं छे, तेथी जो अगीतार्थ वगेरेने आपवामां आवे तो विनाश करी नाखे, तेथी एमनी कर्णेन्द्रियनो विषय थतुं नथी. आ सूत्रनी परावृत्ति पण अगीतार्थ आदि मुनिओना सांभळवामां न आवे तेम कराय छे. तो उद्देश वाचना अने श्रवण करवानी तो वात ज शी करवी ?

अर्थात् अगीतार्थ आदि आ सूत्रना अधिकारी छे ज नहीं, तेमज गृहस्थो, अन्यतीर्थिको, स्वपक्षीय अगीतार्थ तेमज पाखंडोओ पण श्रवण न करी जाय तेम आ सूत्रनुं अध्ययन करवुं जोइए. आ गीतार्थोनी आज्ञा छे. माटे 'श्रुत पुस्तकारूढ थयुं त्यारथी ए कोइ पण व्यक्तिना हाथमां जइ शके छे' एम कहेवुं बराबर नथी. पुस्तकारूढनो मतलब आ तो न ज काढी शकाय के कलम अने खडियानी सहाय लीधो एटले सहु आने वांची शके के भणी शके. आजे एवी घणीये वातो लखाय छे के ए जेना हाथमां आपवी होय तेना ज हाथमां अपाय पण सहु कोइना हाथमां ते आपी शकती नथी. जैन संघना कबजामां रहेलां आगमो बीजाना हाथमां जाय केवी रीते ? मानो के जाय, तेथी

आपणे आपणा हाथे ज सहुना हाथमां मूकवां ए शुं बुद्धिमत्ता छे? धन छे. एनी चोरी करनार होय ज. माटे शुं चोरोना हाथमां आपणे ज अमूल्य धन पहोंचतुं करवुं के एनुं संरक्षण करवुं ?

जैन आगमो मुक्तिनी साधना माटे छे. ए आगमोनो आ ध्येय माटे उपयोग ते सदुपयोग छे, अने ते सिवाय तेनो उपयोग ए दुरुपयोग ज छे. माटे ज नंदीमां जणाव्युं छे के "आगमने पामीने अनंता तर्या अने अनंता डूब्या" आवां अमूल्य सूत्रो अयोग्य आत्माओना हाथमां जाय नहीं ए माटे आपणे तकेदारी राखवी जोइए. आवी तकेदारी अथवा आवा प्रयत्नोने ज्ञानीओ श्रुतभक्ति कहे छे. ते प्रमाणे वर्तनाराओने श्रुतना प्रचारक अने श्रुतना रक्षक कहे छे अयोग्य आत्माओना हाथमां पहोंचता करनारा तो एना नाशक छे. लेखन अने मुद्रणमां तो घणो मोटो तफावत छे. लेखन तो खुद साधुओ पण करी शके छे. वळी लेखनमां तो अमुक लीमीटमां ज कोपीओ नीकळे छे. ज्यारे मुद्रणमां तो जोइए तेटली नीकळी शके. तेनी अमुक नकलो तो सरकारने तथा प्रेसवाळाने आपवी ज पडे. ज्यारे लेखनमां एवुं कशुं ज नथी. लेखन ए खरेखर ज लेखन छे. लेखन ए घणा समय सुधी टकी रहेनारी कळानो नमुनो ज छे. ज्यारे मुद्रण थोडा वर्षोमां ज नाश पामनारी यांत्रिक क्रिया छे. लेखन ए अतिशयज्ञानीओए शरु करेली श्रुतपरंपराने जीवाडनारी एक अमृतक्रिया छे. ज्यारे मुद्रणमां अनेक दोषो छे. माटे 'आ लेखन अने मुद्रणमां कोइ विशेष अंतर नथी' एम कहेवुं ए वधारे पडतुं ज छे. निशीथ नाम एटले ज अप्रकाशधर्म छे. माटे निशीथनुं ज्ञान परिणतने ज अपाय पण अपरिणत के अतिपरिणतने तो न ज अपाय. आ तो लोकोत्तरशास्त्र छे. पण लौकिक, रहस्ययुक्त विद्या,

दोसजुत्तत्ता विणस्सेज्ज तेण णागच्छति। "अवि" पदत्थसंभावणे । किं संभावयतिं ? जति अगीयाण–अण्णसाहु–परायवत्तयंताण वि सवणं पि ण भवति, कओ–उद्देसवायणत्थ–सवणाणि, एवं सम्भावयति।" [निशीथचूर्णि पृ. ३५]

भावार्थः– कर्मक्षय माटे सर्व अध्ययनो सामर्थ्य धरावे छे. तो आमां–निशीथमां शुं विशेष छे ? आना जवाबमां आचार्य भगवान कहे छे के, 'अगीतार्थ, अतिपरिणामी अने अपरिणामीना कानमां निशीथना अक्षरो पण पडता नथी. शिष्य पूछे छे के 'कया कारणथी एवाओना कानमां पण निशीथना अक्षरो आवता नथी. सूरि महाराज कहे छे के, 'आ सूत्र अपवादथी भरेलुं छे, तेथी जो अगीतार्थ वगेरेने आपवामां आवे तो विनाश करी नाखे, तेथी एमनी कर्णेन्द्रियनो विषय थतुं नथी. आ सूत्रनी परावृत्ति पण अगीतार्थ आदि मुनिओना सांभळवामां न आवे तेम कराय छे. तो उद्देश वाचना अने श्रवण करवानी तो वात ज शी करवी ?

अर्थात् अगीतार्थ आदि आ सूत्रना अधिकारी छे ज नहीं, तेमज गृहस्थो, अन्यतीर्थिको, स्वपक्षीय अगीतार्थ तेमज पाखंडीओ पण श्रवण न करी जाय तेम आ सूत्रनुं अध्ययन करवुं जोइए. आ गीतार्थोनी आज्ञा छे. माटे 'श्रुत पुस्तकारूढ थयुं त्यारथी ए कोइ पण व्यक्तिना हाथमां जइ शके छे' एम कहेवुं बराबर नथी. पुस्तकारूढनो मतलब आ तो न ज काढी शकाय के कलम अने खडियानी सहाय लीधो एटले सहु आने वांची शके के भणी शके. आजे एवी घणीये वातो लखाय छे के ए जेना हाथमां आपवी होय तेना ज हाथमां अपाय पण सहु कोइना हाथमां ते आवी शकती नथी. जैन संघना कबजामां रहेलां आगमो बीजाना हाथमां जाय केवी रीते ? मानो के जाय, तेथी

आपणे आपणा हाथे ज सहुना हाथमां मूकवां ए शुं बुद्धिमत्ता छे ? धन छे. एनी चोरी करनार होय ज. माटे शुं चोरोना हाथमां आपणे ज अमूल्य धन पहोंचतुं करवुं के एनुं संरक्षण करवुं ?

जैन आगमो मुक्तिनी साधना माटे छे. ए आगमोनो आ ध्येय माटे उपयोग ते सदुपयोग छे, अने ते सिवाय तेनो उपयोग ए दुरुपयोग ज छे. माटे ज नंदीमां जणाव्युं छे के " आगमने पामीने अनंता तर्या अने अनंता डूब्या" आवां अमूल्य सूत्रो अयोग्य आत्माओना हाथमां जाय नहीं ए माटे आपणे तकेदारी राखवी जोइए. आवी तकेदारी अथवा आवा प्रयत्नोने ज्ञानीओ श्रुतभक्ति कहे छे. ते प्रमाणे वर्तनाराओने श्रुतना प्रचारक अने श्रुतना रक्षक कहे छे अयोग्य आत्माओना हाथमां पहोंचता करनारा तो एना नाशक छे. लेखन अने मुद्रणमां तो घणो मोटो तफावत छे. लेखन तो खूद साधुओ पण करी शके छे. वळी लेखनमां तो अमुक लीमीटमां ज कोपीओ नीकळे छे. ज्यारे मुद्रणमां तो जोइए तेटली नीकळी शके. तेनी अमुक नकलो तो सरकारने तथा प्रेसवाळाने आपवी ज पडे. ज्यारे लेखनमां एवुं कशुं ज नथी. लेखन ए खरेखर ज लेखन छे. लेखन ए घणा समय सुधी टकी रहेनारी कळानो नमुनो ज छे. ज्यारे मुद्रण थोडा वर्षोमां ज नाश पामनारी यांत्रिक क्रिया छे. लेखन ए अतिशयज्ञानीओए शरु करेली श्रुतपरंपराने जीवाडनारी एक अमृतक्रिया छे. ज्यारे मुद्रणमां अनेक दोषो छे. माटे 'आ लेखन अने मुद्रणमां कोइ विशेष अंतर नथी' एम कहेवुं ए वधारे पडतुं ज छे. निशीथ नाम एटले ज अप्रकाशधर्म छे. माटे निशीथनुं ज्ञान परिणतने ज अपाय पण अपरिणत के अतिपरिणतने तो न ज अपाय. आ तो लोकोत्तरशास्त्र छे. पण लौकिक, रहस्ययुक्त विद्या,

मंत्र अने योग अपरिणतोनी आगळ प्रकाशित कराय ज नहीं. [आ वात नि. चू. पी. पृ. ३६ मां जणावी छे.]

न केवलं लोकसिद्धमप्पगासं णिसीहं, जं अप्पगासधम्मं अन्नं पि तं णिसीहं । ...... उदाहरणं— जहा लोइया रहस्सजुत्ता विज्जा मन्ता जोगा य अपरिणयाणं ण पगासिज्जंति " पृ. ३४

अर्थात् प्रकाश करवा योग्य ज न होय ते 'निशीथ' कहेवाय छे. जेम रहस्ययुक्त एवी विद्या, मंत्र अने योग अपरिणतो माटे अप्रकाश्य होय छे, तेम निशीथसूत्र पण अपरिणत माटे अप्रकाश्य छे. आम खूद ग्रन्थकारो पण मुनिधर्मनुं पालन करनारा महातपस्वीओ पण जो परिणत न होय, गीतार्थ न होय तो एमने पण निशीथनुं प्रदान करवामां निषेध करे छे. जेओ जगतनो उपकार करवामां सदा उद्यमी हता, शासननी प्रभावना करवानी सुन्दर आवडतवाळा हता, जगतमां जैनधर्मनी सुवास फेलाववानी इच्छावाळा हता, भविष्यना लाभने विचारी शके तेवा बुद्धि-वैभवने धारण करनारा हता. एमना करतां आपणे तो बधी वातोमां पछात छीए. भविष्यमां लाभ कइ रीते थशे? तेनो पूरेपूरो विचार करवानी बुद्धि–शक्तिथी हीन छीए. माटे शास्त्रकारोनी आज्ञाने अनुसरवामां एकांते लाभ ज छे. आज्ञाबहारनो आपणी टुंकी दृष्टिनो महान् उद्यम गमे तेटलो होय छतां संसार वधारनारो छे.

विभाग—४

प्रस्तुत नंदीसूत्र तेमज तेना पर उपलब्ध थता साहित्यनो इतिहास खूब चर्चास्पद छे, अने तेनी साथे अनेक इतिहासनो संबंध छे. तेथी समयना अभावे अन्य स्थळे ज ते विषयनी चर्चा करवानी भावना छे. अहीं मात्र तेने लगता अमारा वर्तमान निर्णयो ज जणाववामां आवशे.

आ नंदीसूत्र घणु' ज प्राचीन छे, अने तेना कर्ता देववाचकगणि पू. दूष्यगणिना शिष्य छे, अने जेओ देवर्धि-
गणि क्षमाश्रमण करतां जुदा छे. ते माटे नयचक्रनी प्रस्तावनामां अमे विचार करेल छे. तेना कर्ता देववाचकगणि
पूर्वधर हता. तेमज देवर्धिगणि श्रमाश्रमण करतां पूर्ववर्ती हता. वर्तमान 'नंदी' करतां पण प्राचीन कोइ 'नंदी'सूत्र अवश्य
होवु' जोइए. तेवा अनुमानने अवकाश छे एम अमे मानीए छीए. जो के आना पर भाष्यनी कल्पना अमे नयचक्रनी
प्रस्तावनामां करेल छे. पण ते वात एकली कल्पनामात्रथी योग्य लागती नथी. अर्थात् वधु प्रमाण न मळे त्यां
सुधी 'नंदीभाष्यनी' कल्पना करवी योग्य लागती नथी. 'नंदी'चूर्णिना कर्ता जिनदासगणिमहत्तर होय तेम लागतु'
नथी. कारण के शब्दशः मलगिरि म०नी ज टीका छे. तेना विस्तारवाळा भागने छोडी देवायो छे. तेथी अभ्यासनी
अनुकूळता माटे कोइए आवी संक्षिप्त नोंध करी हशे. जे अवचूरिमां गणाइ गइ छे. पण वास्तविकताए ए पू. मलय-
गिरि म०नी नंदीनी टीकानुं संक्षिप्त रूप छे. कारण के अवचूरिमां जे मात्र पू. मलयगिरि म०ने ज लागु पडे छे,
तेवो उल्लेख एमनो एम ज मळी आवे छे, माटे प्रस्तुत ग्रन्थ संक्षिप्तीकरण छे पण स्वतंत्र रचना नथी.
दाखला तरीके पृ, २३ 'यथा वस्तुनो ानत्यता तथा धर्मसंग्रहणीटीकायां सविस्तरम् अभिहितमिति न इह
भूयोऽभिधीयते मा भूद् ग्रन्थगौरवमिति कृत्वा' पृ. ४७...' उच्यते इह कर्मणां प्रत्येकमनन्तानन्तानि रसस्पर्धकानि
भवन्ति, रसस्पर्धकस्वरूपं च कर्मप्रकृतिटीकायां सप्रपंचमुपदर्शितमिति न भूयो दर्श्यते ।

आ सिवाय प्रथम शरु थती अनेक गाथाओ जे पू. मलयगिरि म.नी टीकामां छे. तेमांनी नीचे प्रमाणेनी सात

अने योग अपरिणतोनी आगळ प्रकाशित कराय ज नहीं. [आ वात नि. चू. पी. पृ. ३६ मां जणावी छे.]

केवलं लोकसिद्धमप्पगासं णिसीहं, जं अप्पगासधम्मं अन्नं पि तं णिसीहं । ...... उदाहरणं— जहा लोइया विज्जा मन्ता जोगा य अपरिणयाणं ण पगासिज्जंति" पृ. ३४

अर्थात् प्रकाश करवा योग्य ज न होय ते 'निशीथ' कहेवाय छे. जेम रहस्ययुक्त एवी विद्या, मंत्र अने योग अपरिणतो माटे अप्रकाश्य होय छे, तेम निशीथसूत्र पण अपरिणत माटे अप्रकाश्य छे. आम खूद ग्रन्थकारो पण मुनिधर्मनुं पालन करनारा महातपस्वीओ पण जो परिणत न होय, गीतार्थ न होय तो एमने पण निशीथनुं प्रदान करवामां निषेध करे छे. जेओ जगतनो उपकार करवामां सदा उद्यमी हता, शासननी प्रभावना करवानी सुन्दर आवडतवाळा हता, जगतमां जैनधर्मनी सुवास फेलाववानी इच्छावाळा हता, भविष्यना लाभने विचारी शके तेवा बुद्धि-वैभवने धारण करनारा हता. एमना करतां आपणे तो बधी वातोमां पछात छीए. भविष्यमां लाभ कइ रीते थशे? तेनो पूरेपूरो विचार करवानी बुद्धि–शक्तिथी हीन छीए. माटे शास्त्रकारोनी आज्ञाने अनुसरवामां एकांते लाभ ज छे. आज्ञाबहारनो आपणी टुंकी दृष्टिनो महान् उद्यम गमे तेटलो होय छतां संसार वधारनारो छे.

विभाग–४

प्रस्तुत नंदीसूत्र तेमज तेना पर उपलब्ध थता साहित्यनो इतिहास खूब चर्चास्पद छे, अने तेनी साथे अनेक इतिहासनो संबंध छे. तेथी समयना अभावे अन्य स्थळे ज ते विषयनी चर्चा करवानी भावना छे. अहीं मात्र तेने लगता अमारा वर्तमान निर्णयो ज जणाववामां आवशे.

आ नंदीसूत्र घणु' ज प्राचीन छे, अने तेना कर्ता देववाचकगणि पू. दूष्यगणिना शिष्य छे, अने जेओ देवर्धि-
गणि क्षमाश्रमण करतां जुदा छे. ते माटे नयचक्रनी प्रस्तावनामां अमे विचार करेल छे. तेना कर्ता देववाचकगणि
पूर्वधर हता. तेमज देवर्धिगणि श्रमाश्रमण करतां पूर्ववर्ती हता. वर्तमान 'नंदी' करतां पण प्राचीन कोइ 'नंदी'सूत्र अवश्य
होवु' जोइए. तेवा अनुमानने अवकाश छे एम अमे मानीए छीए. जो के आना पर भाष्यनी कल्पना अमे नयचक्रनी
प्रस्तावनामां करेल छे. पण ते वात एकली कल्पनामात्रथी योग्य लागती नथी. अर्थात् वधु प्रमाण न मळे त्यां
सुधी 'नंदीभाष्यनी' कल्पना करवी योग्य लागती नथी. 'नंदी'चूर्णिना कर्ता जिनदासगणिमहत्तर होय तेम लागतु'
नथी. कारण के शब्दशः मलगिरि म०नी ज टीका छे. तेना विस्तारवाळा भागने छोडी देवायो छे. तेथी अभ्यासनी
अनुकूळता माटे कोइए आवी संक्षिप्त नोंध करी हशे. जे अवचूरिमां गणाइ गइ छे. पण वास्तविकताए ए पू. मलय-
गिरि म० नी नंदीनी टीकानु संक्षिप्त रूप छे. कारण के अवचूरिमां जे मात्र पू. मलयगिरि म० ने ज लागु पडे छे,
तेवो उल्लेख एमनो एम ज मळी आवे छे, माटे प्रस्तुत ग्रन्थ संक्षिप्तीकरण छे पण स्वतंत्र रचना नथी.
दाखला तरीके पृ, २३ 'यथा वस्तुनो नित्यता तथा धर्मसंग्रहणीटीकायां सविस्तरम् अभिहितमिति न इह
भूयोऽभिधीयते मा भूद् ग्रन्थगौरवमिति कृत्वा' पृ. ४७... 'उच्यते इह कर्मणां प्रत्येकमनन्तानन्तानि रसस्पर्धकानि
भवन्ति, रसस्पर्धकस्वरूपं च कर्मप्रकृतिटीकायां सप्रपंचमुपदर्शितमिति न भूयो दर्श्यते ।
आ सिवाय प्रथम शरु थती अनेक गाथाओ जे पू. मलयगिरि म.नी टीकामां छे. तेमांनी नीचे प्रमाणेनी सात

गाथाओ तेमां नथी. अवचूरिना अनुक्रमे १८, १९, ३१, ३२, ४४, ४५, ४८ तेमांनी ३१ अने ३२ने छोडीने जेम पू. मलयगिरि म०नी टीकामां व्याख्या करवामां आवी नथी तेम अहीं पण ते बाकीनी ६ गाथानी व्याख्या करवामां आवी नथी. आ २ गाथाओ मुद्रितचूर्णिमां पण पाठान्तर तरीके छे. तेमज पू. हरिभद्र सू. म.नी टीकामां पण लेवामां आवी नथी. जे बिलकुल सामान्य अवचूरि आ बे गाथाओ पर जोवामां आवे छे. ते कदाच कोइके पाछळथी हाथे लखी लीधी होय तेम जणाय छे. एम लागे छे के मुद्रित नंदीनी पू. मलयगिरि म०नी टीकानो तेमज आ संक्षिप्तीकरणनो आदर्श जुदो जुदो होवो जोइए. आम प्रत्येक शब्दे शब्दे तो पू. मलयगिरि म०नी टीका साथे मेळवेल नथी. पण जेटलो भाग मेळव्यो छे तेमां एक पण शब्दनो फरक जणातो नथी. माटे आनुं नाम अमे संक्षिप्त मलयगिरि टीका आपेल छे. जेने वधु विस्तार पसंद नथी तेने आ ग्रन्थ अचूक लाभदायक निवडशे.

जैन ग्रंथावली पृ. ४२ना टीप्पणमां लखेल छे के चंचलबाना भंडारमां रहेली आ अवचूरिना कर्ता देव्यावसूरि छे तेम ते आदर्शना टीप्पणमां जणाव्युं छे. पण उपर जणाव्या मुजब तेओ संक्षिप्तीकरणना कर्ता छे अने देव्यावसूरि एवुं नाम कोइ लहीयानी अशुद्धिना कारणे लखाइ गयुं होय तेम जणाय छे. कदाच तेमनुं नाम देवसूरि हशे. आ ग्रन्थनी श्लोक संख्या १६०५ छे. अंतमां प्रस्तावनाना आलेखनमां तेमज ग्रन्थना संपादनकार्यमां अने टीप्पणी आलेखनमां आभोग के अनाभोगथी जिनाज्ञा विरुद्ध जो कंइ पण थवा पाम्युं होय तो ते बाबतमां 'मिच्छामि दुक्कडम्'

अपार्थिवज्योतिर्धर व्याख्यानवाचस्पति स्व. परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजयलब्धिसूरीश्वरजी महाराजनो

चरणकिंकर आचार्य विक्रमसूरि

जयतु श्रीजिनवरेन्द्रप्रवचनम् ।

श्रेष्ठिदेवचन्द्र लालभाई-जैनपुस्तकोद्धार—ग्रन्थाङ्के

श्रीदूष्यगणिशिष्य-श्रीदेववाचकगणिविरचितम्—

नन्दिसूत्रम् ।



अवचूरीसमलङ्कृतम् ।

अथ नन्दिरिति कः शब्दार्थः ? उच्यते, 'टुनदु समृद्धौ' इत्यस्य धातोः 'उदितो नुम्' इति नुमि विहिते नन्दनं-नन्दिः, प्रमोदो हर्ष इत्यर्थः । नन्दिहेतुत्वात् ज्ञानपञ्चकाभिधायकमध्ययनमपि नन्दिः, नन्दन्ति प्राणिनः-अनेन-अस्मिन्

१ अत्र 'उदितः स्वरान्नोऽन्तः' (हैम० ४।४।९८) इति सूत्रं दृश्यते ।

इति वा नन्दिः,–इदमेव प्रस्तुतमध्ययनम्, [1]आविष्टलिङ्गत्वाच्चआध्ययनेऽपि प्रवर्त्तमानस्य नन्दिशब्दस्य पुंस्त्वं, 'इन् सर्वधातुभ्यः' (कौमुदी० उणादौ) इत्यौणादिक इन् प्रत्ययः, अपरे तु नन्दीति पठन्ति, ते च 'इक् कृष्यादिभ्य' (महाभाष्ये० ३ अ० ३ पा० १ आ०) इति सूत्रादिक्प्रत्ययं समानीय स्त्रीत्वेऽपि वर्त्तयन्ति, ततश्च 'इतोऽक्त्यर्था' दिति [सि. २–४–३२] ङीप्रत्ययः। 'जयति' इन्द्रियविषयकषायघातिकर्म्मपरीषहोपसर्गादिशत्रुगणपराजयात् सर्वानप्यतिशेते, इत्थं सर्वातिशायी च भगवान् प्रेक्षावतामवश्यं प्रणामार्हस्ततो जयतीति, किमुक्तं भवति ? तं प्रति प्रणतोऽस्मीति, किं विशिष्टो जयतीत्याह—

जयइ जगजीवजोणी–वियाणओ जगगुरू जगाणंदो। जगनाहो जगबंधू–जयइ जगप्पियामहो भयवं ॥ १ ॥

'जगज्जीवयोनिविज्ञायकः' जगत्–धर्म्माधर्म्माकाशपुद्गलास्तिकायरूपं 'जगत्त्रयं चराचरं' इति वचनात्, जगच्च जीवाश्च योनयश्च जगज्जीवयोनयः तासां विविधं–अनेकप्रकारमुत्पाताद्यनंतधर्मात्मकतया जानाति इति विज्ञायको जगज्जीवयोनिविज्ञायकः, अनेन केवलज्ञानप्रतिपादनात् स्वार्थसंपदमाह, तथा जगत् गृणाति–यथा व्यवस्थितं प्रतिपादयति शिष्येभ्य इति जगद्गुरुः। यथावस्थितसकलपदार्थप्रतिपादक इत्यर्थः। तथा 'जगदानंदः' इह जगच्छब्देन संज्ञिपंचेंद्रियपरिग्रहः, तेषामेव भगवद्दर्शन-देशनादित आनंदसंभवात्, ततश्च जगतां–सञ्ज्ञिपंचेन्द्रियाणाममृतस्यन्दिमूर्तिदर्शनमात्रतो निःश्रेयसाभ्युदयसाधर्म्योपदेश-द्वारेण चानन्दहेतुत्वादैहिकामुष्मिकप्रमोदकारणत्वात् जगदानंदः, तथा 'जगन्नाथः' इह जगच्छब्देन सकलचराचरपरिग्रहः,

१–आविष्टं–आगृहीतं प्रतिनियतं लिङ्गं यैस्ते आविष्टलिङ्गाः, लिङ्गान्तरशब्दसंबंधेऽपि न स्वलिङ्गं जहति इत्यर्थः॥

'योगक्षेमकृत् नाथ' इति, तथा 'जगद्बन्धुः' इह जगच्छब्देन सकलप्राणि-
नाथशब्देन च योगक्षेमकृदभिधीयते, 'योगक्षेमकृत् नाथ' इति, तथा 'जगद्बन्धुः' इह जगच्छब्देन सकलप्राणि-
गणपरिग्रहः, प्राणिन एवाधिकृत्य बन्धुत्वोपपत्तेः, ततश्च जगतः-सकलप्राणिसमुदायरूपस्याव्यापादनोपदेशप्रणयनेन सुख-
स्थापकत्वात्-बन्धुरिव बन्धुः जगद्बन्धुः, तथा 'जयति जगत्पितामहः' इति, इह जगच्छब्देन सकलसत्त्वपरिग्रहः, ततश्च जगतां
सकलसत्त्वानां नरकादिकुगतिविनिपाताऽपायरक्षणात् पितेव पिता-सम्यग्दर्शनमूलोत्तरगुणसंहतिस्वरूपो धर्म्मः। स हि दुर्गतौ
प्रपततो जंतून् रक्षति, शुभे च निःश्रेयसादौ स्थाने स्थापयति। तथा चोक्तम्-निरुक्तशास्त्रवेदिभिः-" दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्,
यस्माद्धारयते ततः। धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद्धर्म्म इति स्मृतः ॥ १ ॥ " ततः सकलस्यापि प्राणिगणस्य पितृतुल्यः, तस्यापि
च पिता भगवान्, अर्थतस्तेन प्रणीतत्वात्, ततो भगवान् जगत्पितामहः, जयतीति पुनः क्रियाभिधानं तथाधिकारादटुष्टम् ॥
उक्तं च-" सज्झायज्झाणतओसहे ऊवएसु थुइपयाणेसु। संतगुणकित्तणासु य न होंति पुणरुत्तदोसाओ ॥ १ ॥ अनेनापि परार्थ-
संपदमाह-' भगवान् इति ' भगः-समग्रैश्वर्यादिलक्षणः, आह च-ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः। धर्म्मस्यार्थप्रयत्नस्य
षण्णां भग इतीरितः ॥ १ ॥ " भगोऽस्यास्तीति भगवान् ॥ १ ॥

जयइ सुयाणं पभवो तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ। जयइ गुरूलोगाणं जयइ महप्पा महावीरो ॥ २ ॥

जयतीति पूर्ववत्, श्रुतानां-स्वदर्शनपरदर्शनानुगतसकलशास्त्राणां प्रभवन्ति सर्वाणि शास्त्राण्यस्मादिति प्रभवः-प्रथमं उत्पत्ति-कारणम्; तीर्थकराणामपश्चिमो जयति, जन्मजरामरणसलिलसुभृतं मिथ्यादर्शनाविरतिगम्भीरं महाभीमकषायपातालं दुःखग्राह-

महामोहावर्त्तभीषणं रागद्वेषपवनविक्षोभितं विविधानिष्टेष्टसंयोगवियोगवीचिनिचयसंकुलमुच्चैस्तरमनोरथसहस्रवेलाकलितं संसारसागरं तरंति येन तत्तीर्थम्। तच्च सकलजीवादिपदार्थसार्थरूपकमत्यन्तानवद्यं शेषतीर्थान्तरीयाविज्ञातचरणकरणक्रियाधारं सकलत्रैलोक्यान्तर्गतविशुद्धधर्म्मसंपत्समन्वितं महापुरुषाश्रयमविसंवादिप्रवचनम्, तत्करणशीलास्तीर्थकराः तेषां तीर्थकराणां, अस्मिन् भारते वर्षे, अधिकृतायामवसर्पिण्यां न विद्यते पश्चिमोऽस्मादित्यपश्चिमः—सर्वान्तिमः, पश्चिम इति। 'जयति गुरुर्लोकानां' इति लोकानां—सत्त्वानां गृणाति प्रवचनार्थमिति गुरुः, प्रवचनार्थप्रतिपादकतया पूज्य इत्यर्थः। तथा 'जयति महात्मा महावीरो' महान्—अतितरशक्त्युपेत आत्मा—स्वभावो यस्य स महात्मा, 'शूर वीर विक्रांतौ' वीरयति स्म इति वीरो—विक्रांतः, महान्—कषायोपसर्गपरीषहेन्द्रियादिशत्रुगणजयादतिशायी विक्रांतः महावीरः, अथवा 'ईर गतिप्रेरणयोः' विशेषेण ईरयति—गमयति स्फेटयति कर्म, प्रापयति वा शिवमिति वीरः, जयतीति पूर्ववत् ॥ २ ॥

भद्दं सव्वजगुज्जोयगस्स भद्दं जिणस्स वीरस्स। भद्दं सुरासुरनमंसियस्स भद्दं धुयरयस्स ॥ ३ ॥

'भद्रं' कल्याणं भवतु, 'सर्वस्य जगदुद्योतकस्य' सर्व—समस्तं जगत्—लोकालोकात्मकम्, उद्योतयति—प्रकाशयति केवलज्ञानदर्शनाभ्यामिति सर्वजगदुद्योतकः। तस्य 'भद्रायुष्यक्षेमसुखहितार्थहितैराशिषि' इति विकल्पेन चतुर्थीविधानेऽपि षष्ठ्यपि भवति। यथा आयुष्यं देवदत्ताय, आयुष्यं देवदत्तस्य, तथा 'भद्रं जिनस्य वीरस्य' महावीरस्य, जयति रागादिशत्रुगणमिति जिनः, औणादिको नक्

१ हितसुखाभ्याम् (हैम० २।२।६५) तद्भद्रायुष्यक्षेमार्थार्थेनाशिषि (२।२।६६) इतिसूत्रद्वयोक्तार्थसङ्ग्रहेणात्रैवमुक्तम्।

प्रत्ययस्तस्य भद्रं भवतु । तथा 'भद्रं' कल्याणं भवतु, सुरैः–शक्रादिभिरसुरैश्चमरादिभिश्च नमस्कृतस्य, तथा 'भद्रं' कल्याणं भवतु, 'धूतरजसः' धूतं कम्पितं स्फोटितं रजो–बध्यमानं कर्म येन स धूतरजास्तस्य ॥ ३ ॥

सम्प्रति तीर्थंकरानन्तरं सङ्घः पूज्य इति परिभावयन् सङ्घस्य नगररूपकेण स्तवमाह—

गुणभवणगहण ! सुयरयणभरिय ! दंसणविशुद्धरत्थागा ! ॥ संघनगर ! भद्दं ते अखंडचारित्तपागारा ! ॥ ४ ॥

गुणभवण इत्यादि, गुणा–इह उत्तरगुणा गृह्यन्ते, मूलगुणानामग्रे चारित्रशब्देन गृह्यमाणत्वात् , ते च उत्तरगुणाः पिण्डविशुद्ध्यादयः, त एव भवनानि, तैः गहनं–गुम्पिलं प्रचुरत्वादुत्तरगुणानां गुणभवनगहनम् , सङ्घनगरमभिसम्बध्यते, तस्य आमन्त्रणं, हे गुणभवनगहन !, तथा श्रुतरत्नभृत–श्रुतानि एव आचारादीनि निरुपमसुखहेतुत्वाद्रत्नानि श्रुतरत्नानि, तैर्भृतं–पूरितं तस्य आमन्त्रणं, हे श्रुतरत्नभृत !, तथा 'दर्शनविशुद्धरथ्याक' इह दर्शनं–प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्यलिङ्गगम्यमात्मपरिणामरूपं सम्यग्दर्शनमभिगृह्यते। तच्च क्षायिकादिभेदात् त्रिधा, तद्यथा–क्षायिकं, क्षायोपशमिकं औपशमिकं च । दर्शनमेव असारमिथ्यात्वादिकचवररहिता विशुद्धा रथ्या यस्य तत् तथा, तस्य आमंत्रणं, हे दर्शनविशुद्धरथ्याक !, सङ्घश्चातुर्वर्ण्यः श्रमणादिसङ्घातः, स नगरं इव संघनगरं, तस्य आमन्त्रणं, हे सङ्घनगर !, 'भद्रं' कल्याणं 'ते' तव भवतु । अखण्डचारित्रप्राकारं चारित्रं–मूलगुणाः अखण्डं–अविराधितं चारित्रं एव प्राकारो यस्य तत् तथा 'मांसादिषु च' इति प्राकृतलक्षणात् चारित्रशब्दस्य आदौ ह्रस्वः तस्य आमन्त्रणं, हे अखण्डचारित्रप्राकार !, दीर्घत्वं प्रागिव ॥ ४ ॥

महामोहावर्त्तभीषणं रागद्वेषपवनविक्षोभितं विविधानिष्टेष्टसंयोगवियोगवीचिनिचयसंकुलमुच्चैस्तरमनोरथसहस्रवेलाकलितं संसारसागरं तरंति येन तत्तीर्थम्। तच्च सकलजीवादिपदार्थसार्थरूपकमत्यन्तानवद्यं शेपतीर्थान्तरीयाविज्ञातचरणकरणक्रियाधारं सकलत्रैलोक्यान्तर्गतविबुद्धधर्म्मसंपत्समन्वितं महापुरुषाश्रयमविसंवादिप्रवचनम्, तत्करणशीलास्तीर्थकराः तेपां तीर्थकराणां, अस्मिन् भारते वर्षे, अधिकृतायामवसर्प्पिण्यां न विद्यते पश्चिमोऽस्मादित्यपश्चिमः—सर्वान्तिमः, पश्चिम इति। 'जयति गुरुर्लोकानां' इति लोकानां—सत्त्वानां गृणाति प्रवचनार्थमिति गुरुः, प्रवचनार्थप्रतिपादकतया पूज्य इत्यर्थः। तथा 'जयति महात्मा महावीरो' महान्—अतितरशक्त्युपेत आत्मा—स्वभावो यस्य स महात्मा, 'शूर वीर विक्रांतौ' वीरयति स्म इति वीरो—विक्रांतः, महान्—कषायोपसर्गपरीषहेन्द्रियादिशत्रुगणजयादतिशायी विक्रांतः महावीरः, अथवा 'ईर गतिप्रेरणयोः' विशेषेण ईरयति—गमयति स्फेटयति कर्म, प्रापयति वा शिवमिति वीरः, जयतीति पूर्ववत् ॥ २ ॥

भद्दं सव्वजगुज्जोयगस्स भद्दं जिणस्स वीरस्स। भद्दं सुरासुरनमंसियस्स भद्दं धुयरयस्स ॥ ३ ॥

'भद्रं' कल्याणं भवतु, 'सर्वस्य जगदुद्योतकस्य' सर्व—समस्तं जगत्—लोकालोकात्मकम्, उद्योतयति—प्रकाशयति केवलज्ञानदर्शनाभ्यामिति सर्वजगदुद्योतकः। तस्य 'भद्रायुष्यक्षेमसुखहितार्थहितैराशिषि' इति विकल्पेन चतुर्थीविधानेऽपि षष्ठ्यपि भवति। यथा आयुष्यं देवदत्ताय, आयुष्यं देवदत्तस्य, तथा 'भद्रं जिनस्य वीरस्य' महावीरस्य, जयति रागादिशत्रुगणमिति जिनः, औणादिको नक्

१ हितसुखाभ्याम् (हैम० २।२।६५) तद्भद्रायुष्यक्षेमार्थार्थेनाशिषि (२।२।६६) [illegible]र्थसङ्ग्रहेणात्रैवमुक्तम्।

प्रत्ययस्तस्य भद्रं भवतु । तथा 'भद्रं' कल्याणं भवतु, सुरैः—शक्रादिभिरसुरैश्चमरादिभिश्च नमस्कृतस्य, तथा 'भद्रं' कल्याणं भवतु,
'धूतरजसः' धूतं कम्पितं स्फोटितं रजो—बध्यमानं कर्म येन स धूतरजास्तस्य ॥ ३ ॥

सम्प्रति तीर्थंकरानन्तरं सङ्घः पूज्य इति परिभावयन् सङ्घस्य नगररूपकेण स्तवमाह—

गुणभवणगहण ! सुयरयणभरिय ! दंसणविसुद्धरत्थागा !। संघनगर ! भद्दं ते अखंडचरित्तपागारा ! ॥ ४ ॥

गुणभवण इत्यादि, गुणा—इह उत्तरगुणा गृह्यन्ते, मूलगुणानामग्रे चारित्रशब्देन गृह्यमाणत्वात्, ते च उत्तरगुणाः पिण्डविशुद्ध्या-
दयः, त एव भवनानि, तैः गहनं—गुम्पिलं प्रचुरत्वादुत्तरगुणानां गुणभवनगहनम्, सङ्घनगरमभिसम्बध्यते, तस्य आमन्त्रणं, हे गुण-
भवनगहन !, तथा श्रुतरत्नभृत—श्रुतानि एव आचारादीनि निरुपमसुखहेतुत्वाद्रत्नानि श्रुतरत्नानि, तैर्भृतं—पूरितं तस्य आमन्त्रणं, हे श्रुत-
रत्नभृत !, तथा 'दर्शनविशुद्धरथ्याक' इह दर्शनं—प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्यलिङ्गगम्यमात्मपरिणामरूपं सम्यग्दर्शनमभिगृह्यते।
तच्च क्षायिकादिभेदात् त्रिधा, तद्यथा—क्षायिकं, क्षायोपशमिकं औपशमिकं च । दर्शनमेव असारमिथ्यात्वादिकचवररहिता विशुद्धा
रथ्या यस्य तत् तथा, तस्य आमंत्रणं, हे दर्शनविशुद्धरथ्याक !, सङ्घश्चातुर्वर्ण्यः श्रमणादिसङ्घातः, स नगरं इव संघनगरं, तस्य आमन्त्रणं,
हे सङ्घनगर !, 'भद्रं' कल्याणं 'ते' तव भवतु । अखण्डचारित्रप्राकारं चारित्रं—मूलगुणाः अखण्डं—अविराधितं चारित्रं एव प्राकारो
यस्य तत् तथा 'मांसादिषु च' इति प्राकृतलक्षणात् चारित्रशब्दस्य आदौ ह्रस्वः तस्य आमन्त्रणं, हे अखण्डचारित्रप्राकार !,
दीर्घत्वं प्रागिव ॥ ४ ॥

भूयोऽपि सङ्घस्य एव संसारोच्छेदकारित्वाच्चक्ररूपकेण स्तवमाह—

संजमतवतुंबरयस्स नमो सम्मत्तपारियालस्स। अप्पडिचक्कस्स जयो होउ सया संघचक्कस्स ॥ ५ ॥

संजम इत्यादि, संयमः—सप्तदशप्रकारः। यत उक्तं—"पञ्चाश्रवात् विरमणं, पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः। दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः ॥ १ ॥" तपो द्विधा—बाह्यं आभ्यन्तरं च, तत्र बाह्यं षड्विधं, आभ्यन्तरमपि षोढा। संयमश्च तपांसि च संयमतपांसि, तुंबं च अराश्च—अरकाः तुम्बाराः संयमतपांस्येव यथासंख्यं तुम्बारा यस्य तत् तथा, तस्मै संयमतपःतुम्बाराय नमः। सूत्रे च षष्ठी प्राकृतलक्षणात्। चतुर्थी अर्थे वेदितव्या, उक्तं च—"छट्ठि विभत्तीए भण्णइ चउत्थी।" तथा सम्यक्त्वमेव पारियल्लं—बाह्यपृष्ठस्य बाह्या भ्रमिर्यस्य तत् तथा, तस्मै नमः। गाथार्द्धं व्याख्यातं। तथा न विद्यते प्रति—अनुरूपं समानं चक्रं यस्य तत् अप्रतिचक्रं, चरकादिचक्रैः असमानं इत्यर्थः, तस्य जयो भवतु, सदा—सर्वकालं, सङ्घः चक्रं इव संघचक्रं तस्य ॥ ५ ॥

सम्प्रति संघस्य एव मार्गगामितया रथरूपकेण स्तवमभिधित्सुराह—

भद्दं सीलपडागूसियस्स तवनियमतुरयजुत्तस्स। संघरहस्स सज्झायसुनंदिघोसस्स ॥ ६ ॥

भद्दं सील इत्यादि, 'भद्रं' कल्याणं संघरथस्य भगवतो भवतु इति योगः, किं विशिष्टस्य सतः इत्याह—'शीलोच्छ्रितपताकस्य', शीलमेव—अष्टादशशीलाङ्गसहस्ररूपं उच्छ्रिता पताका यस्य स, तथा 'तपोनियमतुरगयुक्तस्य' तपःसंयमाश्वयुक्तस्य।

तथा स्वाध्यायः–पञ्चविधः, तच्च यथा–वाचना पृच्छना प्रवर्त्तना अनुप्रेक्षा धर्म्मकथा च, स्वाध्याय एव सन्–शोभनो नन्दिघोषो–द्वादशविधतूर्यनिनादो यस्य स तथा तस्य। 'सज्झायसुनेमिघोसस्स' इति क्वचित् पाठः, तत्र स्वाध्याय एव शोभनो नेमिघोषो यस्य इति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

[अथ संघस्यैव प्रबुद्धतया पद्मरूपकेण गाथाद्वयेन स्तवमाह–]

कम्मरयजलोहविणिग्गयस्स सुयरयणदीहनालस्स। पञ्चमहव्वयथिरकन्नियस्स गुणकेसरालस्स ॥ ७ ॥

कम्मरय इत्यादि, कर्म–ज्ञानावरणादि अष्टप्रकारं तदेव जीवस्य गुण्ठनेन मालिन्यापादनात् रजो भण्यते। कर्मरज एव जन्म-कारणत्वात् जलौघस्तस्मात् विनिर्गतः[इव]–कर्मरजोजलौघविनिर्गतः तस्य। इह पद्मं जलौघाद्विनिर्गतं सुप्रतीतं, जलौघस्योपरि तस्य व्यवस्थितत्वात्, संघस्तु कर्मरजोजलौघाद्विनिर्गतोऽल्पसंसारित्वादवसेयः, तथा चाविरतसम्यग्दृष्टेरपि अपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तमान एव संसारः, अत एव विनिर्गत इव इति व्याख्यातं, न तु साक्षाद्विनिर्गतोऽद्यापि संसारित्वात् तथा श्रुतरत्नमेव दीर्घो नालो यस्य स तस्य, दीर्घनालतया च श्रुतरत्नस्य रूपणं कर्म्मरजोजलौघतः तद्बलात् विनिर्गतः। तथा पञ्चमहाव्रतानि एव प्राणातिपातादिविरमण-लक्षणानि स्थिरा–दृढा कर्णिका–मध्यगण्डिका यस्य तत्तथा तस्य, तथा गुणा–उत्तरगुणाः, त एव पञ्चमहाव्रतरूपकर्णिकापरिकरभूतत्वात् केसरा इव गुणकेसराः ते विद्यन्ते यस्य तत्तथा तस्य ॥ ७ ॥

तथा–

सावगजणमहुअरिपरिवुडस्स जिणसूरतेयबुद्धस्स। संघपउमस्स भद्दं समणगणसहस्सपत्तस्स ॥ ८ ॥

ये अभ्युपेतसम्यक्त्वाः प्रतिपन्नाणुव्रता अपि प्रतिदिवसं यतिभ्यः साधूनां अगारिणां च उत्तरोत्तरविशिष्टगुणप्रतिपत्तिहेतोः सामाचारीं शृण्वन्ति ते श्रावकाः, श्रावकाश्च ते जनाश्च श्रावकजनाः, त एव मधुकर्यः, ताभिः परिवृतस्य, तथा 'जिनसूर्यतेजोबुद्धस्य' जिन एव सकलजगत्प्रकाश[क]तया सूर्य इव–भास्कर इव जिनसूर्यः, तस्य तेजो विशिष्टसंवेदनप्रभवा धर्मदेशना, तेन बुद्धस्य। तथा श्राम्यन्ति इति श्रमणा 'नन्द्यादिभ्योऽन' [सि. हे. ५—१५२] इति कर्त्तर्यनप्रत्ययः। श्राम्यन्ति तपस्यन्ति, किमुक्तं भवति– प्रव्रज्यारम्भदिवसादारभ्य सकलसावद्ययोगविरता गुरूपदेशेन प्राणोपरमात् यथाशक्ति अनशनादितपः चरन्ति। उक्तं च "यः समः सर्वभूतेषु त्रसेषु स्थावरेषु च। तपश्चरति शुद्धात्मा, श्रमणोऽसौ प्रकीर्त्तितः ॥ १ ॥ श्रमणानां गणः श्रमणगणः, स एव सहस्रं पत्राणां यस्य तत् श्रमणगणसहस्रपत्रं तस्य ॥ ८ ॥

भूयोऽपि संघस्य एव सौम्यतया चन्द्ररूपकेणस्तवमाह—

तवसंजममयलंछण! अकिरियराहुमुहदुद्धरिस! निच्चं! जय संघचन्दनिम्मल! सम्मत्तविशुद्धजोण्हागा ! ॥ ९ ॥

तपःसंजम इत्यादि, तपश्च संयमश्च तपःसंयमं, समाहारो द्वंद्वः, तपःसंयमं एव मृगलाञ्छनं–मृगरूपं चिह्नं यस्य तस्य आमन्त्रणं, हे तपःसंयममृगलाञ्छन !, तथा न विद्यन्तेऽनभ्युपगमात् परलोकविषयाः क्रिया येषां ते अक्रियाः—नास्तिकाः, त एव जिनप्रवचनशशाङ्कग्रसनपरायणत्वात् राहुमुखं इवाक्रियाराहुमुखं तेन दुःप्रधृष्यो–अनभिभवनीयः,तस्यामन्त्रणं, हे अक्रियाराहुमुखदुःप्रधृष्य !, सङ्घः

चन्द्र इव सङ्घचन्द्रः तस्यामन्त्रणं, हे सङ्घचन्द्र! तथा निर्म्मलं–मिथ्यात्वमलरहितं यत्सम्यक्त्वं तदेव विशुद्धा ज्योत्स्ना यस्य स तथा 'शेपाद्वे'ति कः प्रत्ययः(७-३-१७५), तस्य आमन्त्रणं, हे निर्मलसम्यक्त्वविशुद्धज्योत्स्नाक! दीर्घत्वं प्रागिव प्राकृतलक्षणात् अवसेयं, 'नित्यं' सर्वकालं 'जय' सकलपरदर्शनतारकेभ्योऽतिशयवान् भव, यद्यपि भगवान् संघचन्द्रः सदैव जयन् प्रवर्तते, तथापि इत्थं स्तोतुः अभिधानं कुशलमनोवाक्कायप्रवर्त्तिकारणं इति अदुष्टम् ॥ ९ ॥

पुनरपि संघस्य एव प्रकाशकतया सूर्यरूपकेण स्तवमाह—

परतित्थियगहपहनासगस्स तवतेयदित्तलेसस्स। नाणुज्जोयस्स जए भद्दं दमसंघसूरस्स ॥ १० ॥

परतीर्थिकाः–कपिलकणभक्षाक्षपादसुगतादिमतावलंबिनः त एव ग्रहाः, तेषां या प्रभा–एकैकदुर्नयाभ्युपगमपरिस्फूर्त्तिलक्षणा, तां अनंतनयसंकुलप्रवचनसमुत्थविशिष्टज्ञानभास्वरप्रभावितानेन नाशयति–अपनयति इति परतीर्थिकग्रहप्रभानाशकः तस्य [परतीर्थिकग्रहप्रभानाशकस्य] तथा तपः तेज एव दीप्ता उज्ज्वला लेश्या–भास्वरता यस्य स तथा तस्य तपःतेजोदीप्तलेश्यस्य। तथा ज्ञानं एव उद्योतो–वस्तुविषयप्रकाशो यस्य स तथा तस्य ज्ञानउद्योतस्य, 'जगति' लोके 'भद्रं' कल्याणं भवतु इति शेषः। दम–उपशमः तत् प्रधानसंघः सूर्य इव संघसूर्यस्तस्य दमसंघसूर्यस्य ॥ १० ॥

संप्रति संघस्य एव अक्षोभ्यतया समुद्ररूपकेण स्तवं चिकीर्षुराह—

भद्दं धिइवेलापरिगयस्स सज्झायजोगमगरस्स। अक्खोहस्स भगवओ संघसमुद्दस्स रुंदस्स ॥ ११ ॥

भद्दं धिईवेला इत्यादि, संघः समुद्र इव संघसमुद्रः तस्य, भद्रं भवतु इति क्रियाशेषः, किंविशिष्टस्य सत इत्याह 'धृतिवेलापरिगतस्य' धृतिः मूलोत्तरगुणविषयः, प्रतिदिवसं उत्सहमान-आत्मपरिणामविशेषः, स एव वेला-जलवृद्धिलक्षणा तया परिगतस्य, तथा स्वाध्याययोग एव कर्मविदारणक्षमशक्तिसमन्विततया मकर इव मकरो यस्मिन् स तथा तस्य, तथा 'अक्षोभ्यस्य' परीषहउपसर्गसंभवेऽपि निःप्रकंपस्य 'भगवतः' समग्रैश्वर्यरूपयशोधर्मप्रयत्नश्रीसंभारसमन्वितस्य 'रुद्रस्य' विस्तीर्णस्य ॥ ११ ॥

भूयोऽपि संघस्य एव सदा स्थायितया मेरूरूपकेण स्तवमाह—

सम्मदंसणवरवइरदढरूढगाढअवगाढपेढस्स । धम्मवररयणमंडिअचामीयरमेहलागस्स ॥ १२ ॥

सम्मदंसण इत्यादि गाथाषट्केन संबंधः, सम्यक्-अविपरीतं दर्शनं-तत्त्वश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं तदेव प्रथमं मोक्षाङ्गतया सारत्वात् वरवज्रं इव सम्यग्दर्शनवरवज्रं, तदेव दृढं-निःप्रकंपं, रूढं-चिरप्ररूढं, गाढं-निबिडं, अवगाढं-निमग्नं, पीठं-प्रथमभूमिका यस्य स तथा। इह मंदरगिरिपक्षे वज्रमयं पीठं, संघमन्दरगिरिपक्षे तु सम्यग्दर्शनवरवज्रमयं पीठं शङ्कादिसुषिररहिततया परतीर्थिकवासनाजलेनांतःप्रवेशाभावतः चालयितुमशक्यं, रूढं प्रतिसमयं विशुद्ध्यमानतया प्रशस्ताध्यवसायेषु चिरकालं वर्त्तनात्, गाढं तीव्रतत्त्वविषयरुच्यात्मकत्वात्, अवगाढं जीवादिषु पदार्थेषु सम्यगवबोधरूपतया प्रविष्टं-तं वन्दे। तथा दुर्गतौ प्रपतंतं आत्मानं धारयति इति धर्म्मः स एव वररत्नमण्डिता चामीकरमेखला यस्य स धर्म्मवररत्नमण्डितचामीकरमेखलाकः 'शेषाद्' ति कः प्रत्ययः (७-३-१७५) तस्य। धर्मो द्विधा मूलगुणरूप उत्तरगुणरूपश्च, तत्र उत्तरगुणरूपो रत्नानि मूलगुणरूपस्तु मेखला, न खलु मूलगुणरूपधर्म्मात्मचामीकरमेखला विशिष्ट-

उत्तरगुणरूपरत्नविभूषणविकला शोभते ॥ १२ ॥

नियमुच्छियकणयसिलायलुज्जलजलंतचित्तकूडस्स। नंदणवणमणहरसुरभिसीलगंधुद्धुमायस्स ॥ १३ ॥

नियम इत्यादि, इह उच्छ्रितशब्दस्य व्यवहितप्रयोगः, ततश्चायं अर्थः—नियमा एव इन्द्रियदमरूपाः कनकशिलातलानि तेषु उच्छ्रितानि उज्ज्वलानि ज्वलन्ति चित्तानि एव कूटानि यस्मिन् स तथा तस्य, इह मंदरगिरौ कूटानां उच्छ्रितत्वं उज्ज्वलत्वं भासुरत्वं च सुप्रतीतं, संघमन्दरगिरिपक्षे तु चित्तरूपाणि कूटानि उच्छ्रितानि अशुभाध्यवसायपरित्यागात्, उज्ज्वलानि प्रतिसमयं कर्ममलविगमात्, ज्वलंति उत्तरोत्तरसूत्रार्थस्मरणेन भासुरत्वात्। तथा नन्दन्ति सुरासुरविद्याधरादयो यत्र तत् नन्दनं वनं—अशोकसहकारादिपादपवृन्दं, नन्दनं च तत् वनं च नन्दनवनं, लतावितानगतविविधफलपुष्पप्रवालसंकुलतया मनो हरति इति मनोहरं, 'लिहादिभ्यः' इत्यच् प्रत्ययः (५-१-५०)। नन्दवनं च तत् मनोहरं च नन्दनवनमनोहरं तस्य, सुरभिस्वभावो यो गंधस्तेन 'उद्धुमायः' आपूर्णः उद्धुमायशब्द आपूर्णपर्यायः तस्य, सङ्घमन्दरगिरिपक्षे तु नन्दनं—संतोषः, तथाहि तत्र स्थिताः साधवो नन्दन्ति, तत्त्वविविधामर्षौषध्यादिलब्धिसंकुलतया मनोहरं तस्य, सुरभिः शीलं एव गंधस्तेन व्याप्तस्य, अथवा मनोहरत्वं सुरभिशीलगन्धविशेषणं द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

जीवदयासुन्दरकंदरुद्दरियमुणिवरमइंदइन्नस्स। हेउसयधातुपगलंतरयणदित्तोसहिगुहस्स ॥ १४ ॥

जीवदया इत्यादि, जीवदया एव सुन्दराणि स्वपरनिवृत्तिहेतुत्वात् कंदराणि तपस्विनामावासभूतत्वात् तथा च लोकेऽपि

प्रतीतं 'अहिंसाव्यवस्थितस्तपस्वी' ति जीवदयासुंदर कंदराणि, तेषु ये उत् प्राबल्येन कर्म्मशत्रुजयं प्रति दर्पिता उद्दर्पिता मुनिवरा एव शाक्यादिमृगपराजयात् मृगेन्द्रा इव मुनिवरमृगेन्द्रास्तैः आकीर्णः—व्याप्तस्तस्य। तथा मन्दरगिरिगुहासु निष्पंदवंति चन्द्रकांतादीनि रत्नानि भवन्ति कनकादि धातवो दीप्ताश्च औषधयः, सङ्घमंदरगिरिपक्षे तु अन्वयव्यतिरेकलक्षणा ये हेतवः तेषां शतानि एव धातवः कुयुक्तिव्युदासेन तेषां स्वरूपेण भासुरत्वा , तथा प्रगलंति—निस्पंदमानानि क्षायोपशमिकभावस्पंदित्वात् रत्नानि दीप्ता जाज्वल्यमाना औषधय—आमर्पौषध्यादयो गुहासु व्याख्यानशालारूपासु यस्य स तथा तस्य ॥ १४ ॥

संवरवरजलपगलियउज्झरपविरायमाणहारस्स। सावगजणपउररवंतमोरनच्चंतकुहरस्स ॥ १५ ॥

संवर इत्यादि, संवरः—प्राणातिपातादिरूपपञ्चाश्रवप्रत्याख्यानं तदेव कर्म्ममलप्रक्षालनात् सांसारिकतृडपनोदकारित्वा परिणामसुंदरत्वाच्च वरजलमिव संवरवरजलं तस्य प्रगलितः—सातत्येन व्यूढ उज्झरः—प्रवाहः स एव विराजमानो हारो यस्य स तथा, श्रावकजना एव स्तुतिस्तोत्रस्वाध्यायविधानमुखरतया प्रचुरा रवंतो मयूरास्तैः नृत्यंति इव कुहराणि—जिनमण्डपादिरूपाणि यस्य स तथा तस्य ॥ १५ ॥

विणयनयपवरमुणिवरफुरंतविज्जुज्जलंतसिहरस्स। विविहगुणकप्परुक्खगफलभरकुसुमाउलवणस्स ॥१६॥

विणय इत्यादि, विनयेन नता ये प्रवरमुनिवरास्त एव स्फुरंत्यो विद्युतो विनयनतप्रवरमुनिवरस्फुरत्विद्युतस्ताभिः ज्वलंति-भासमानानि शिखराणि यस्य स तथा तस्य, इह शिखरस्थानीयाः प्रावचनिका विशिष्टा आचार्यादयो द्रष्टव्याः, विनयनतानां

च प्रवरमुनिवराणां विद्युता रूपेण विनयादिरूपेण तपसा तेषां भासुरत्वान् । तथा विविधा गुणा येषां ते विविधगुणा विशेषणान्यथा ऽनुपपत्त्या साधवो गृह्यंते, त एव विशिष्टकुलोत्पन्नत्वात् परमानन्दरूपसुखहेतुधर्मफलदानात्, कल्पवृक्षा इव विविधगुणकल्पवृक्षकाः। प्राकृतत्वात्स्वार्थे कप्रत्ययस्तेषां यः फलभरो यानि च कुसुमानि तैः आकुलानि वनानि यस्य स तथा, इह फलभरस्थानीयो मूलोत्तर-गुणरूपो धर्मः, कुसुमानि नानाप्रकारा ऋद्धयः, वनानि तु गच्छाः ॥ १६ ॥

नाणवररयणदिप्पंतकंतवेरुलियविमलचूलस्स । वंदामि विणयपणओ संघमहामंदरगिरिस्स ॥ १७ ॥

नाणवर इत्यादि, ज्ञानमेव परमनिर्वृतिहेतुत्वाद्वरं रत्नं ज्ञानवररत्नं, तदेव दीप्यमाना–कान्ता–विमला वैडूर्य्यमयी चूडा यस्य स तथा, तत्र मन्दरपक्षे वैडूर्यमयीचूडा–कान्ता विमला च सुप्रतीता, सङ्घमंदरपक्षे तु कान्ता भव्यजनमनोहारित्वात्, विमला यथावस्थितजीवादिपदार्थस्वरूपोपलम्भात्मकत्वात् । तस्य इत्थंभूतस्य सङ्घमहामन्दरगिरेः यन्माहात्म्यं तत् विनयप्रणतो वन्दे ॥ १७ ॥

गुणरयणुज्जलकडअंसीलसुगंधितवमंडिउद्देसं । सुयवरसंगसिहरं महामंदरं वंदे ॥ १८ ॥

नगर–रह–चक्क–पउमे–चंदे–सूरे–समुद्द मेरुंमि । जो उवमिज्जइ सततं तं संघगुणायरं वंदे ॥ १९ ॥

वंदे उसभं अजियं संभवमभिनंदणं सुमइसुप्पभ सुपासं। ससि पुप्फदंत सीयल सिज्जंसं वासुपुज्जं च ॥२०॥

विमलमणंतं च धम्मं सन्तिं कुंथुं अरं च मल्लिं च। मुनिसुव्वय नमि नेमिं पासं तह वद्धमाणं च ॥२१॥

तदेवं संघस्य अनेकधा स्तव अभिहितः, संप्रति आवलिकाः प्रतिपादनीयाः, ताश्च तिस्रः, तद्यथा—तीर्थकरावलिका गणधरावलिका स्थविरावलिका च, तत्र प्रथमतस्तीर्थकरावलिकामहं—वंदे इत्यादिगाथाद्वयं निगदसिद्धं ॥ १८॥१९॥२०॥२१॥

पढमित्थ इंदभूइ बीए पुण होइ अग्गिभूइत्ति। तईए य वाउभूइ तओ वियत्ते सुहम्मे य ॥ २२ ॥

मंडिअ मोरिय पुत्ते अकंपिए चेव अयल भायाय। मे अज्जेय पहासेय गणहरा हुंति वीरस्स ॥ २३ ॥

गणधरावलिका तु या यस्य तीर्थकृतः सा तस्य प्रथमानुयोगात् द्रष्टव्या, भगवद्वर्द्धमानस्वामिन आह—'पढमित्थ' इत्यादि गाथा द्वयं, एतदपि निगदसिद्धं ॥ २२॥२३ ॥

निव्वुइपहसासणयं जयइ सया सव्वभावदेसणयं। कुसमयमयनासणयं जिणिंदवर वीरसासणयं ॥ २४॥

निव्वुइ इत्यादि, निर्वृत्तेः—मोक्षस्य पंथा—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि, निर्वृत्तिपथस्य शासनं—शिष्यतेऽनेन इति शासनं—प्रतिपादकं, निर्वृत्तिपथशासनं, ततः ['स्वार्थे] कश्च [वा'] इति(८-२-१६४) प्राकृतलक्षणात् स्वार्थे कः प्रत्ययः, निर्वृत्तिपथः शासनकं, एवमन्यत्रापि यथायोगं कप्रत्ययभावना कार्या, सदा—सर्व्वकालं जयति, सर्वाणि अपि प्रवचनानि प्रभावातिशयेन अतिक्रम्य अतिशायि वर्त्तते कथंभूतं सत् इत्याह—सर्वभावदेशनकं, तत एव कुसमयमदनाशनकं—कुत्सिताः समयाः परतीर्थिकप्रवचनानि, तेषां मदः—अवलेपः

तस्य नाशनं, ततः स्वार्थिकः कप्रत्ययः, कुसमयमदनाशनकं, कुसमयमदनाशनं च कुसमयानां कथांक्तसर्वभावदेशकत्वायोगात्। इत्थंभूतं जिनेंद्रवरवीरशासनकं जयति ॥ २४ ॥

संप्रति यैः इदं अविच्छेदेन स्थविरैः क्रमेण इदं युगीनजन्तूनां उपकारार्थं आनीतं, तेषां आवलिकां अभिधित्सुराह—

सुहम्मं अग्गिवेसाणं जम्बुनामं च कासवं पभवं। कचायणं वंदे वच्छं सिज्जंभवं तहा ॥ २५ ॥

सुहम्मं इत्यादि, इह स्थविरावलिका सुधर्म्मस्वामिनः प्रवृत्ता, शेषगणधराणां संतानप्रवृत्तेरभावात्, ततः तमेव आदौ कृत्वा तां अभिधत्ते। सुधर्म्मं—सुधर्म्मस्वामिनं पञ्चमगणधरं, अग्निवेसाणं इति, अग्निवेशस्यापत्यं वृद्धौ आग्निवेश्यः, 'गर्गादेः यञ्' (६-१-४२) इति यञ्प्रत्ययः, तस्यापि अपत्यं आग्निवेश्यायनः, तं आग्निवेश्यायनं वन्दे इति क्रियाभिसम्बन्धः ॥१॥, तथा त च्छब्दं जम्बूनामानं, च समुच्चये, कश्यपस्यापत्यं काश्यपः, विदादेर्वृद्ध (६-१-४१) इत्यञ् प्रत्ययः, तं काश्यपगोत्रं वंदे ॥२॥, तस्यापि जम्बूस्वामिनः शिष्यं प्रभवनामानं कात्यायनं, कतस्य अपत्यं कात्यः, गर्गादेर्यञ् (६-१-४२) इति यञप्रत्ययः तस्यापि अपत्यं कात्यायनस्तं कात्यायनं—कात्यायनगोत्रं वंदे ॥ ३ ॥, तच्छिष्यं शय्यंभवं वात्स्यं, तस्यापत्यं वात्स्यः, गर्गादेः यञ् (६-१-४२) इति यञ्प्रत्ययः तं वन्दे ॥ ४ ॥, तथा इति समुच्चये ॥ २५ ॥

जसभद्दं तुंगियं वन्दे संभूतं चेव माढरं। भद्दबाहुं च पाइन्नं थूलभद्दं च गोयमं ॥ २६ ॥

जस इत्यादि, शय्यंभवशिष्यं यशोभद्रं तुंगिकगणं व्याघ्रापत्यगोत्रं वंदे। तस्य द्वौ प्रधानशिष्यौ अभूतां, तद्यथा—

संभूतविजयो माढरगोत्रः, भद्रबाहुश्च प्राचीनगोत्रः, तौ द्वौ अपि नमस्कुरुते । 'संभूतं चेव माढरं, भद्दबाहुं च पाइन्नं' इति, तत्र संभूतविजयस्य विनेयः स्थूलभद्रो गौतम आसीत्, तं आह—स्थूलभद्रं, चः सम्मुच्चये, गौतमं गोतमस्यापत्यं गौतमः 'ऋषिवृष्ण्यंधककुरुभ्य' (६-१-६१) इति अणप्रत्ययः, तं वंदे इति क्रियायोगः ॥ २६ ॥

स्थूलभद्रस्यापि च द्वौ प्रधानशिष्यौ बभूवतुः । तद्यथा—एलापत्यं गोत्रो महागिरिर्वशिष्ठगोत्रः सुहस्ती [च] तौ द्वौ अपि प्रणिनंसुराह—

एलावच्चसगोत्तं वंदामि महागिरिं सुहंत्थिं च । तत्तो कोसिअगोत्तं बहुलस्स सरि[11]व्वयं वन्दे ॥ २७ ॥

एलावच्चेत्यादि, एलापत्येन सह वर्त्तते यः स एलापत्य[स]गोत्रस्तं वंदे महागिरिं, सुहस्तिनं च प्रागुक्तगोत्रं, तत्र सुहस्तिन आरभ्य सुस्थितसुप्रतिबद्धादिक्रमेण आवलिका विनिर्गता, सा यथा दशाश्रुतस्कंधे तथैव द्रष्टव्या, न तया इहाधिकारः । तस्यामावलिकायां प्रस्तुताध्ययनकारकस्य देववाचकस्य अभावात्, तत इह महागिर्यावलिकाधिकारः, तत्र महागिरेः द्वौ प्रधानशिष्यावभूतां । तद्यथा—बहुलो बलिस्सहश्च, तौ च द्वौ अपि यमलभ्रातरौ कौशिकगोत्रौ च, तयोरपि मध्ये बलिस्सहः प्रवचनप्रधान आसीत्, ततस्तं एव निनंसुराह—'तत्तो' महागिरेः अनन्तरं कौशिकगोत्रं बहुलस्य 'सदृशवयसं' समानवयसं, द्वयोः अपि यमलभ्रातृत्वात्, 'वंदे' नमस्करोमि ॥ २७ ॥

हारियगुत्तं सा[12]इं च वंदामि हारियं च सा[13]मज्जं । वन्दे कोसिअगोत्तं संडिल्लं अज्जजीयधरं ॥ २८ ॥

हारिय इत्यादि, बलिस्सहस्यापि शिष्यं हारीत[स]गोत्रं स्वातिं–स्वातिनामानं, चः समुच्चये, वन्दे, तथा स्वातिशिष्यं 'हारीतं' हारीतगोत्रं, चः समुच्चये, स च भिन्नक्रमः श्यामार्यशब्दानन्तरं द्रष्टव्यः, श्यामाचार्यं च वन्दे। तथा श्यामाचार्यशिष्यं कौशिक[स] गोत्रं, 'शांडिल्यं' शांडिल्यनामानं वन्दे। किंभूतमित्याह—'आर्यजीतधरं' आरात्–सर्वहेयधर्म्मेभ्योऽर्वाक् यातं आर्यं 'जीतं' इति सूत्रमुच्यते। जीतं स्थितिः कल्पो मर्यादा व्यवस्थेति हि पर्यायाः, मर्यादाकारणं च सूत्रं उच्यते। तथा 'धृञ् धारणे' ध्रियते धारयति इति धरः, 'लिहादिभ्य' इत्यच् प्रत्ययः। आर्यजीतस्य धर आर्यजीतधरः तं, अन्ये तु व्याचक्षते–शांडिल्यस्यापि शिष्य आर्यगोत्रो जीतधरनामा सूरिः आसीत् तं वंदे इति ॥ २८ ॥

तिसमुद्दखायकित्तिं दीवसमुद्देसु गहियपेयालं। वन्दे अज्जसमुद्दं अक्खुभियसमुद्दगंभिरं ॥ २९ ॥

तिसमुद्द इत्यादि, शांडिल्यशिष्यं–आर्यसमुद्रनामानं वंदे, कथंभूतं इत्याह—'त्रिसमुद्रख्यातकीर्तिं' पूर्वदक्षिणापरदिग्विभागव्यवस्थितत्वात् पूर्वापरदक्षिणास्त्रयः समुद्रास्त्रिसमुद्रं, उत्तरतस्तु हिमवान् वैताढ्यो वा, त्रिसमुद्रे ख्याता कीर्तिर्यस्य असौ त्रिसमुद्रख्यातकीर्तिस्तं, तथा 'द्वीपसमुद्रेषु' द्वीपेषु समुद्रेषु च गृहीतं पेयालं–प्रमाणं येन स गृहीतपेयालस्तं, अतिशयेन द्वीपसागरप्रज्ञप्तिविज्ञायकं इति भावः, तथा अक्षुभितसमुद्रवद्गम्भीरम् ॥ २९ ॥

भणगं करगं झरगं पभावगं नाणदंसणगुणाणं। वंदामि अज्ज मंगुं सुयसागरपारगं धीरं ॥ ३० ॥

भणगमित्यादि, आर्यसमुद्रस्यापि शिष्यं आर्यमंगुं वंदे, किंभूतमित्याह—'भणकं' कालिकादिसूत्रार्थमनवरतं भणति–प्रति-

धादयति इति भण एव भणकः '[स्वार्थे] [वा]कश्च' इति प्राकृतलक्षणसूत्रात् स्वार्थे कः प्रत्ययस्तं । तथा 'कारकं' कालिकादिसूत्रोक्तमेव उपधेः प्रत्युपेक्षणादिरूपं क्रियाकलापं करोति कारयति वा कारकस्तं । तथा धर्मध्यानं ध्यायति इति ध्याता तं ध्यातारं, प्रभावकं ज्ञानदर्शनगुणानां 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणं इति' न्यायात् चरणगुणानां अपि परिग्रहः, तथा धिया राजते इति धीरस्तं, तथा श्रुतसागरपारगम् ॥ ३० ॥

वंदामि अज्जधम्मं तत्तो वन्दे य भद्दगुत्तं च । तत्तो य अज्जवइरं तवनियमगुणेहिं वइरसमं ॥ ३१ ॥

वन्दामीति, आर्यधर्म्मवाचकं ततो भद्रगुप्तं तत आर्यं वज्रं च वंदो तपोनियमगुणैर्वज्रतुल्यमभेद्यत्वात् ॥ ३१ ॥

वंदामि अज्जरक्खियं खमणे रक्खियचारित्ते सव्वस्स । रयणकरंडगभूओ अणुओग रक्खिओ जेहिं ॥ ३२ ॥

वन्दामीति ॥ इत्यादिसुगमम् ॥ ३२ ॥

नाणंमि दंसणंमिअ तवविणए निच्चकालमुज्जुत्तं । अज्जं नन्दिलखमणं सिरसा वंदे पसन्नमणं ॥ ३३ ॥

नाणमित्यादि, आर्यमंगोः अपि शिष्यं आर्यनंदिलखमणं प्रसन्नमनसमरक्तदुष्टान्तःकरणं शिरसा वंदे कथंभूतमित्याह—'ज्ञाने' श्रुतज्ञाने 'दर्शने' सम्यक्त्वे, च शब्दाचारित्रे तपसि—यथायोगं अनशनादिरूपे विनये—ज्ञानविनयादिरूपे 'नित्यकालं' सर्वकालं 'उद्युक्तं' अप्रमादिनम् ॥ ३३ ॥

वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो अज्जनागहत्थीणं। वागरणकरणभंगियकम्मपयडीपहाणाणं ॥ ३४ ॥

वड्ढउ इत्यादि, पूर्वगतं सूत्रं अन्यच्च विनेयान् वाचयंति इति वाचकाः तेषां वंशः–क्रमभाविपुरुषपर्वप्रवाहः 'स' 'वर्द्धतां' वृद्धिं उपयातु, 'मा' कदाचिदपि तस्य वृद्धिं उपगच्छतो विच्छेदो भूयात् इति। 'यशोवंशो' मूर्त्तो यशसो वंश इव–पर्वप्रवाह इव यशोवंशः, आर्यनागहस्तिनां आर्यनंदिलक्षपणशिष्याणां, कथंभूतानामिति आह–'व्याकरणकरणभङ्गीकर्म्मप्रकृतिप्रधानानां' तत्र व्याकरणं संस्कृतशब्दव्याकरणं प्राकृतशब्दव्याकरणं च, प्रश्न व्याकरणं, करणं–पिंडविशुद्ध्यादि, उक्तं च "पिंडविसोहीसमिईभावणपडिमाई इंदियनिरोहो। पडिलेहणगुत्तीओ अभिग्गहा चेव करणं तु ॥ १ ॥" भङ्गी–भङ्गबहुलं श्रुतं, कर्म्मप्रकृतिः–प्रतीता, एतेषु प्ररूपणां अधिकृत्य प्रधानानाम् ॥ ३४ ॥

जच्चंजणधाउसमप्पहाणं मुद्दियकुवलयनिहाणं। वड्ढउ वायगवंसो रेवइनक्खत्तनामाणं ॥ ३५ ॥

जच्चंजण इत्यादि, आर्यनागहस्तिनामपि शिष्याणां रेवतिनक्षत्रनाम्नां वाचकानां वाचकवंशो वर्द्धतां, कथंभूतानामित्याह— 'जात्यांजनधातुसमप्रभाणां' जात्यश्चासौ अञ्जनधातुश्च तेन समा–सदृशा प्रभा देहकांतिः येषां ते तथा, 'मुद्रिकाकुवलयनिभानां' परिपाकागतरसद्राक्षया नीलोत्पलेन च समप्रभाणां, अपरे पुनः आहुः–कुवलयं इति मणिविशेषस्तत्रापि अविरोधः ॥ ३५ ॥

अयलपुराणिक्खंते कालियसुयआणुओगिए धीरे। बंभद्दीविअ सीहे वायगपयमुत्तमं पत्ते ॥ ३६ ॥

अयलेत्यादि, रेवतिनक्षत्रनामकवाचकानां शिष्यान् 'ब्रह्मद्वीपिकशाखोपलक्षितान् सिंहनामकान् आचार्यान् 'अचलपुरात्

निष्क्रान्तानचलपुरे गृहीतदीक्षान्' 'कालिकश्रुतानुयोगिकान्' कालिकश्रुतस्यानुयोगे—व्याख्याने नियुक्ताः कालिकश्रुतानुयोगिकास्तान्, अथवा कालिकश्रुतानुयोग एषां विद्यते इति कालिकश्रुतानुयोगिनस्ततः स्वार्थिककप्रत्ययविधानात् कालिकश्रुतानुयोगिकाः तान्, धिया राजंते इति धीरास्तान्, तत्कालापेक्षया उत्तमं—प्रधानं वाचकपदं प्राप्तान् ॥ ३६ ॥

जेसिं इमो अणुओगो पयरइ अज्जवि अड्ढभरहम्मि । बहुणयरनिग्गयजसे तं वंदे खंदिलायरिए ॥ ३७ ॥

जेसिं इत्यादि, येषां अयं—श्रवणप्रत्यक्षत उपलभ्यमानोऽनुयोगोऽद्यापि अर्धभरते वैताढ्यादर्वाक् 'प्रचरति' व्याप्रियते। तान् स्कंदिलाचार्यान् सिंहवाचकसूरिशिष्यान् बहुषु नगरेषु निर्गतं—प्रसृतं यशो येषां ते बहुनगरनिर्गतयशसस्तान् वंदे ॥ ३७ ॥

तत्तो हिमवंतमहंतविक्कमे धिइपरक्कममणंते । सज्झायमणंतधरे हिमवंते वंदिमो सिरसा ॥ ३८ ॥

ततो इत्यादि, 'ततः' स्कंदिलाचार्यानंतरं तच्छिष्यान् हिमवतो—हिमवत्नामकान्, 'हिमवत्महाविक्रमान्' हिमवदिव महान् विक्रमो—विहारक्रमेण प्रभतक्षेत्रव्याप्तिरूपो येषां ते तथा तान्। 'धिइपरक्कममणंते' इति अनंतधृतिपराक्रमान्, प्राकृतशैल्या च अनंतशब्दस्यान्यथा उपन्यासः सूत्रे, अनंतो—अपरिमितो धृतिप्रधानः पराक्रमः कर्म्मशत्रून् प्रति येषां ते तथाविधास्तान्। तथा—'सज्झायमणंतधरे'त्ति अत्रापि प्राकृतशैल्यानंतशब्दस्य परनिपातो मकारस्तु अलाक्षणिकः, तदेवं तात्त्विको निर्देशः 'अनन्तस्वाध्यायधरान्' तत्रानन्तगमपर्यायात्मकत्वात् अनन्तं सूत्रं तस्य स्वाध्यायं धरंति इति धराः अनंतस्वाध्यायधरास्तान् ॥ ३८ ॥

कालियसुयअणुओगस्स धारए धारए य पुव्वाणं । हिमवंतखमासमणे वन्दे

भूयोऽपि हिमवदाचार्याणां स्तुतिं आह–कालिय इत्यादि,–कालिकश्रुतानुयोगस्य धारकान् 'धारकांश्च पूर्वाणां' उत्पादादिनां हिमवतः क्षमाश्रमणान् वंदे ततस्तच्छिष्यान् वंदे नागार्ज्जुनाचार्यान् ॥ ३९ ॥

कथम्भूतानित्याह—

मिउमद्दव संपन्ने अणुपुव्वि वायगत्तणं पत्ते। ओहसुयसमायरे नागज्जुणवायए वन्दे ॥ ४० ॥
गोवं दाणं पि नमो अणुयोगो विउल धारिणिंदाणं। दाणं निच्चं खंति दुयाणं परुवणे दुल्लभिं दाणं ॥ ४१ ॥
तत्तोय भूयदिन्नं निच्चं तवसंजमे अनिव्विणं। पंडियजणसामणं वंदामि संजमं विहण्णु ॥ ४२ ॥

[मिउमद्दव] इत्यादि, मृदुमार्द्दवसम्पन्नान्, मृदु–कोमलं मनोज्ञं सकलभव्यजनमनःसन्तोषहेतुत्वात् यत् मार्द्दवं तेन सम्पन्नान्मार्दवं च उपलक्षणं तेन क्षांतिमार्दवार्जवसन्तोषसम्पन्नानिति द्रष्टव्यम्। तथा 'आनुपूर्व्या' वयःपर्यायपरिपाट्या वाचकत्वं प्राप्तानिदं च विशेषणं ऐदंयुगीनसूरीणां सामाचारीप्रदर्शनपरं अवसेयम्। तथा–'ओघश्रुतसमाचारकान्' ओघश्रुतं उत्सर्ग [श्रुतं] उच्यते, तत्समाचरंति ये ते ओघश्रुतसमाचारकाः तान् नागार्ज्जुनवाचकान्वंदे ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

वरकणगतवियचंपगविमउलवरकमलगब्भसरिवन्ने। भविअजणहिययदइए दयागुणविसारए धीरे ॥ ४३ ॥

वरकणग इत्यादि, गाथात्रयं, वरं–प्रधानं सार्द्धषोडशवर्णिकारूपं तापितं यत्कनकं–यत् सुवर्णं यत् च वरं चम्पकं–सुवर्णं

चम्पकपुष्पं तथा यत् च विमुकुलं–विकसितं वरं–प्रधानं कमलं–अंभोजं तस्य यो गर्भः तत्सदृशवर्णान् तत्समानदेहकांतीन्। तथा 'भव्यजनहृदयदयितान्' भव्यजनहृदयवल्लभान्, तथा 'दयागुणविशारदान्' सकलजगज्जंतुदयाविधिविधापनयोः अतीव कुशलान्, तथा धिया राजंते–शोभंते इति धीराः तान् ॥ ४३ ॥

अड्ढभरहप्पहाणे बहुविहसज्झायसुमुणियपहाणे। अणुओगियवरवसभे नाइलकुलवंसनंदिकरे ॥ ४४ ॥

तथा 'अर्द्धभरतप्रधानान्' तत्कालापेक्षया सकलार्द्धभरतमध्ये युगप्रधानान् तथा 'सुविज्ञातबहुविधस्वाध्यायप्रधानान्' सुविज्ञातो बहुविधः स्वाध्यायो यैः ते तथोक्ताः तेषां मध्ये प्रधानानुत्तमान्, तथाऽनुयोजिताः–प्रवर्त्तिता यथोचिते वैयावृत्त्यादौ-वरवृषभाः–सुसाधवो यैः ते तथोक्तास्तान्। तथा नागेंद्रकुलवंशस्य नन्दिकरान्, प्रमोदकरानित्यर्थः। तथा ॥ ४४ ॥

भूयहिअप्पगब्भे वंदेऽहं भूयदिन्नमायरिए। भवभयवुच्छेयकरे सीसे नागज्जुणरिसीण ॥ ४५ ॥

भूतहितप्रगल्भाननेकधा सकलसत्त्वहितोपदेशदानसमर्थान् 'भवभयव्यवच्छेदकरान्' सदुपदेशादिना संसारभयव्यवच्छेद-करान्' सदुपदेशादिना संसारभयव्यवच्छेदकरणशीलान्, 'नागार्जुनऋषीणां' नागार्जुनमहर्षिसूरीणां शिष्यान्, 'भूतदिन्नाचार्यान्' भूतदिन्ननामकान् आचार्यानहं वंदे, सूत्रे च भूतदिन्नशब्दात् मकारः अलाक्षणिकः ॥ ४५ ॥

सुमुणियनिच्चानिच्चं सुमुणियसुत्तत्थधारयं वन्दे। सब्भावुब्भावणातत्थं लोहिच्चणामाणं ॥ ४६ ॥

सुमुणिय इत्यादि, सुष्ठु–यथावस्थिततया मुणितं–ज्ञातं । "ज्ञोजाणमुणौ" [८-४-७] इति प्राकृतलक्षणात् जानातेः मुणआदेशः, नित्यानित्यं सामर्थ्यात् वस्तु इति गम्यते । येन सुज्ञातं नित्यानित्यं स सुज्ञाज्ञातनित्यानित्यस्तं, यथा वस्तुनो नित्यता तथा धर्म्मसंग्रहिणीटीकायां सविस्तरं अभिहितं इति न इह भूयः अभिधीयते, माभूत् ग्रंथगौरवं इति कृत्वा, एतेन न्यायवेदिता तस्यावेदिता, तथा सुष्ठु–अतिशयेन ज्ञातं यत् सूत्रं अर्थश्च तस्य धारकं, अनेन सदा एव अभ्यस्तसूत्रार्थता तस्य आवेद्यते, तथा संतोऽवस्थिता विद्यमाना-भावाः–सद्भावास्तेषां उद्भावना–प्रकाशनं सद्भावोद्भावना तस्यां तथ्यमविसंवादिनं सद्भावोद्भावनातथ्यं, एतेन तस्य सम्यक् प्ररूपकत्वमुक्तं, इत्थंभूतं भूतदिन्नाचार्यशिष्यं 'लौहित्यं' लोहित्यनामानमहं वंदे ॥ ४६ ॥

अत्थमहत्थखाणिं सुसमणवक्खाणकहणनिव्वाणिं । पयईइ महुरवाणिं पयओ पणमामि दूसगणिं ॥ ४७ ॥

अत्थ महत्थ इत्यादि, तत्र भाषाभिधेया अर्था, विभाषावार्त्ता(वार्तिका)भिधेया महार्थास्तेषां अर्थमहार्थानां खानि–इव अर्थमहार्थ-खानिस्तं, एतेन भाषाविभाषावार्त्तिकरूपानुयोगविधौ अतिपटीयस्त्वमावेदयति । तथा सुश्रमणानां–विशिष्टमूलोत्तरगुणकलितसंयतानां अपूर्वशास्त्रव्याख्याने पृष्टार्थकथने च निर्वृतिः–समाधिर्यस्य स तथा तं, तथा प्रकृत्या–स्वभावेन मधुरवाचं–मधुरगिरं तत् शिष्य-गतमनाक्प्रमादादिरूपकोपहेतुसंपत्तौ अपि कोपोदयवशतोऽनिष्ठुरभाषणं, तं दूष्यगणिनं 'प्रयतः' प्रयत्नपरः प्रणमामि ॥ ४७ ॥

तवनियमसच्चसंजमविणयज्जवखंतिमद्दवरयाणं । सील गुणगद्दियाणं अणुओगे जुगव्वहाणाणं ॥ ४८ ॥

१ तत्थकुद्धाण वि आगताण तस्स वाणी णेव्वाणि जणेति, किमंग पण धम्मसवणमागताणं इति चूर्णौ दृश्यते ।

सुकुमालकोमलतले तेसिं पणमामि लक्खणपसत्थे । पाए पावयणीणं पडिच्छयसएहिं पणिवइए ॥ ४९ ॥

सुकुमाल इत्यादि, तेषां दूष्यगणिनां 'प्रावचनिकानां' प्रवचने–प्रवचनार्थकथने नियुक्ताः प्रावचनिकाः तेषां, तत्कालापेक्षया युगप्रधानानां इत्यर्थः, पादान् लक्षणैः–शंखचक्रादिभिः प्रशस्तान्–श्रेष्ठान्, तथा सुकुमारमकर्क्कशं कोमलं–मनोज्ञं तलं येषांतान् पुनः किंभूतानित्याह—प्रति इच्छिकशतैः प्रणिपतितान्, इह ये गच्छांतरवासिनः स्वाचार्यं पृष्ट्वा गच्छांतरेऽनुयोगश्रवणाय समागच्छंति अनुयोगाचार्येण च प्रतीच्छयंतेऽनुमन्यंते ते प्रतिइच्छका उच्यन्ते । स्वाचार्यानुज्ञापुरस्सरं अनुयोगाचार्यं प्रतिइच्छया चरंति इति प्रातिइच्छकाः इति व्युत्पत्तेः, तेषां शतैः प्रणिपतितान्नमस्कृतान् 'प्रणिपतामि' नमस्करोमि ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

तदेवं आवलिकाक्रमेण महापुरुषाणां स्तवं अभिधाय संप्रति सामान्येन श्रुतधरनमस्कारं आह—

जे अन्ने भगवंते कालियसुयअणुओगिए धीरे । ते पणमिऊण सिरसा नाणस्स परूवणं वोच्छं ॥ ५० ॥

जे अन्ने इत्यादि, येऽन्येऽतीता भाविनश्च भगवंतः–श्रुतरत्ननिकरपूरितत्वात् समग्रैश्वर्यादिमंतः कालिकश्रुतानुयोगिनो धीरा–विशिष्ट धिया राजमानास्तान् 'शिरसा' उत्तमांगेन प्रणम्य 'ज्ञानस्य' आभिनिबोधिकादेः 'प्ररूपणं' प्ररूपणाकारकं अध्ययनं वक्ष्ये, क एवं आह?,–उच्यते–दूष्यगणिशिष्यो देववाचकः ॥ ५० ॥

॥ थेरावलिया सम्मत्ता ॥

इह ज्ञानस्य प्ररूपणां वक्ष्ये इत्युक्तं, सा च प्ररूपणा शिष्यानधिकृत्य कर्त्तव्या, शिष्याश्च द्विधा योग्या अयोग्याश्च, तत्र योग्यानधिकृत्य कर्त्तव्या । नाऽयोग्यानिति प्रथमतो योग्यायोग्यविभागोपदर्शनार्थं तावदिदमाह—

सेलघण कुडग[2] चालणि[3] परिपूर्णग हंस[5] महिस[6] मेसेय[7] मसग[8] जलुग[9] बिराली[10] जाहग[11] गो[12] भेरी[13] आभेरी[14] ॥

'सेलघण' इत्यादि, तत्राधिकृतगाथायां । 'आमे घडे निहित्तं जहा जलं तं घडं विणासेइ । इय सिद्धन्तरहस्सं अप्पहारं विणासेइ ॥ १ ॥' प्रथममयोग्यशिष्यविषये मुद्गशैलघनदृष्टान्त उपात्तः, स च काल्पनिकः, मुद्गशैलघनयोर्वक्ष्यमाणप्रकारोऽहंकारादिः न संभवति, तयोरचेतनत्वात् , केवलं शिष्यमतिवितानाय तौ तथा कल्पयित्वा दृष्टान्तत्वेनोपात्तौ, न चैतदनुपपन्नम्, ततो नानुपपन्नः शैलघनदृष्टान्तः, तद्भावना चेयं–इह क्वचिद्गोष्पदायामरण्यान्यां मुद्गप्रमाणः क्षितिधरो मुद्गशैलाभिधानो वर्त्तते, इतश्च जंबूद्वीपप्रमाणः पुष्करावर्त्ताभिधानो महामेघः, तत्र महर्षिनारदस्थानीयः कोऽपि कलहाभिनंदी तयोः कलहमाधातुं प्रथमतो मुद्गशैलस्योपकंठमगमत्, गत्वा च तमेवमभाषिष्ट, भो मुद्गशैल ! क्वचिदवसरे महापुरुषसदसि जलेन भेत्तुमशक्यो मुद्गशैल इति मया त्वद्गुणवर्णनायां क्रियमाणायां नामापि तव पुष्करावर्त्तो न सहते स्म, यथाऽलमनेनालीकप्रशंसावचनेन, ये हि शिखरसहस्राग्रभागोल्लिखितनभोमंडलतलाः कुलाचलादयः शिखरिणस्तेऽपि मदासारो-

पनिपातेन भिद्यमानाः शतशो भेदमुपयांति, किं पुनः स वराको यो मदेकधारोपनिपातमात्रमपि न सहते ?, तदेवमुत्त्रासितो मुद्गशैलः समुज्ज्वलितकोपानलोऽहंकारपुरस्सरं तमेवमवादीत्, भो नारद ! महर्षे ! किमत्र तं प्रति परोक्षे बहुजल्पितेन ?, शृणु मे भाषितमेकं, यदि तेन दुरात्मना सप्ताहोरात्रवर्षिणा मे तिलतुषसहस्रांशमात्रमपि भिद्यते, ततोऽहं मुद्गशैल इति नामापि नोद्वहामि। ततः स पुरुषोऽमूनि मुद्गशैलवचांसि चेतस्यवधार्य कलहोत्थानाय पुष्करावर्त्तमेघसमीपमुपागमत्। मुद्गशैलवचनानि च सर्वाण्यपि सोत्कर्षं तस्य पुरतोऽन्ववादीत्, स च श्रुत्वा तानि च वचनानि कोपमतीवाशिश्रियत्। स च परुषाणि च वचनानि वक्तुं प्रावर्त्तिष्ट। यथा-हा दुष्टः स वराकोऽनात्मज्ञो मामप्येवमधिक्षिपतीति, ततः सर्वादरेण सप्ताहोरात्रान् यावत् निरंतरं मुशलप्रमाणधारोपनिपातेन वर्षितुमयतिष्ट। सप्ताहोरात्रं निरंतरवृष्ट्या च सकलमपि विश्वंभरामंडलं जलप्लावितमासीत्। तत एवैकार्णवकल्पं विश्वमालोक्य चिंतितवान् हतः समूलघातं स वराक इति, ततः प्रतिनिवृत्तो वर्षात्, क्रमेण चापसृते जलसंघाते सहर्षं पुष्करावर्त्तो नारदमेवमवादीत्। भो नारद ! स वराकः संप्रति कामवस्थामुपगतो वर्त्तते इति सहैव निरीक्ष्यतां, ततः तौ सहभूय मुद्गशैलस्य पार्श्वमगमतां, स च मुद्गशैलः पूर्वं धूलीधूसरशरीरत्वात् मंदंमंदमकाशिष्ट, संप्रति तु तस्या अपि धूलेरपनयनादधिकतरमवभासमानो वर्त्तते। ततः स चाकचिक्यमादधानो हसन्निव नारदपुष्करावर्तौ समागच्छंतावेवमभाषिष्ट। समागच्छथः स्वागतं युष्माकं ?, अहो कृतकल्याणा वयं यदतर्कितोपनीतकाञ्चनवृष्टिरिव युष्मद्दर्शनमकांड एव मन्मनो मोददायि संवृत्तं

इति । तत एवमुक्ते भ्रष्टप्रतिज्ञमात्मानमवबुध्य लज्जावनतकंधराशिरोनयनः पुष्करावर्तो यत्किंचिदाभाष्य स्वस्थानं गतः, एवं दृष्टांतः, उपनयस्तु अयं—कोऽपि शिष्यो मुद्गशैलसमानधर्म्मा निरंतरं यत्नतः पाठ्यमानोऽपि पदमप्येकं भावतो नावगाहते, ततोऽयोग्योऽयमिति कृत्वा आचार्यैरुपेक्षितः, तमवबुध्य कोऽप्यन्य आचार्योऽभिनवतरुणिमावेगवशोज्जृंभितमहाबलपराक्रमोऽत एवागणितव्याख्याविधिपरिश्रमो यौवनिकामदवशतोऽपरिभावितगुणागुणविवेको वक्तुमेवं प्रवृत्तो यथा एनमहं पाठयिष्यामि। पठति च लोकानां पुरतः सुभाषितं, " आचार्यस्यैव तज्जाड्यं, यत् शिष्यानाववुध्यते। गावो गोपालकेनैव, कुतीर्थेनावतारिताः ॥ १ ॥" ततस्तं सर्वादरेण पाठयितुं लग्नः, स च मुद्गशैल इव दृढप्रतिज्ञो न भावतः पदमप्येकं स्वचेतसि परिणमयति। ततः खिन्नशक्तिः आचार्यो भ्रष्टप्रतिज्ञमात्मानं जानानो लज्जितो यत्किमप्युत्तरं कृत्वा तत्स्थानादपसृत्य गतः, तत एवं विधाय नेदमध्ययनं दातव्यं यतो न खलु वंध्या गौः शिरःशृंगवदनपृष्टपुच्छोदरादौ सस्नेहं स्पृष्टापि सती दुग्धप्रदायिनी भवति। तथास्वाभाव्यादेव एषोऽपि सम्यक् पाठ्यमानोऽपि पदमप्येकं नावगाहते, ततो न तस्य तावदुपकारः, आस्तां तस्योपकाराभावः प्रत्युत आचार्ये सूत्रे चापकीर्त्तिरुपजायते, यथा न सम्यक् कौशलमाचार्यस्य व्याख्यायां, इदं चाध्ययनं न समीचीनं, कथमयमन्यथा नावबुध्यते ?, इत्यपि च—तथाविधकुशिष्यपाठने तस्यावबोधाभावात् उत्तरोत्तरसूत्रार्थानवगाहने सूरेः सकलावपि शास्त्रांतरगतौ सूत्रार्थौ भ्रंशमाविशतोऽन्येषामपि च पटुश्रोतृणामुत्तरोत्तरसूत्रार्थावगाहनहानिप्रसंगः, उक्तं च भाष्यकारेण—"आयरिए सुत्तंमिय-

परिचाओ सुत्तअत्थपलिमंथो । अन्नेसिं पिय हाणी पुट्ठावि न दुद्धया वंज्जा ॥१॥" मुद्गशैलप्रतिपक्षभूतो योग्यशिष्यविषयो दृष्टान्तः कृष्णभूमिप्रदेशः । तत्र हि प्रभूतमपि जलं निपतितं तत्र एवांतःपरिणमति, न पुनः किंचिदपि ततो बहिरपगच्छति, एवं यो विनेयः सकलसूत्रार्थग्रहणधारणसमर्थः स कृष्णभूमिप्रदेशतुल्यः, स च योग्यस्ततः तस्मै दातव्यमिदमध्ययनमिति, आह च भाष्यकृत् "वुट्ठेवि दोणमेहे न कण्हभोमाओ लोट्टए उदयं । गहणधरणासमत्थे इय देयमिच्छित्ति कारिंति ॥ १ ॥"

संप्रति कुटजदृष्टांतभावना क्रियते । कुटा–घटाः ते द्विधाः–नवीना जीर्णाश्च, तत्र नवीना नाम ये संप्रत्येवापाकतः समानीताः, जीर्णाः द्विविधा–भाविताः अभाविताश्च, भाविता द्विधाः–प्रशस्तद्रव्यभाविता अप्रशस्तद्रव्यभाविताश्च, तत्र ये कर्पूरागुरुचंदनादिभिः प्रशस्तैर्द्रव्यैर्भाविताः ते प्रशस्तद्रव्यभाविताः, ये पुनः पलांडुलशनसुरातैलादिभिर्भावितास्ते अप्रशस्तद्रव्यभाविताः, प्रशस्तद्रव्यभाविता अपि द्विधा–वाम्या अवाम्याश्च, अभाविता नाम ये केनापि द्रव्येण न वासिताः, एवं शिष्या अपि प्रथमतो द्विधाः–नवीना जीर्णाश्च, तत्र ये बालभाव एवाद्यापि वर्ततेऽज्ञानिनः संप्रत्यवबोधयितुमारब्धास्ते नवीनाः, जीर्णा द्विधाः–भाविता अभाविताश्च। तत्राभाविता ये केनापि दर्शनेन न वासिताः । भाविता द्विधा–कुप्रावचनिकपार्श्वस्थादिभिः संविग्नैश्च, कुप्रावचनिकपार्श्वस्थादिभिरपि भाविता द्विधा वाम्या अवाम्याश्च, संविग्नैरपि भाविधाः द्विधाः–वाम्या अवाम्याश्च, तत्र ये नवीना ये जीर्णा अभाविता ये च कुप्राव-

चनिकादिभाविता अपि वाम्याः, ये च संविग्नभाविता अवाम्यास्ते सर्वेऽपि योग्याः, शेषा अयोग्याः, अथवाऽन्यथा कुटदृष्टान्तभावना इह चत्वारः कुटाः, तत् यथा छिद्रकुटः, कण्ठहीनकुटः,खण्डकुटः, [सम्पूर्णकुटश्च,] [तत्र यस्याधोबुध्ने छिद्रं स च्छिद्रकुटः], यस्य पुनः ओष्ठपरिमण्डलाभावः स कंठहीनकुटः, यस्य पुनः एकपार्श्वे खण्डे हीनः स खण्डकुटः, यः पुनः सम्पूर्णावयवः स सम्पूर्णकुटः, एवं शिष्या अपि चत्वारो वेदितव्याः । तत्र यो व्याख्यानमण्डल्यां उपविष्टः सर्वमवबुध्यते व्याख्यानादुत्थितश्च न किमपि स्मरति स छिद्रकुटसमानो, यथा हि च्छिद्रकुटो यावत्तदवस्थ एव गाढमवनिसंलग्नोऽवतिष्ठते [न] तावत्किमपि जलं ततः स्रवति, स्तोकं वा किञ्चिदिति । एवमेषोऽपि यावदाचार्यः पूर्वापरानुसंधानेन सूत्रार्थमुपदिशति तावत् अवबुध्यते, उत्थितश्चेत् व्याख्यामण्डल्याः तर्हि स्वयं पूर्वापरानुसंधानशक्तिविकलत्वात् न किमपि अनुस्मरतीति,यस्तु व्याख्यानमण्डल्यां अपि उपविष्टोऽर्द्धमात्रं त्रिभागं चतुर्भागं वा हीनं वा सूत्रार्थं अवधारयति यथावधारितं च स्मरति स खण्डकुटसमानः, यस्तु किञ्चिदूनं सूत्रार्थं अवधारयति पश्चादपि तथैव च स्मरति स कण्ठहीनः कुटसमानः, यस्तु सकलमपि सूत्रार्थं आचार्योक्तं यथावदवधारयति पश्चादपि तथैव स्मृतिपथं अवतारयति स संपूर्णकुटसमानः, अत्र छिद्रकुटसमानः एकांतेनायोग्यः, शेषास्तु योग्याः, यथोत्तरं च प्रधानाः प्रधानतरा इति ॥ ३ ॥

संप्रति चालनीदृष्टान्तभावना । चालिनी लोकप्रसिद्धा, यया कणिकादि चाल्यते । यथा चालिन्यामुदकं प्रक्षिप्यमाणं तत्क्षणादेव अधोगच्छति न पुनः कियन्तं अपि कालं अवतिष्ठते । तथा यस्य सूत्रार्थःप्रदीयमानो यदा एव कर्णे प्रविशति तदा एव विस्मृतिपथमुपैति स चालिनीसमानः ॥ ४ ॥

तथा च मुद्गशैलच्छिद्रकुटचालिनीसमानशिष्यभेदप्रदर्शनार्थं उक्त भाष्यकृता । "सेलेय च्छिद्द चालिणी, मिहो कहा सोउमुट्ठियाणं तु । छिद्दाह तत्थविट्ठो सुमरिंसु रामिसनेयाणिं ॥१" "एगेण बीसइ वीएण नीइ कण्णेण चालणी आह धन्नोत्थ आह सेलो जं पविसइ नीसरइ वा तुज्झं ॥२॥" तत एषोऽपि चालनीसमानो न योग्यः चालनीप्रतिपक्षभूतं च वंशदलनिर्म्मापितं तापसभाजनं, ततो हि विंदुमात्रं अपि जलं न स्रवति । उक्तं च-"तावसखउरकठिणयं चालणिपडिवक्ख न सवइ दवं पि" [परिपूणगम्मिय गुणा गलंति दोसाय चिठंति ॥ ३ ॥] ततस्तत्समानो योग्यः इति ॥ ५ ॥

संप्रति परिपूणकदृष्टांतो भाव्यते । परिपूणको नाम घृतक्षीरगालकं सुगृहाभिधचटिकाकुलायो वा, तेन हि आभीर्यो घृतं गालयंति । ततो यथा सपरिपूणकः कचवरं धारयति घृतं उज्झति, तथा शिष्योऽपि यो व्याख्यावाचनादौ दोषान् अभिगृह्णाति गुणांस्तु मुंचति स परिपूणकसमानः, स च अयोग्यः । आह च आवश्यकचूर्णिकृत्-" वक्खाणाईसु दोसा हिययंमि ठवइ झयइ गुणजालं । सो सीसो उ अजोगो भणिओ परिपूणगसमाणो ॥ १ ॥ " आह च--सर्वज्ञमतेऽपि दोषा संभवंति इति अश्रद्धेयं । एतत्सत्यमुक्तं अत्र भाष्यकृता-सव्वण्णुपामण्णा दोसा हु न संति जिणमए के वि । जं अणुवउत्तकहणं अपत्तमासज्जम व हवेज्ज ॥ १ ॥ ६ ॥"

संप्रति हंसदृष्टान्तभावना-यथा हंसः क्षीरमुदकमिश्रितं अपि उदकं अपहाय क्षीरं आपिबति तथा शिष्योऽपि यो गुरोः अनुपयोगसम्भवान् दोषान् अवधूय गुणानेव केवलान् आदत्ते स हंससमानः, स च एकान्तेन योग्यः । ननु हंसः क्षीरं उदकमिश्रितं अपि कथं विभक्तीकरोति ?, येन क्षीरं एव केवलं आपिबति न तु उदकं इत्युच्यते । तत् जिह्वाया आम्लत्वेन क्षीरस्य कूर्चिकीभूय

पृथग्भवनात्। उक्तं च-"अंबत्तणेण जीहाए कूचिया होइ खीरमुदगंमि। हंसो मोत्तूण जलं आवियइ पयं तह सुसीसो ॥१॥"

"मोत्तूण दंडदोसे गुरुणोणुवउत्तभासियाणंपि। गिण्हइ गुणे उ जो सो जोग्गो समयत्थसारस्स ॥१॥७॥ इदानीं महिषदृष्टान्तभावना-

यथा महिषो निपानस्थानं अवाप्तः सन् उदकमध्ये प्रविश्य तत् उदकं मुहुर्मुहुः शृङ्गाभ्यां ताडयन् अवगाहमानश्च सकलं अपि कलुषीकरोति। ततो न स्वयं पातुं शक्नोति नापि यूथं, तद्वत् शिष्योऽपि यो व्याख्यानप्रबन्धावसरेऽकाण्ड एव क्षुद्रपृच्छाभिः कलहविकथादिभिः वाऽऽत्मनः परेषां चानुयोगश्रवणविघातं आधत्ते स महिषसमानः, स च एकान्तेन अयोग्यः, उक्तं च-सयमवि न पियइ महिसो न ज जूहं पियइ लोडियं उदगं। विग्गहविकहाहिं तहा अथक्कपुच्छाहि य कुसीसो ॥१॥" ६ ॥

मेषोदाहरणभावना-यथा मेषो वदनस्य तनुत्वात् स्वयं च निभृतात्मा गोष्पदमात्रस्थितमपि जलं अकलुषीकुर्वन् पिबति तथा शिष्योऽपि यः पदमात्रमपि विनयपुरस्सरं आचार्यचित्तं प्रसादयन् पृच्छति स मेषसमानः, स च एकान्तेन योग्यः ॥ ७॥

मसकदृष्टान्तभावना-यः शिष्यो मसक इव जात्यादिकं उद्घट्टयन् गुरोः मनसि व्यथां उत्पादयति स मसकसमानः स च योग्यः।८।

जलौकादृष्टांतभावना यथा जलौकाः शरीरं अदुन्वती रुधिरं आकर्षति, तथा शिष्योऽपि यो गुरुं अदुन्वन् श्रुतज्ञानं आपिबति स जलौकासमानः। - ॥ व अदूमिंतो पियइ सुसीसो वि सुयनाणं ॥ ९ ॥

छर्दयित्वा]पिबति,तथा दुष्टस्वभावत्वात्,एवं शिष्योऽपि यो विनय-
यानादुत्थितेभ्यः केभ्यश्चित्, स बिडालीसमानः,स च अयोग्यः।१०।

तथा च मुद्गशैलच्छिद्रकुटचालिनीसमानशिष्यभेदप्रदर्शनार्थं उक्त भाष्यकृता । "सेलेय च्छिद्द चालिणी, मिहो कहा सोउमुट्ठियाणं तु । छिद्दाह तत्थविट्ठो सुमरिंसु रामिसनेयाणिं ॥१" "एगेण बीसइ बीएण नीइ कण्णेण चालणी आह धन्नोत्थ आह सेलो जं पविसइ नीसरइ वा तुज्झं ॥२॥" तत एषोऽपि चालनीसमानो न योग्यः चालनीप्रतिपक्षभूतं च वंशदलनिर्म्मापितं तापसभाजनं, ततो हि विंदुमात्रं अपि जलं न स्रवति । उक्तं च-"तावसखउरकठिणयं चालणिपडिवक्ख न सवइ दवं पि" [परिपूणगम्मिय गुणा गलंति दोसाय चिठंति ॥ ३ ॥] ततस्तत्समानो योग्यः इति ॥ ५ ॥

संप्रति परिपूणकदृष्टांतो भाण्यते । परिपूणको नाम घृतक्षीरगालकं सुगृहाभिधचटिकाकुलायो वा, तेन हि आभीर्यो घृतं गालयंति । ततो यथा सपरिपूणकः कचवरं धारयति घृतं उज्झति, तथा शिष्योऽपि यो व्याख्यावाचनादौ दोपान् अभिगृह्णाति गुणांस्तु मुंचति स परिपूणकसमानः, स च अयोग्यः । आह च आवश्यकचूर्णिकृत्-" वक्खाणाईसु दोसा हिययंमि ठवइ झयइ गुणजालं । सो सीसो उ अजोगो भणिओ परिपूणगसमाणो ॥ १ ॥ " आह च--सर्वज्ञमतेऽपि दोषा संभवंति इति अश्रद्धेयं । एतत्सत्यमुक्तं अत्र भाष्यकृता-सव्वण्णुपामण्णा दोसा हु न संति जिणमए के वि । जं अणुवउत्तकहणं अपत्तमासज्जम व हवेज्ज ॥ १ ॥ ६ ॥"

संप्रति हंसदृष्टान्तभावना-यथा हंसः क्षीरमुदकमिश्रितं अपि उदकं अपहाय क्षीरं आपिबति तथा शिष्योऽपि यो गुरोः अनुपयोगसम्भवान् दोपान् अवधूय गुणानेव केवलान् आदत्ते स हंससमानः, स च एकान्तेन योग्यः । ननु हंसः क्षीरं उदकमिश्रितं अपि कथं विभक्तीकरोति ?, येन क्षीरं एव केवलं आपिबति न तु उदकं इत्युच्यते । तत् जिह्वाया आम्लत्वेन क्षीरस्य कूर्चिकीभूय

पृथग्भवनात् । उक्तं च-"अंबत्तणेण जीहाए कूचिया होइ खीरमुदगंमि । हंसो मोत्तूण जलं आवियइ पयं तह सुसीसो ॥ १ ॥"

"मोत्तूण दंडदोसे गुरुणोणुवउत्तभासियाणंपि। गिण्हइ गुणे उ जो सो जोग्गो समयत्थसारस्स ॥१॥७॥ इदानीं महिषदृष्टान्तभावना-

यथा महिषो निपानस्थानं अवाप्तः सन् उदकमध्ये प्रविश्य तत् उदकं मुहुर्मुहुः शृङ्गाभ्यां ताडयन् अवगाहमानश्च सकलं अपि कलुषीकरोति । ततो न स्वयं पातुं शक्नोति नापि यूथं, तद्वत् शिष्योऽपि यो व्याख्यानप्रबन्धावसरेऽकाण्ड एव क्षुद्रपृच्छाभिः कलहविकथादिभिः वाऽऽत्मनः परेषां चानुयोगश्रवणविघातं आधत्ते स महिषसमानः, स च एकान्तेन अयोग्यः, उक्तं च-सयमवि न पियइ महिसो न ज जूहं पियइ लोडियं उदगं । विग्गहविकहाहिं तहा अथकपुच्छाहि य कुसीसो ॥ १ ॥" ६ ॥

मेषोदाहरणभावना-यथा मेषो वदनस्य तनुत्वात् स्वयं च निभृतात्मा गोष्पदमात्रस्थितमपि जलं अकलुषीकुर्वन् पिबति तथा शिष्योऽपि यः पदमात्रमपि विनयपुरस्सरं आचार्यचित्तं प्रसादयन् पृच्छति स मेषसमानः, स च एकान्तेन योग्यः ॥ ७॥

मसकदृष्टान्तभावना-यः शिष्यो मसक इव जात्यादिकं उद्घट्टयन् गुरोः मनसि व्यथां उत्पादयति स मसकसमानः स च योग्यः।८।

जलौकादृष्टांतभावना यथा जलौकाः शरीरं अदुन्वती रुधिरं आकर्षति, तथा शिष्योऽपि यो गुरुं अदुन्वन् श्रुतज्ञानं आपिबति स जलौकासमानः । उक्तं-जलूगा व अदूमिंतो पियइ सुसीसो वि सुयनाणं ॥ ९ ॥

बिडालीदृष्टान्तभावना-यथा बिडाली भाजनसंस्थं क्षीरं भूमौ[छर्दयित्वा]पिबति,तथा दुष्टस्वभावत्वात् ,एवं शिष्योऽपि यो विनय-करणादिहीनतया न साक्षात् गुरुसमीपे गत्वा शृणोति,किंतु व्याख्यानादुत्थितेभ्यः केभ्यश्चित् , स बिडालीसमानः,स च अयोग्यः।१०।

तथा जाहकः-तिर्यक् विशेषः, तत् दृष्टांतभावना-यथा जाहकः स्तोकं स्तोकं क्षीरं पीत्वा पार्श्वाणि लेढि, तथा शिष्योऽपि यः पूर्वं गृहीतं सूत्रं अर्थं वा अतिपरिचितं कृत्वा अन्यत् पृच्छति, स जाहकसमानः, स च योग्यः ॥ ११ ॥

संप्रति गोदृष्टान्तभावना क्रियते-यथा केनापि कौटुम्बिकेन कस्मिंश्चित् पर्वणि चतुर्भ्यश्चतुर्वेदपारगामिभ्यो विप्रेभ्यो गौर्दत्ता, ततस्ते परस्परं एवं चिन्तयामासुः। यथा इयं एका गौः चतुर्णां अस्माकं कथं कर्त्तव्या?, तत्र एकेन उक्तं--परिपाट्या दुह्यतां इति, तच्च समीचीनं प्रतिभातं इति सर्व्वैः प्रतिपन्नं, ततो यस्य प्रथमदिवसे गौः आगता तेन चिंतितं--यथाहमद्यैव धोक्ष्यामि, कल्ये पुनः अन्यो धोक्ष्यति। ततः किं निरर्थिकां अस्याः चारिं वहामि, ततो न किञ्चिदपि तस्यै तेन दत्तं। एवं शेषैरपि, ततः सा श्वपाककुलनिपतितेव तृणसलिलादिविरहिता गतासुरभूत्ततः समुत्थितःतेषां धिग्जातीयानां अवर्णवादो लोके शेषगोदानादिलाभव्यवच्छेदश्च, एवं शिष्या अपि ये चिंतयंति न खलु केवलानां अस्माकं आचार्यो व्याख्यानयति, किंतु प्रतीच्छिकानां अपि, ततस्त एव विनयादिकं करिष्यन्ति, किं अस्माकमिति? प्रतीच्छिका अपि चिंतयन्ति निजशिष्याः सवं करिष्यन्ति। किं अस्माकं कियत्कालावस्थायिनामिति? ततस्तेषां एवं चिन्तयतां अपान्तराल एव आचार्योऽवसीदति, लोके च तेषां अवर्णवादो जायते, अन्यत्रापि च गच्छान्तरे दुर्लभौ तेषां सूत्रार्थौ, ततः ते गोप्रतिग्राहकचतुर्द्विजातय इव अयोग्या द्रष्टव्याः। उक्तं च—"अन्नो दोज्जिइ कल्ले निरत्थयं से वहामि किं चारिं? चउचरणगवी उ मया अवण्णहाणी व बडुआणं ॥ १ ॥ सीसा पडिगच्छगाणं भरोत्ति ते विहु सीसगभरो त्ति। न करिंति सुत्तहाणी अन्नत्थ वि दुल्लहं तेसिं ॥ २ ॥" एष एव गोदृष्टान्तः प्रतिपक्षेऽपि योजनीयः, यथा कश्चित्

अश्वरत्नं सकललोकसमक्षं अपहृतवान्, धावितश्च मार्गतः सर्वोऽपि उद्गीर्णखड्गकुन्तादिः अङ्गरक्षकादिपदातिवर्गः, समुच्छलितश्च महान् कोलाहलो ज्ञातश्च अयं व्यतिकरः केशवेन, प्रधाविताश्च सकोपं दिशोदिशं सर्वेऽपि कुमाराः, मुंचन्ति च यथाशक्ति प्रहारान्, परं सुरो दिव्यशक्त्या तान् सर्वानपि लीलया विजित्य मंदं २ गन्तुं प्रवृत्तः, ततः प्राप्तः केशवः, पृष्टश्च तेन अश्वापहारी–भोः किं मदीयं अश्वरत्नं अपहरसि ?। तेन उक्तं–शक्नोमि अपहर्तुं, यदि पुनः अस्ति ते काऽपि शक्तिस्तर्हि मां युद्धे विनिर्जित्य प्रतिगृहाण, ततः केशवः तत्पौरुषरंजितमनस्कः सहर्षं एवमवादीत्–भो महापुरुष ! येन युद्धेन ब्रूषे तेन युध्येऽहं, ततः सर्वाणि अपि युद्धानि केशवो नामग्राहं वक्तुं प्रवृत्तः, प्रतिषेधति च सर्वाणि अपि सुरसद्मजन्मा, ततो भूयः केशवो वदति–कथय तर्हि केन युद्धेन युध्येऽहं इति, ततः स प्राह–पूतयुद्धेन, ततः कर्णौ पिधाय शल्यहृदय इव हाशब्दव्याहारपुरस्सरं तं प्रत्येवमवादीत्–गच्छ गच्छ अश्वरत्नं अपि गृहीत्वा, न अहं नीचयुद्धेन युध्ये इति, तदेतत् श्रुत्वा हर्षवशोज्जृंभितपुलकमालोपशोभितं वपुः आदधानः सविस्मयं सुरसद्मजन्मा स्वचेतसि चिंतयामास–अहो महोत्तमता केशवानामत एव शतसहस्रसंख्यनमदमरकिरीटकोटिसङ्घर्षमसृणीकृतपादपीठानां मघवतां अपि एते प्रशंसार्हास्तत एवं चिन्तयित्वा सानन्दमवेक्ष्यमाणो वक्तुं प्रवृत्तो भोः केशव ! न अहं अश्वापहारी, किन्तु त्वद्गुणपरीक्षानिमित्तं एवं कृतवान्, ततः सकलं अपि शक्रप्रशंसादिकं पूर्ववृत्तांतं अचकथत्। ततः स्वगुणप्रशंसाश्रवणलज्जितोऽवनतमनाकंधरः कुड्मलितकरसंपुटो जनार्दनस्तमुदंतपर्यंते मुत्कलयामास स्वस्थाने, सुरोऽपि च सकलविश्वासाधारणकेशवगुणदर्शनतो हृष्टमनाः तं प्रत्येवं अवादीत्–महापुरुष ! देवदर्शनं अमोघं मनुजजन्मनां इति प्रवादो जगति प्रसिद्धो मा विफलतामापत् इति वद किंचिदभीष्टं येन करोमि, इति ततः केशवोऽब्रवीत्–वर्त्तते संप्रति द्वारवत्यां अशिवं, ततः तत्प्रतिविधानं आतिष्ठ, येन भूयोऽपि न भवति। ततो

गोशीर्षचन्दनमयीं अशिवोपशमनीं देवो भेरीमदात्, कल्पं च अस्याः कथयामास—यथा षण्मासषण्मासपर्यंते निजास्थानमंडपे वाद्या एषा भेरी, शब्दश्च अस्याः सर्वतो द्वादशयोजनव्यापी जलभृतमेघध्वनिः इव गम्भीरो विजृंभिष्यते। यश्च शब्दं श्रोष्यति तस्य प्राक्तनो व्याधिः नियमतः अपयास्यति, भावी च भूयः षण्मासादर्वाक् न भविष्यति। तत एवं उक्त्वा देवः स्वस्थानं अगमत्। वासुदेवोऽपि तां भेरीं सदैव भेरीताडननियुक्तान् समर्पितवान्, शिक्षां चास्मै ददौ। यथा षण्मास २ पर्यंते मम आस्थान-मण्डपे वाद्या एषा त्वया भेरी, यत्नतश्चावनीया, ततः सकलस्वलोकसामन्तादिबलसमन्वितो निजप्रासादमायासीत्। मुत्कलितश्च प्रतीहारेण सर्वोऽपि लोकः, ततो द्वितीयदिवसे मुकुटोपशोभितानेकपार्थिवसहस्रपर्युपास्यमानो निजास्थानमण्डपे विशिष्टसिंहासनोपविष्टः शक्र इव देवैः परिवृतो विराजमानः तां भेरीं अताडयत्। भेरीशब्दश्रवणसमनंतरं एव च दिनपतिकरनिकरताडितं अंधकारं इव द्वार-वतीपुरि सकलं अपि रोगजालं विध्वंसं उपागमत्। ततः प्रमुदितः सर्वोऽपि पौरलोकः आशास्ते सदैव अधिपतित्वेन जनार्द्दनं, तदेवं व्याधिविकले गच्छति काले कोऽपि दूरदेशान्तरवर्त्ती धनाढ्यो महारोगाभिभूतो भेरीशब्दमाहात्म्यं आकर्ण्य द्वारवतीं आगमत्, स च दैवविनियोगाद् भेरीताडनदिवसातिक्रमे प्राप्तः। ततोऽचिन्तयत्—कथं इदानीं अहं भविष्यामि?, यतो भूयो भेरीताडनं षण्मासातिक्रमे, षड्भिश्च मासैः एष प्रवर्द्धमानो व्याधिः असूनपि नियमात्कवलयिष्यति। ततः किं करोमि इति?, तत इत्थं कतिपयदिनानि चिन्ताशोकसागरनिमग्नः कथं अपि शेमुषीपोतमासाद्योन्मंक्तुं लग्नो—यथा यदि तस्याः शब्दतोऽपि रोगोऽपयाति ततस्त-देकदेशस्य घर्षित्वा पाने सुतरां अपयास्यति, प्रभूतं मे स्वं, ततः प्रलोभयामि धनेन ढाक्किकं, येन तच्छकलं एकं मे समर्पयति। ततः प्रलोभितो धनेन ढाक्किकः, नीचसत्त्वा हि दुष्टदारा इव निरन्तरं धनादिभिः सन्मान्यमाना अपि व्यभिचरन्ति निजपतेः,

कौटुम्बिको धर्मश्रद्धया चतुर्भ्यश्चतुर्वेदपारगामिभ्यो गां दत्तवान्, तेऽपि च पूर्ववत् परिपाट्या दोग्धुमारब्धास्तत्र यस्य यस्य प्रथमदिवसे सा गौरागता स स चिंतितवान्, यदि अहं अस्याः चारिं न दास्यामि ततः क्षुधा धातुक्षयादेषा प्राणानपहास्यति । ततो लोकेषु मे गोहत्याऽवर्णवादो भविष्यति । पुनरपि चास्मभ्यं न कोऽपि गवादिकं दास्यति, अपि च–यदि मदीयचारिचरणेन पुष्टा सती शेषैः अपि ब्राह्मणैर्धोक्ष्यति ततो मे महाननुग्रहो भविष्यति, अहमपि च परिपाट्या पुनः अपि एनां धोक्ष्यामि, ततोऽवश्यमस्यै दातव्या चारिः इति ददौ चारिं, एवं शेषा अपि ददुः । ततः सर्वेऽपि चिरकालं दुग्धाभ्यवहारभाजिनो जाताः, लोके च समुच्छलितः साधुवादो लभन्ते च प्रभूतं अन्यदपि गवादिकं, एवं येऽपि विनेयाः चिन्तयन्ति–यदि वयं आचार्यस्य न किमपि विनयादिकं विधातारः तत एषोऽवसीदन् अवश्यं अपगतासुर्भविष्यति । लोके च कुशिष्या एते इति अवर्णवादो विजृंभिष्यते, ततो गच्छान्तरेऽपि न वयमवकाशं लप्स्यामहे । अपि च–अस्माकं एष प्रव्रज्याशिक्षाव्रतारोपणादिविधानतो महानुपकारी, सम्प्रति च जगति दुर्लभं श्रुतरत्नं उपयच्छन् वर्त्तते । ततोऽवश्यमेतस्य विनयादिकं अस्माभिः कर्त्तव्यं, अन्यच्च–यदि अस्मदीयविनयादिसहायकबलेन प्रातीच्छिकानां अपि आचार्यत उपकारः किं अस्माभिर्न लब्धम्?, द्विगुणतरपुण्यलाभश्च अस्माकं भवेत् । प्रातीच्छिका अपि ये चिन्तयन्ति–अनुपकृतोपकारी भगवान् आचार्योऽस्माकं, को नामाऽन्यो महान्तमेवं व्याख्याप्रयासमस्मन्निमित्तं विदधाति?। किं एतेषां वयं प्रत्युपकर्तुं शक्ताः?, तथापि यत् कुर्म्मः सः अस्माकं महान् लाभ इति परानिरपेक्षं विनयादिकं आदधते, तेषां नावसीदति आचार्योऽव्यवच्छिन्ना च सूत्रार्थप्रवृत्तिः, समुच्छलति च सर्वत्र साधुवादः, गच्छान्तरे च तेषां सुलभं श्रुतज्ञानं परलोके च सुगत्यादिलाभ इति ॥ १२ ॥

सम्प्रति भेरीदृष्टान्तभावना–इह शक्रादेशेन वैश्रवणयक्षनिर्म्मापितायां काञ्चनमयप्राकारादिपरिकरितायां पुरि द्वारवत्यां त्रिखण्डभरतार्द्धाधिपत्वं अनुभवति केशवे कदाचित् अशिवं उपतस्थौ । इतश्च द्वात्रिंशद्विमानशतसहस्रसंकुले सौधर्मकल्पे सुधर्म्माभिधसभोपविष्टः सर्वतो दिवौकःपर्युपास्यमानः शक्राभिधानो मघवा पुरुषगुणविचारणाधिकारे केशवं इलाधःस्थितमवधिना समधिगम्य सामान्यतः तत्प्रशंसामकार्षीत्–अहो महानुभावा विष्णवो यत् दोषबहुलेऽपि वस्तुनि स्वभावतो गुणं एव गृह्णन्ति, न दोषलेशं अपि, न च नीचयुद्धेन युद्ध्यन्ते इति, इत्थं च मघवता केशवस्तुतिं अधीयमानां असहमानः कोऽपि दिवौकाः परीक्षार्थं इहावतीर्य येन भगवदरिष्टनेमिनमस्करणाय केशवो यास्यति तस्मिन् पथि अपान्तराले क्वचित्प्रदेशे समुत्त्रासितसकलजनमहादुरभिगन्धसंकुलं अतीव दीप्यमानमहाकालमकलितं विवृतमुखं उत्पादितश्वेतदन्तपंक्ति गतप्राणं इव शुनोरूपं विधाय प्रातरवतस्थे । केशवोऽपि चोज्जयन्तगिरिसमवसृतभगवदरिष्टनेमिनमस्कृतये तेन पथा गन्तुं प्रववृते, पुरोयायी च पत्त्यादिवर्गः समस्तोऽपि तद्गन्धसमुत्त्रासितो वस्त्राञ्चलपिहितनासिकस्त्वरितं इतस्ततो गन्तुमारभे, ततः पृष्टं केशवेन–किमिति पुरोयायिनः सर्वे पिहितनासिकाः समुत्त्रासं आदधते ? । ततः कोऽपि विदितवेद्यो विज्ञपयामास–देव ! पुरो महापूतिगन्धिः श्वा मृतो वर्त्तते, ततः तद्गन्धं असहमानः सर्वोऽपि त्रासं अगमत् । केशवश्च महोत्तमतया तद्गन्धात् अनुत्रस्यन् तेन पथा गन्तुं प्रवृत्तोऽवैक्षिष्ट च तं मृतं श्वानं, परिभावयामास च सकलं अपि तस्य रूपं, ततो गुणप्रशंसामकर्त्तुमशक्नुवन् प्रशंसितुं आरभते स्म–अहो जात्यमरकतमयभाजनविनिशितमुक्तामणिश्रेणिः इव शोभतेऽस्य वपुषि कालिमकलिते श्वेतदन्तपद्धतिः इति, तां च प्रशंसां श्रुत्वा सविस्मयं सुरसद्मजन्मा चिन्तयामास–अहो यथोक्तं मघवता तथैव इति । ततो दूरं गते केशवे तद्रूपं उपसंहृत्य कियत्कालं स्थित्वा गृहमागते केशवे युद्धपरीक्षानिमित्तं मंदुरागतं एकं

योजितं । एवमन्यान्यदेशांतरायातरोगिजनेभ्यो धन- ततस्तेन तच्छशकलमेकं तस्मै व्यतीरिष्ट ततः स्थाने च तस्यामन्यशकलं योजितं । एवमन्यान्यदेशांतरायातरोगिजनेभ्यो धन- लुब्धतया खण्डखण्डप्रदाने सकलापि भेरी कंथेव खण्डसंघातात्मिका कृता, ततोऽपगतो दिव्यप्रभावः, ततस्तदवस्थमेव अशिवं प्रावर्तिष्ट, समुत्थितश्चारावोऽशिवप्रादुर्भावविषयः पौरजनानां, विज्ञप्तश्च महत्तरैर्जनार्दनः भूयोऽपि विजृम्भते वर्षासु कृष्णशर्वर्यामन्धकारं इव पुरि द्वारवत्यां महदशिवं । ततः प्रातरास्थानमण्डपे सिंहासने समुपविश्याकारितो भेरीताडननियुक्तः पुमान्, दत्तश्चादेशोऽस्मै भेरीताडने, ततः ताडिता तेन भेरी, साऽपगतदिव्यप्रभावा न भांकारशब्देनास्थानमण्डपमात्रमपि पूरयति । ततो विस्मितो जना- र्दनो–यथा किं एषा नास्थानमण्डपमपि भांकारशब्देन पूरयितुं शक्नुवती ?, ततः स्वयं निभालमास तां भेरीं, दृष्टा च सा महा दरिद्रकंथेव लघुतरशकलसहस्रसङ्घातात्मिका, ततश्चुकोप तस्मै जनार्दनो–रे दुष्टाधम ! किमिदं अकार्षीः ?, ततः स प्राणभयात्सकलमपि यथावस्थितमचीकथत् । ततो महानर्थकारित्वात्स तत्कालं एव निरोपितो विनाशाय, ततो भूयोपि जनार्दनो जनानुकम्पया पौषध- शालां उपगम्य अष्टमभक्तविधानतः तं देवं आराधयामास, ततः प्रत्यक्षो बभूव स देवः, कथितवांश्च जनार्दनः प्रयोजनं, ततो भूयोऽपि दत्तवान् अशिवोपशमिनीं भेरीं, तां चाप्तत्वेन सुनिश्चिताय कृष्णः समर्पयामास एष दृष्टान्तः, अयमर्थोपनयः–यथा भेरी तथा प्रवचनावगतौ सूत्रार्थौ, यथा च भेरीशब्दश्रवणतो रोगापगमः तथा सिद्धांतस्य प्रभावतः श्रवणतो वा जंतूनां कर्मविनाशस्ततो यः सूत्रार्थौ अपान्तराले विस्मृत्य विस्मृत्य अन्यतः सूत्रं अर्थं वा संयोज्य कंथासमानौ करोति स भेरीताडननियुक्तप्रथमपुरुषसमानः,स च एकांतेन अयोग्यः, यस्तु आचार्यप्रणीतौ सूत्रार्थौ यथावदवधारयति साभेरीताडननियुक्तपाश्चात्यपुरुष इव कल्याणसंपदे योग्यः ॥१३॥

सम्प्रति आभीरीदृष्टान्तभावना–कश्चिदाभीरो निजभार्यया सह विक्रयाय घृतं गंत्र्यां गृहीत्वा पत्तनं अवतीर्णश्चतुःपथे समा-

गत्य वणिगापणेषु पणायितुं प्रवृत्तो, घटितश्च पणाय संट्टंकः, ततः समारब्धे घृतमापे गंत्र्या अधस्तादवस्थिता आभीरी, घृतं भर्त्रा वारकेण समर्प्यमाणं प्रतीच्छति । ततः कथं अपि अर्पणे ग्रहणे वानुपयोगतः अपांतराले वारकापरपर्यायो लघुघृतघटो भूमौ निपत्य खंडशो भग्नः, ततो घृतहानिदुर्मनाः पतिः उल्लपितुं खरपरुषवाक्यानि प्रावर्त्तत । यथा हा पापीयसि ? दुःशीले कामविडंबितमानसे ? नरतरुणिमाभिरमणीयं पुरुषान्तरं अवलोकसे न सम्यग्घृतघटं अभिगृह्णासि । ततः सा खरपरुषवाक्यश्रवणतः समुत्थितकोपावेशवशोच्छलितकंपितपीनपयोधरा स्फुरदधरबिंबोष्ठी दूरोत्पाटितभ्रूः एषा धनुःअवष्टंभतो नाराचश्रेणिमिव कृष्णकटाक्षसंततिं अविरतं प्रतिक्षिपत् प्रत्युवाच—हा ग्रामेयकाधम ! घृतघटं अपि अवगणय्यविदग्धमत्तकामिनीनां मुखारविंदानि अवलोकसे, न च एतावताऽवतिष्ठसे, ततः खरपरुषवाक्यैः मामपि अधिक्षिपसि । ततः स एवं प्रत्युक्तोऽतीवज्वलितकोपानलो यत्किंचिदसिद्धं भाषितुं लग्नस्ततः साप्येवं, समभूत्तयोः केशाकेशी, ततो विसंस्थुलपादादिन्यासतः सकलं अपि प्रायो गंत्रीघृतं भूमौ निपतितं । तत्किंचित्स्तोकं अपगतमवशेषं चावलीढं श्वभिः, गंत्रीघृतं अपि शेषीभूतमपहृतं पश्यतो हरैः, सार्थिका अपि स्वं स्वं घृतं विक्रिय स्वग्रामगमनं प्रपन्ना स्ततः प्रभूतदिवसभागातिक्रमेण अपसृते युद्धे स्वास्थ्ये च लब्धे यत् किंचित्प्रथमतो विक्रयामासतुर्घृतं तत् द्रव्यमादाय तयोः स्वग्रामं गच्छतो अपांतराले अस्तंगते सहस्रभानौ सर्वतः प्रसरं अभिगृह्णति तमोविताने परास्कंदिनः समागत्य वासांसि द्रव्यं बलीवर्द्दौ च अपहृतवंतस्तत एवं तौ महतो दुःखस्य भाजनं अजायेतां । एष दृष्टान्तोऽयमुपनयः—यो विनेयोऽन्यथा प्ररूपयन् अधीयानो वा कथं अपि खरपरुषवाक्यैः आचार्येण शिक्षितोऽधिक्षेपपुरस्सरं प्रतिवदति—यथा त्वया एव इत्थमहं शिक्षितः, किं इदानीं निह्नुषे ? इत्यादि, स न केवलं आत्मानं संसारे पातयति, किन्तु आचार्यं अपि खरपरुषप्रत्युच्चारणादिना तीव्रतीव्रतरकोपानलज्वालनाद्भवन्ति च कुविनेया

मृदोरपि गुरोः खरपरुषप्रत्युच्चारणादिना कोपप्रकोपकाः, यत उक्तं उत्तराध्ययनेषु-" अणासवा थूलवया कुसीला, मिउंपि चंडं पकरंति सीसा " इति। अपि च-गुणगुरवो गुरवस्ततः ते यदि कथं अपि दुष्टशैक्षशिक्षापणे न कोपं उपागमन् तथापि तेषां भगवदाज्ञाविलोपतो गुर्वी आशातना ततश्चोपचिताशुभगुरुकर्म्माणो नियमतो दीर्घतरसंसारभागिनः, किञ्च-एवं स वर्त्तमानो मतिमान् अपि श्रुतरत्नाद्बहिर्भवति। अन्यत्रापि तस्य दुर्लभश्रुतत्वात् कोहि नाम सचेतनो दीर्घतरजीविताभिलाषी सर्प्पमुखे स्वहस्तेन पयोबिन्दून् प्रक्षिपति इति, स एकान्तेन अयोग्यः ? प्रतिपक्षभावनायां अपि इदमेव कथानकं परिभावनीयं, केवलं इह घृतघटे भग्ने सति द्वौ अपि तौ दम्पती त्वरितं त्वरितं कर्प्परे यथाशक्ति घृतं गृहीतवन्तौ, स्तोकं एव विननाश, निन्दति च आत्मानं आभीरो यथा-हा न मया घृतघटः ते सम्यक् समर्प्पितः, आभीर्यपि वदति-समर्प्पितस्त्वया सम्यक्, परं न मया सम्यक् गृहीतः, तत एव तयोः न कोपावेशदुःखं नापि घृतहानिः नापि सकाल एव अन्यसार्थिकैः सह स्वग्रामं अभिसर्प्पतां अपान्तराले तस्करावस्कन्दः, ततस्तौ सुखभाजनं जातौ, एवमिहापि कथंचित् अनुपयोगादिनाऽन्यथारूपे व्याख्याने कृते सति पश्चादनुस्मृतयथावस्थितव्याख्यानेन सूरिणा शैक्षं पूर्वमुक्तं व्याख्यानं चिन्तयन्तं प्रत्येवं वक्तव्यं-वत्स ! मैवं व्याख्यः, मया तदानीं अनुपयुक्तेन व्याख्यातं, तत एवं व्याख्याहि। तत एवं उक्ते सति यो विनेयः कुलीनो विनीतात्मा स एवं प्रतिवदति-यथा भगवंतः ? किं अन्यथा प्ररूपयंति ?, केवलं अहं मतिदौर्बल्यादन्यथावगतवान् इति, स एकान्तेन योग्यः ?, एवं विधाश्च विनेयाः प्रह्लादितगुरुमनसः श्रुतार्णवपारगामिनो जायन्ते, चारित्रसंपदश्च भागिनः ॥ १४ ॥

तदेवं एकैकं शैक्षं अधिकृत्य योग्यायोग्यत्वविभागोपदर्शनं कृतं। संप्रति सामान्यतः पर्षदो योग्यायोग्यरूपतया निरूपयति।

सा समासओ तिविहा पन्नत्ता तं जहा जाणिया, अजाणिया, दुव्विअड्ढा, जाणिआ जहा खीरमिव, जहा हंसा जे घुट्टन्ति इह गुरुगुणसमिद्धा दोसे अ विवज्जंति तं जाणसु जाणिया परिसा। अजाणिया जहा– जा होइ पगइमहुरा मियछावयसीहकुक्कुडयभुआ। रयणमिव असंठविआ, अजाणिआ सा भवे परिसा ॥ १ ॥ दुव्विअड्ढा जहा–नय कत्थइ निम्माओ नय पुच्छइ परिभवस्स दोसेणं। वत्थिव्व वायपुण्णो फुट्टइ गामिल्लय विअड्ढो ॥ २ ॥

सा समासओ तिविहा इत्यादि, सा पर्षत्समासतः संक्षेपेण त्रिधा त्रिप्रकारा प्रज्ञप्ता, तीर्थकरगणधरैः इति गम्यते, पर्षत् इति कथं लभ्यते इति चेदुच्यते, इह प्रागुक्तं–प्रारम्भणीयः प्रवचनानुयोग इति, अनुयोगश्च शिष्यमधिकृत्य प्रवर्त्तते। निरालम्बनस्य तस्याभावात्ततः सामर्थ्यात्सा इति उक्ते पर्षदिति लभ्यते। तद्यथा इति उदाहरणोपदर्शनार्थः, 'जाणिय 'त्ति 'ज्ञा अवबोधने' जानातीति ज्ञा, ज्ञिका नाम परिज्ञातवती, किमुक्तं भवति? कुपथप्रवृत्तपाखंडमतेनादिग्धांतःकरणा गुणदोषविशेषपरिज्ञानकुशलाः सतां अपि दोषाणां अपरिग्राहिका केवलगुणयत्नवती इति। उक्तंच–गुणदोसविसेसण्णू अणभिग्गहिया कुस्सुइमएसु। एसा जाणगपरिसा गुणतत्तिल्ला अगुणवज्जा ॥१॥ अत्र गुणतत्तिल्लेति गुणेषु यत्नवती गुणग्रहणपरायणेत्यर्थः, अगुणवज्जेत्ति अगुणान्–दोषान् वर्ज्जयति, सतोऽपि न गृह्णाति इति अगुणवर्ज्जा। तथा अज्ञिका–ज्ञिकाविलक्षणा, सम्यक् परिज्ञानरहिता, किमुक्तं भवति?। या ताम्रचूडकंठीरवकुरंगपोतवत् प्रकृत्या मुग्धस्वभावा असंस्थापितजात्यरत्नमिवांतर्वि शिष्टगुणसमृद्धा सुखप्रज्ञापनीया पर्षत् सा अज्ञिका। उक्तंच–"पगई मुद्ध अयाणिय मिगच्छावगसीहकुडगभूया। रयणमिव असंठविया सुहसणप्पा गुणसमिद्धा ॥ १ ॥" इह 'मिगसावगसीहकुकुडगभूय-

'असंठविय'त्ति असंस्थापिता, असंस्कृता इत्यर्थः। 'सुखसंज्ञाप्या' त्तिसावगशब्दोऽग्रे सम्बद्धयते, ततो मृगसिंहकुर्कुटशावभूता इत्यर्थः, किमुक्तं भवति ?, या तत्तद्गुणज्ञपार्श्वोपगमनेन कतिपयपदानि सुखेन प्रज्ञापनीयाः। तथा दुवियड्ढ 'त्ति' दुर्विदग्धा मिथ्याहङ्कारविडम्बिता, उपजीव्य पांडित्याभिमानिनी किंचित् मात्रं अर्थपदं सारं पल्लवमात्रं वा श्रुत्वा तत ऊर्ध्वं निजपांडित्यख्यापनायाभिमानतोऽवज्ञया पश्यति। अर्थे कथ्यमानं चात्मनो बहुज्ञतासूचनाय अग्रे त्वरितं पठति सा पर्षद् दुर्विदग्धा इत्युच्यते॥ उक्तं च—किंचिम्मत्तग्गाही पल्लवगाहीय तुरियगाहीय। दुवियड्ढिया उ एसा भणिया तिविहा भवे परिसा॥१॥" अमूषां च तिसृणां पर्षदां मध्ये आद्ये द्वे पर्षदौ अनुयोगयोग्ये, तृतीया तु अयोग्या। तत आद्ये द्वे एव अधिकृत्य अनुयोगः प्रारम्भणीयो, न तु दुर्विदग्धां, माभूत् आचार्यस्य निःफलः परिश्रमः, तस्याश्च दुरंतसंसारोपनिपातः, सा हि तथास्वाभाव्यात् यत्किमपि अर्थपदं श्रृणोति, तदपि अवज्ञया, श्रुत्वा च सारपदं अन्यत्र सर्वज-नातिशायिनिजपांडित्याभिमानतो महतो महीयसोऽवमन्यते। तदवज्ञया च दुरंतसंसाराभिष्वंग इति स्थितं, तदेवमभीष्टदेवतास्तवादि-संपादितसकलसौहित्यो भगवान् दूष्यगणियादोपसेवी पूर्वांतर्गतसूत्रार्थधारको देववाचको योग्यविनेयपरीक्षां कृत्वा संप्रति अधिकृताध्य-यनविषयस्य ज्ञानस्य प्ररूपणां विदधाति—

नाणं पञ्चविहं पन्नत्तं तंजहा—आभिणिबोहिअनाणं सुअनाणं, ओहिनाणं, मणपज्जवनाणं केवलनाणं॥

ज्ञातिर्ज्ञानं, 'पंच' इति संख्यावाचकः विधानं विधा 'उपसर्गादात' [सि. है. ५-३-११०] इत्यङ्प्रत्ययः, पंचविधाःप्रकारा यस्य तत्पंचविधं पंचप्रकारं 'प्रज्ञप्तं' तीर्थकरगणधरैः इति सामर्थ्यादवसीयते। अन्यस्य स्वयं [अ] प्ररूपकत्वेन प्ररूपणाऽसंभवादुक्तं च 'अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गुंथंति गणहरा निउणं। सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ॥ १॥ एतेन स्वमनीषिकाव्युदासं आह। अथवा

प्रज्ञा बुद्धिस्तया आप्तं, तीर्थंकरगणधरैः इति गम्यते, तद्यथा इति—उदाहरणोपदर्शनार्थः, आभिनिबोधिकज्ञानं श्रुतज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं केवलज्ञानं तत्रार्थाभिमुखो नियतप्रतिनियतस्वरूपो बोधो बोधविशेषोऽभिनिबोधः, अभिनिबोध एव आभिनिबोधिकं अभिनिबोधशब्दस्य विनयादिपाठाभ्युपगमाद् 'विनयादिभ्य' [सि. है. ७-२-१३०] इति अनेन स्वार्थे इकण् प्रत्ययः, 'अतिवर्त्तन्ते स्वार्थिके प्रत्ययकाः प्रकृति[तो]लिंगवचनानि' इति वचनात् अत्र[1] नपुंसकता। यथा विनय एव वैनयिकं इत्यत्र, अथवा अभिनिबुध्यतेऽनेन अस्मादस्मिन् वा इति अभिनिबोधः तदावरणकर्मक्षयोपशमस्तेन निर्वृत्तं आभिनिबोधिकं आभिनिबोधिकं च तत् ज्ञानं च आभिनिबोधिकज्ञानं इन्द्रियमनोनिमित्तो योग्यदेशावस्थितवस्तुविषयः स्फुटप्रतिभासो बोधविशेष इत्यर्थः। तथा श्रवणं श्रुतं वाच्यवाचकभावपुरस्सरीकारेण शब्दसंस्पृष्टार्थग्रहणहेतूरूपलब्धिविशेषः, एवमाकारवस्तु जलधारणादिअर्थक्रियासमर्थं घटशब्दवाच्यं इत्यादिरूपतया प्रधानीकृतत्रिकालसाधारणसमानपरिणामः शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष इत्यर्थः, श्रुतं च तत् [च]ज्ञानं श्रुतज्ञानं तथाऽवशब्दोऽधःशब्दार्थः अव-अधोधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेन इत्यवधिः[2] अथवा अवधिः मर्यादा रूपिषु एव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानं अपि अवधिः, यद्वा अवधानं आत्मनोऽर्थसाक्षात्करणव्यापारोऽवधिः, अवधिश्च तद्ज्ञानं च अवधिज्ञानं। मनसि[3] मनसो वा पर्यवः मनःपर्यवः सर्वतो मनोद्रव्यपरिच्छेद इत्यर्थः। अथवा मनःपर्यय इति पाठः तत्र पर्ययणं पर्ययः, भावे अल्प्रत्ययः, मनसि मनसो वा पर्ययो मनःपर्ययः, सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः। स च तद्ज्ञानं च मनःपर्ययज्ञानं,

१ आभिनिबोधके इत्यत्र। २ अत्र विषयस्य वहुत्वमङ्गीकृत्यैवं व्युत्पत्तिः, अन्यथा तिर्यगूर्ध्वं वा विषयं परिच्छिन्दानस्यावधिव्यपदेशो न स्यात्। ३ अत्र मनःशब्देन भावमनो ग्राह्यः, तत्त्वार्थटीकायां तथोक्तत्वात्। (पृ. ७०)

तथा केवलं एकं असहायं मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वात्केवलज्ञानप्रादुर्भावे मत्यादीनां असंभवो यतो मतिज्ञानादीनि स्वस्वआवरणक्षयोपशमे
प्रादुःषंति, ततो निर्मूलस्वस्वावरणाविलये तानि सुतरां भविष्यन्ति, चारित्रपरिणामवत्। उक्तंच "आवरणदेसविगमे जाइं विज्जंति
मइसुयाईणि। आवरणसव्वविगमे कह ताइं न होंति जीवस्स ॥ १ ॥

तं समासओ दुविहं पन्नत्तं तंजहा पच्चक्खं च परोक्खं च ॥

तत्पंचप्रकारं अपि ज्ञानं 'समासतः' संक्षेपेण 'द्विविधं' द्विप्रकारं प्रज्ञप्तं, 'तद्यथा' इति उदाहरणोपन्यासार्थः। प्रत्यक्ष च परोक्षं च,
तत्र 'अशूङ् व्याप्तौ' अश्नुते ज्ञानात्मना सर्वानर्थान् व्याप्नोति इति अक्षः। अथवा 'अश् भोजने' अश्नाति सर्वानर्थान् यथायोग्यं
भुङ्क्ते पालयति वेत्यक्षो जीवः। उभयत्रापि औणादिकः सक्प्रत्ययः, तं अक्षं-जीवं साक्षात् वर्त्तते यत् ज्ञानं तत्प्रत्यक्षं-इन्द्रियमनोनिरपेक्षं
आत्मनः साक्षात्प्रवृत्तिमत् अवध्यादिकं त्रिप्रकारं। उक्तं च-जीवो अक्खो अत्थव्वावणभोयणगुणन्निओजेणं तं पइ वट्टइ नाणं जं पच्चक्खं
तयं तिविहं ॥१॥ च शब्दः स्वगतानेकावध्यादिभेदसूचकः, तथा अक्षस्य-आत्मनो द्रव्येन्द्रियाणि द्रव्यमनश्च पुद्गलमयत्वात्। पराणि वर्त्तंते-
पृथग् वर्त्तंते इत्यर्थः, तेभ्यो यत् अक्षस्य ज्ञानं उदयते तत्परोक्षं, 'पृषोदरादय' [सि,है. ३-२-१५५] इति रूपसिद्धिः, अथवा परैरिंद्रिया-
दिभिः सह अक्षसंबंधो विषयविषयिभावलक्षणो यस्मिन् ज्ञाने, न तु साक्षात्, आत्मनो धूमात् अग्निज्ञानं इव तत् परोक्षं, उभयत्रापि
इन्द्रियमनोनिमित्तं ज्ञानमभिधेयमाह-इन्द्रियमनोनिमित्ताधीनं कथं परोक्षं?, उच्यते, पराश्रयत्वात्, तथाहि-पुद्गलमयत्वात् द्रव्येन्द्रि-
यमनांसि आत्मनः पृथग्भूतानि, ततः तत् आश्रयेण उपजायमानं ज्ञानं आत्मनो न साक्षात्, किंतु परंपरयेति इंद्रियमनोनिमितं
ज्ञातं धूमादग्निज्ञानं इव परोक्षं। उक्तं च-अक्खस्स पोग्गलमया जं दव्विंदियमणोपरा होंति। तेहिं तो जं नाणं परोक्खमिहतमणुमाणं

॥

च ॥ १ ॥ तदेवं प्रत्यक्षं परोक्षं 'से किं तं पच्चक्खं' ति, च इति भेदद्वयोपन्यासे कृते सति शिष्योऽनवबुद्धयमानः प्रश्नं विधत्ते—

से किं तं पच्चक्खं। पच्चक्खं दुविहं पन्नत्तं तंजहा इंदियपच्चक्खं नो इंदियपच्चक्खं च।

से शब्दो मागधदेशीयप्रसिद्धो निपातोऽथशब्दार्थे वर्त्तते। एवं शिष्येण प्रश्ने कृते सति न्यायमार्गोपदर्शनार्थं आचार्यः शिष्यपृष्टपदानुवादपुरस्सरीकारेण प्रतिवचनमभिधातुकाम आह—पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं, इत्यादि, एवमन्यत्रापि यथायोगं प्रश्ननिर्वचनसूत्राणां पातनिका भावनीया। प्रत्यक्षं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—इन्द्रियप्रत्यक्षं नोइन्द्रियप्रत्यक्षं च, तत्र 'इदु परमैश्वर्ये' 'उदितो नुमि'ति नुम्, इन्द्रः—आत्मा सर्वद्रव्योपलब्धिरूपपरमैश्वर्ययोगात्तस्य लिङ्गं—चिह्नं अविनाभावि 'इंदियं,' 'इन्द्रियं इति' निपातनसूत्रात् रूपनिष्पत्तिः, तत् द्विधा-द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियं च, तत्र द्रव्येन्द्रियं द्विधा—निर्वृत्तिः उपकरणं च, निर्वृत्तिनाम प्रतिविशिष्टाः संस्थानविशेषाः, सापि द्विधा—बाह्या अभ्यंतरा च, तत्र बाह्या कर्णपर्पटकादिरूपा, सापि विचित्रा—न प्रतिनियतरूपतयोपदेष्टुं शक्यते। तथाहि—मनुष्यस्य श्रोत्रे—भ्रूसमे नेत्रयोः उभयपार्श्वतः संस्थिते वाजिनोः मस्तके नेत्रयोः उपरिष्टात् भाविनी तीक्ष्णे चाग्रभागे इत्यादि जातिभेदात् नानाविधाः अभ्यंतरा तु निर्वृत्तिः सर्वेषामपि जन्तूनां समाना, इह स्पर्शनेन्द्रियनिर्वृत्तेः प्रायो न बाह्याभ्यंतरभेदः। तत्त्वार्थमूलटीकायां तथाभिधानात्, उपकरणं खड्गस्थानीयाबाह्या, निर्वृत्तिः या खड्गधारासमाना स्वच्छतरपुद्गलसमूहात्मिका अभ्यन्तरानिर्वृत्तिस्तस्याः शक्तिविशेषः, इदं च उपकरणरूपं द्रव्येन्द्रियमान्तरनिर्वृत्तिः कथंचिदर्थांतरं, शक्तिशक्तिमतोः कथंचिद्भेदश्च सत्यां अपि कदंबपुष्पादि आकृतिरूपायां अंतरनिर्वृत्तौ अतिकठोरतरघनगर्जितादिना[1] शक्ति उपघाते सति न परिच्छेतुमीशते जंतवः शब्दादिकं इति, भावेन्द्रियमपि द्विधा—लब्धिउपयोगश्च, तत्र लब्धिः श्रोत्रेन्द्रियादिविषयः

१ 'नानाकारं कायेन्द्रियमसङ्ख्येयभेदत्वादस्य चान्तर्बहिर्भेदो निर्वृत्तेर्न कश्चित् प्रायः' इति। (पृ १६५)

इंद्रियप्रत्यक्षं पंचविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—श्रोत्रेंद्रियप्रत्यक्षं इत्यादि, तत्र श्रोत्रेंद्रियस्य प्रत्यक्षं श्रोत्रेंद्रियप्रत्यक्षं। श्रोत्रेंद्रियं निमित्तीकृत्य यदुत्पन्नं ज्ञानं तत् श्रोत्रेंद्रियप्रत्यक्षमिति भावः। एवं शेषेषु अपि भावनीयं। एतच्च व्यवहारत उच्यते, न परमार्थत इति अनंतरं एव प्रागुक्तं। आह—स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि इंद्रियाणि इति क्रमः, अयमेव च समीचीनः, पूर्वपूर्वलाभ एव उत्तरोत्तरलाभसंभवात्ततः किमर्थं उत्क्रमोपन्यासः कृतः ?, उच्यते, अस्ति पूर्वानुपूर्वी, अस्ति पश्चानुपूर्वीति न्यायप्रदर्शनार्थं, अपि च—शेषेंद्रियापेक्षया श्रोत्रेंद्रियं पटु, ततः श्रोत्रेंद्रियस्य प्रत्यक्षं तत् शेषेंद्रियप्रत्यक्षापेक्षया स्पष्टसंवेदनं, स्पष्टसंवेदनं च उपवर्ण्यमानं विनेयः सुखेन अवबुध्यते, ततः सुखप्रतिपत्तये श्रोत्रेंद्रियादिक्रमः उक्तः ॥

से किं तं नोइंदिअपच्चक्खं ? नोइंदिअपच्चक्खं तिविहं पन्नत्तं, तं जहा—ओहिनाणं नोइंदिअपच्चक्खं। मणपज्जवनाणं नोइंदिअपच्चक्खं। केवलनाणं नोइंदिअपच्चक्खं। से किं तं ओहिनाणनोइंदिअपच्चक्खं ? ओहिनाणनोइंदिअपच्चक्खं दुविहं पन्नत्तं, तं जहा—भवपच्चइअं च खओवसमिअं च। से किं तं भवपच्चइयं ? भवपच्चइयं दोण्हं पन्नत्तं, तं जहा देवाण य नेरइआण य। से किं तं खओवसमिअं ? खओवसमिअं दुविहं पन्नत्तं, तं जहा—मणूसाण य पंचिंदिअतिरिक्खजोणिआण य। को हेऊ खओवसमिअं ? खओवसमिअं

१—प्रत्यक्षशब्दस्य केचित् अक्षं अक्षं प्रति वर्तते इत्यव्ययीभावं विदधति तच्च न युज्यते—अनुयोगद्वारटीकायां—निषिद्धत्वात् किन्तु प्रतिगतम्—आश्रितमक्षं प्रत्यक्षमिति तत्पुरुष एव ग्राह्यः अव्ययीभावे त्रिलिङ्गताभावात्—प्रत्यक्षो बुद्धिः प्रत्यक्षो बोधः प्रत्यक्षं ज्ञानमिति त्रिलिङ्गता न स्यादिति भावः।

तयावरणिज्जाणं कम्माणं उदिण्णाणं खएणं अणुदिण्णाणं उवसमेणं ओहिनाणं समुपज्जइ ।

अथ किं तत् नोइंद्रियप्रत्यक्षं ?, नोइंद्रियप्रत्यक्षं त्रिविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–अवधिज्ञानप्रत्यक्षं इत्यादि ॥ अथ किं तत् अवधिज्ञानप्रत्यक्षं ? अवधिज्ञानप्रत्यक्षं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–भवप्रत्ययं च क्षायोपशमिकं च, तत्र भवंति कर्म्मवशवर्त्तिनः प्राणिनः अस्मिन्निति भवो–नारकादि जन्म 'पुंनाम्नी'ति अधिकरणे घप्रत्ययः, भव एव प्रत्ययः–कारणं यस्य तत् भवप्रत्ययं, प्रत्ययशब्दश्च इह कारणपर्यायः, वर्त्तते च प्रत्ययशब्दः कारणत्वे, यत उक्तं–'प्रत्ययः शपथे ज्ञाने, हेतुविश्वासनिश्चये', चशब्दः स्वगतदेवनारकाश्रितभेदद्वयसूचकः, तौ च द्वौ भेदौ अनंतरं एव वक्ष्यति । तथा क्षयश्च उपशमश्च क्षयोपशमौ ताभ्यां निर्वृत्तं क्षायोपशमिकं, चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः, तत्र यत् एषां भवति तत् तेषां उपदर्शयति–दोण्हमित्यादि, द्वयोः जीवसमूहयोः भवप्रत्ययं, तद्यथा–देवानां नारकाणां च । तत्र दीव्यंति–निरुपमक्रीडां अनुभवंति इति देवास्तेषां, तथा नरान् कायंति-शब्दयंति योग्यताया अनतिक्रमेणाकारयंति जंतून् स्वस्थाने इति नरकास्तेषु भवा नारकास्तेषां, चशब्द उभयत्रापि स्वगतानेकभेदसूचकः, ते च संस्थानचिंतायां अग्रे दर्शयिष्यंते । अत्र आह परः–ननु अवधिज्ञानं क्षायोपशमिके भावे वर्त्तते नारकादिभवश्च औदयिके तत्कथं देवादीनां अवधिज्ञानं भवप्रत्ययं इति व्यपदिश्यते ?, न एष दोषः, यतस्तदपि परमार्थतः क्षायोपशमिकं एव, केवलं स क्षयोपशमो देवनारकभवेषु अवश्यंभावी पक्षिणां गगनगमनलब्धिः इव, ततो भवप्रत्ययं इति व्यपदिश्यते, तथा द्वयोः क्षायोपशमिकं तत्, यथा मनुष्याणां च पंचेंद्रियतिर्यग्योनिजानां च,

१–'पुं नाम्निघः' इति सि. है. ५–३–१३०. सूत्रमुपलभ्यते ।

अत्रापि चशब्दौ प्रत्येकं स्वगतानेकभेदसूचकौ, पंचेंद्रियतिर्यग्मनुष्याणां चावधिज्ञानं नावश्यं भावि, ततः समानेऽपि क्षायोपशमिकत्वे भवप्रत्ययादिदं भिद्यते। परमार्थतः पुनः सकलमपि अवधिज्ञानं क्षायोपशमिकं ॥ 'को हेतुः?' किं निमित्तं यत् वशात् अवधिज्ञानं क्षायोपशमिकं इत्युच्यते?, क्षायोपशमिकं येन कारणेन तदावरणीयानां अवधिज्ञानावरणीयानां कर्म्मणां उदीर्णानां क्षयेण अनुदीर्णानां-उदयावलिकां अप्राप्तानां उपशमेन-विपाकोदयविष्कंभलक्षणेन अवधिज्ञानं उत्पद्यतेऽनेन कारणेन क्षायोपशमिकं इति उच्यते। क्षयोपशमश्च देशघातिरसस्पर्द्धकानां उदये सति भवति न सर्वघातिरसस्पर्द्धकानां, अथ किं इदं देशघातीनि सर्वघातीनि वा रसस्पर्द्धकानि इति? उच्यते, इह कर्म्मणां प्रत्येकं अनंतानंतानि रसस्पर्द्धकानि भवंति, रसस्पर्द्धकस्वरूपं च कर्म्मप्रकृतिटीकायां सप्रपंचं उपदर्शितं इति न भूयो दर्श्यते।

अह वा गुणपडिवन्नस्स अणगारस्स ओहिनाणं समुपज्जइ तं समासओ छव्विहं पन्नत्तं, तं जहा-आणुगामिअं, अणाणुगामिअं, वड्ढमाणयं, हीयमाणयं, पडिवाइयं, अप्पडिवाइयं। सू० ॥ ९ ॥

'अथवा' इति प्रकारांतरोपदर्शने, प्रकारांतरता च गुणप्रतिपत्तिमंतरेणेत्यपेक्ष्य द्रष्टव्या, गुणाः-मूलोत्तररूपास्तान् प्रतिपन्नो गुणप्रतिपन्नः, अथवा गुणैः प्रतिपन्नः पात्रं इति कृत्वा गुणैः आश्रितो गुणप्रतिपन्नः, अगारं-गृहं न विद्यते यस्यासौ अनगारः, परित्यक्तद्रव्यभावगृह इत्यर्थः। तस्य-प्रशस्तेषु अध्यवसायेषु वर्त्तमानस्य सर्वघातिरसस्पर्द्धकेषु देशघातिरसस्पर्द्धकतया जातेषु पूर्वोक्तक्रमेण क्षयोपशमभावतोऽवधिज्ञानमुपजायते। 'तद्' अवधिज्ञानं 'समासतः' संक्षेपेण 'षड्विधं' षट्प्रकारं प्रज्ञप्तं, तद्यथा-'आनुगामिकमि'त्यादि, तत्र गच्छंतं पुरुषं-आसमंतादनुगच्छति इत्येवं शीलं आनुगामि आनुगाम्येव

तयावरणिज्जाणं कम्माणं उदिण्णाणं खएणं अणुदिण्णाणं उवसमेणं ओहिनाणं समुपज्जइ ।

अथ किं तत् नोइंद्रियप्रत्यक्षं ?, नोइंद्रियप्रत्यक्षं त्रिविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–अवधिज्ञानप्रत्यक्षं इत्यादि ॥ अथ किं तत् अवधिज्ञानप्रत्यक्षं ? अवधिज्ञानप्रत्यक्षं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–भवप्रत्ययं च क्षायोपशमिकं च, तत्र भवंति कर्म्मवशवर्त्तिनः प्राणिनः अस्मिन्निति भवो–नारकादि जन्म 'पुंनाम्नी'ति अधिकरणे घप्रत्ययः, भव एव प्रत्ययः–कारणं यस्य तत् भवप्रत्ययं, प्रत्ययशब्दश्च इह कारणपर्यायः, वर्त्तते च प्रत्ययशब्दः कारणत्वे, यत उक्तं–'प्रत्ययः शपथे ज्ञाने, हेतुविश्वासनिश्चये', चशब्दः स्वगतदेवनारकाश्रितभेदद्वयसूचकः, तौ च द्वौ भेदौ अनंतरं एव वक्ष्यति । तथा क्षयश्च उपशमश्च क्षयोपशमौ ताभ्यां निर्वृत्तं क्षायोपशमिकं, चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः, तत्र यत् एषां भवति तत् तेषां उपदर्शयति–दोण्हमित्यादि, द्वयोः जीवसमूहयोः भवप्रत्ययं, तद्यथा–देवानां नारकाणां च । तत्र दीव्यंति–निरुपमक्रीडां अनुभवंति इति देवास्तेषां, तथा नरान् कायंति-शब्दयंति योग्यताया अनतिक्रमेणाकारयंति जंतून् स्वस्थाने इति नरकास्तेषु भवा नारकास्तेषां, चशब्द उभयत्रापि स्वगतानेकभेदसूचकः, ते च संस्थानचिंतायां अग्रे दर्शयिष्यंते । अत्र आह परः–ननु अवधिज्ञानं क्षायोपशमिके भावे वर्त्तते नारकादिभवश्च औदयिके तत्कथं देवादीनां अवधिज्ञानं भवप्रत्ययं इति व्यपदिश्यते ?, न एष दोषः, यतस्तदपि परमार्थतः क्षायोपशमिकं एव, केवलं स क्षयोपशमो देवनारकभवेषु अवश्यंभावी पक्षिणां गगनगमनलब्धिः इव, ततो भवप्रत्ययं इति व्यपदिश्यते, तथा द्वयोः क्षायोपशमिकं तत्, यथा मनुष्याणां च पंचेंद्रियतिर्यग्योनिजानां च,

१–'पुं नाम्निघः' इति सि. है. ५–३–१३०. सूत्रमुपलभ्यते ।

अत्रापि चशब्दौ प्रत्येकं स्वगतानेकभेदसूचकौ, पंचेंद्रियतिर्यग्मनुष्याणां चावधिज्ञानं नावश्यं भावि, ततः समानेऽपि क्षायोपशमिकत्वे भवप्रत्ययादिदं भिद्यते। परमार्थतः पुनः सकलमपि अवधिज्ञानं क्षायोपशमिकं ॥ 'को हेतुः ?' किं निमित्तं यत् वशात् अवधिज्ञानं क्षायोपशमिकं इत्युच्यते ?, क्षायोपशमिकं येन कारणेन तदावरणीयानां अवधिज्ञानावरणीयानां कर्म्मणां उदीर्णानां क्षयेण अनुदीर्णानां–उदयावलिकां अप्राप्तानां उपशमेन–विपाकोदयविष्कंभलक्षणेन अवधिज्ञानं उत्पद्यतेऽनेन कारणेन क्षायोपशमिकं इति उच्यते। क्षयोपशमश्च देशघातिरसस्पर्द्धकानां उदये सति भवति न सर्वघातिरसस्पर्द्धकानां, अथ किं इदं देशघातीनि सर्वघातीनि वा रसस्पर्द्धकानि इति ? उच्यते, इह कर्म्मणां प्रत्येकं अनंतानंतानि रसस्पर्द्धकानि भवंति, रसस्पर्द्धकस्वरूपं च कर्म्मप्रकृतिटीकायां सप्रपंचं उपदर्शितं इति न भूयो दर्श्यते।

अह वा गुणपडिवन्नस्स अणगारस्स ओहिनाणं समुपज्जइ तं समासओ छव्विहं पन्नत्तं, तं जहा–आणुगामिअं, अणाणुगामिअं, वड्ढमाणयं, हीयमाणयं, पडिवाइयं, अप्पडिवाइयं। सू० ॥ ९ ॥

'अथवा' इति प्रकारांतरोपदर्शने, प्रकारांतरता च गुणप्रतिपत्तिमंतरेणेत्यपेक्ष्य द्रष्टव्या, गुणाः–मूलोत्तररूपास्तान् प्रतिपन्नो गुणप्रतिपन्नः, अथवा गुणैः प्रतिपन्नः पात्रं इति कृत्वा गुणैः आश्रितो गुणप्रतिपन्नः, अगारं–गृहं न विद्यते यस्यासौ अनगारः, परित्यक्तद्रव्यभावगृह इत्यर्थः। तस्य–प्रशस्तेषु अध्यवसायेषु वर्त्तमानस्य सर्वघातिरसस्पर्द्धकेषु देशघातिरसस्पर्द्धकतया जातेषु पूर्वोक्तक्रमेण क्षयोपशमभावतोऽवधिज्ञानमुपजायते। 'तद्' अवधिज्ञानं 'समासतः' संक्षेपेण 'षड्विधं' षट्प्रकारं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–'आनुगामिकमि'त्यादि, तत्र गच्छंतं पुरुषं–आसमंतादनुगच्छति इत्येवं शीलं आनुगामि आनुगाम्येव

आनुगामिकं, स्वार्थे कः प्रत्ययः, अथवा अनुगमः प्रयोजनं यस्य तदानुगमिकं, यत् लोचनवत् गच्छंतं अनुगच्छति तदवधिज्ञानं आनुगामिकमिति। तथा न आनुगामिकं अनानुगामिकं शृंखलाप्रतिबद्धप्रदीप इव यत् न गच्छंतं अनुगच्छति तद्वधिज्ञानं अनानुगामिकं। उक्तं च–" अणुगामिओऽणुगच्छइ गच्छंतं लोयणं जहा पुरिसं। इयरो उ नाणुगच्छइ ठियप्पईवोव्व गच्छंतं ॥ १ ॥" तथा वर्द्धत इति वर्द्धमानं, ततः संज्ञायां कन्प्रत्ययः, बहुबहुतरेंधनप्रक्षेपादभिर्वर्द्धमानदहनज्वालाकलाप इव पूर्वावस्थातो यथायोगं प्रशस्तप्रशस्ततराध्यवसायभावतो अभिवर्द्धमानं अवधिज्ञानं वर्द्धमानकं, तच्चासकृद्विशिष्टगुणविशुद्धिसापेक्षत्वात्। तथा हीयते–तथाविधसामग्र्यभावतो हानिं उपगच्छति [तत्] हीयमानं, कर्मकर्तृविवक्षायामानश्प्रत्ययः, हीयमानमेव हीयमानकं, 'कुत्सिताल्पाज्ञाते' [सि. है. ७-३-३३.] इति कप्प्रत्ययः, पूर्वावस्थातो यत् अधोऽधो ह्रासं उपगच्छति अवधिज्ञानं तत् हीयमानकं इति भावः। उक्तं च–" हीयमाणं पुव्वावत्थाओ अहोऽहो हस्समाणं " इति। तथा प्रतिपतनशीलं प्रतिपाति, यदुत्पन्नं सत् क्षयोपशमानुरूपं कियत्कालं स्थित्वा प्रदीप इव सामस्त्येन विध्वंसं उपयाति तत् प्रतिपाति इत्यर्थः। हीयमानकप्रतिपातिनोः कः प्रतिविशेषः इति चेदुच्यते, हीयमानकं पूर्वावस्थातोऽधोऽधो ह्रासं उपगच्छदभिधीयते। यत्पुनः प्रदीप इव निर्मूलं एककालं अपगच्छति तत् प्रतिपाति तथा न प्रतिपाति–यत् न केवलज्ञानात् अर्वाक् भ्रंशं उपयाति तत् अप्रतिपाति इत्यर्थः।

१–आनुगामिकानानुगामिकरूपभेदद्वये एव शेषभेदाः अन्तर्भावयितुं शक्यन्ते तथापि आनुगामिकानानुगमिकं चेत्युक्ते न वर्द्धमानकादयो विशेषा अवगन्तुं शक्यन्ते अतः विशेषभेदोपन्यासकरणमिति ज्ञेयम्।

से किं तं आणुगामिअं ओहिनाणं ? आणुगामिअं ओहिनाणं दुविहं पन्नत्तं, तं जहा–अंतगयं च मज्झगयं च। से किं तं अंतगयं। अंतगयं तिविहं पन्नत्तं, तं जहा–पुरओ अंतगयं। मग्गओ अंतगयं। पासओ अंतगयं। से किं तं पुरओ अंतगयं ? पुरओ अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलियं वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा पुरओ काउं पणुल्लेमाणे २ गच्छेज्जा से तं पुरओ अंतगयं। से किं तं मग्गओ अंतगयं ? मग्गओ अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलिअं वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा मग्गओ काउं अणुकड्ढेमाणे २ गच्छिज्जा से तं मग्गओ अंतगयं। से किं तं पासओ अंतगयं ? पासओ अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलिअं वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा जाइं वा पासओ काउं परिकड्ढेमाणे २ गच्छिज्जा से तं पासओ अंतगयं से तं अंतगयं। से किं तं मज्झगयं ? मज्झगयं से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलिअं वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा मत्थए काउं समुव्वहमाणे २ गच्छिज्जा से तं मज्झगयं। सू० ॥ १० ॥

अथ किं तत् आनुगामिकं अवधिज्ञानं ?, आनुगामिकं अवधिज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–अंतगतं [च] मध्यगतं च, इह अंतशब्दः पर्यंतवाची, यथा वनांते इत्यत्र, ततश्च अंते–पर्यंते गतं–व्यवस्थितं अंतगतं। इहार्थत्रयव्याख्या अंते गतं–आत्मप्रदेशानां पर्यंते स्थितं अंतगतं, इयमत्र भावना–इह अवधिरुत्पद्यमानः कोऽपि स्पर्द्धकरूपतया उत्पद्यते, स्पर्द्धकं च नानावधिज्ञानप्रभाया गवाक्षजालादिद्वारविनिर्गतप्रदीपप्रभाया इव प्रतिनियतो विच्छेदविशेषः, तथा च आह–जिनभद्रगणिक्षमा-

श्रमणः स्वोपज्ञभाष्यटीकायां-'स्पर्द्धकं अवधिविच्छेदविशेषः इति ।' तानि च एकजीवस्य संख्येया संख्येयानि वा भवंति । यत उक्तं-मूलावश्यके प्रथमपीठिकायां-" फड्डा य असंखेज्जा संखेज्जयावि एकजीवस्स " इति, तानि च चित्ररूपाणि । तथाहि-कानिचित् पर्यंतवर्तिषु आत्मप्रदेशेषु उत्पद्यंते। तत्रापि कानिचित्पुरतः कानिचित्पृष्ठतः। कानिचिदधोभागे कानिचिदुपरितनभागे कानिचित्मध्यवर्त्तिषु आत्मप्रदेशेषु, [तत्र यदा अन्तर्वर्तिष्वात्मप्रदेशेषु] अवधिज्ञानं उपजायते तत्(दा ?) आत्मनः-पर्यंते स्थितं इति कृत्वा अंतगतं इत्युच्यते । तैरेव पर्यन्तवर्त्तिभिः आत्मप्रदेशैः साक्षादवधिरूपेण ज्ञानेन ज्ञानात् न शेषैरिति। अथवा औदारिकशरीरस्य अंते गतं-स्थितं अंतगतं, कयाचित् एकदिशोपलंभात्, इदमपि स्पर्द्धकरूपं अवधिज्ञानं, अथवा सर्वेषां अपि आत्मप्रदेशानां क्षयोपशमभावेऽपि औदारिकशरीरांतेन एकया दिशा यद्वशादुपलभ्यते तत् अपि अंतगतं, आह-यदि सर्वात्मप्रदेशानां क्षयोपशमस्ततः सर्वतः किं न पश्यति ?, उच्यते, एकदिशा एव क्षयोपशमसंभवात् विचित्रो हि क्षयोपशमस्ततः सर्वेषां अपि आत्मप्रदेशानां इत्थंभूत एव स्वसामग्रीवशात् क्षयोपशमः संवृत्तो यत् औदारिकशरीरं अपेक्ष्य कयाचित् विवक्षितया एकया दिशा पश्यति इति, तृतीयो अर्थ एकदिग्भाविना तेन अवधिज्ञानेन यत् उद्योतितं क्षेत्रं तस्य अंते वर्त्तते तदवधिज्ञानं, अवधिज्ञानवतः तदंते वर्त्तमानत्वात्, ततोऽंते-एकदिग्रूपस्यावधिज्ञानविषयस्य पर्यन्ते व्यवस्थितमंतगतं, चशब्दो देशकालादिअपेक्षया स्वगतानेकभेदसूचकः, तथा 'मध्यगतं च' इति इह मध्यं-प्रसिद्धं दंडादिमध्यवत्, ततो मध्येगतं मध्यगतं, इदमपि त्रिधा व्याख्येयं आत्मप्रदेशानां मध्ये-मध्यवर्त्तिषु आत्मप्रदेशेषु गतं-स्थितं। इदं च स्पर्द्धकरूपं अवधिज्ञानं सर्वदिगुपलंभकारणं मध्यवर्त्तिनां आत्मप्रदेशानां अवसेयं। अथवा सर्वेषां अपि

आत्मप्रदेशानां क्षयोपशमभावेऽपि औदारिकशरीरमध्यभागेन उपलब्धिः तन्मध्ये गतं मध्यगतं । अथवा तेन अवधिज्ञानेन यदुद्योतितं क्षेत्रं सर्वासु दिक्षु तस्य मध्ये–मध्यभागे गतं–स्थितं मध्यगतं, अवधिज्ञानिनः तदुद्योतितक्षेत्रमध्यवर्त्तित्वात् । चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः । अथ किं तत् अंतगतं ?, अंतगतं 'त्रिविधं' त्रिप्रकारं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–तत्र 'पुरतः' अवधिज्ञानिनः स्वव्यपेक्षया अग्रभागे अंतगतं पुरतः अंतगतं । तथा मार्गतः–पृष्ठतः अंतगतं मार्गतः अंतगतं, तथा पार्श्वतोद्वयोः पार्श्वयोः एकतरपार्श्वतो वा अंतगतं पार्श्वतोऽंतगतं । अथ किं तत्पुरतः अंतगतं ?, 'से जहा' इत्यादि 'स' विवक्षितो यथानामकः कश्चित्पुरुषः अत्र सर्वेषु अपि पदेषु एकारांतत्वमेवत्वं 'अतः सौ पुंसि' इति मागधिकभाषालक्षणात् । सर्वं अपि हि प्रवचनं अर्द्धमागधिकभाषात्मकमर्धमागधिकभाषया तीर्थकृतां देशनाप्रवृत्तेः, ततः प्रायः सर्वत्रापि मागधिकभाषालक्षणं अनुसरणीयं । 'उकं वा इति' उल्का–दीपिका, वाशब्दः सर्वोऽपि विकल्पार्थः, 'चडुलीं वा' चडुलीः–पर्यन्तज्वलिततृणपूलिका 'अलातं वा' अलातं–उल्मुकं अग्रभागे ज्वलत्काष्टं इत्यर्थः । 'मणिं वा' मणिं प्रतीतः, 'ज्योतिर्वा' ज्योतिः शरावादिआधारो ज्वलदग्निः, 'प्रदीपं वा' प्रदीपः–प्रतीतः 'पुरतः' अग्रतः हस्ते दंडादौ वा कृत्वा । प्रणुदन् २हस्तस्थितं दंडाग्रादिस्थितं वा क्रमेण स्वगतिअनुसारतः प्रेरयन् प्रेरयन् 'गच्छेत्' यायात्, एष दृष्टांतः, उपनयस्तु स्वयमेव भावनीयः, तत उपसंहरति–'से तं पुरओ अंतगतं' से शब्दः प्रतिवचनउपसंहारदर्शने, तदेतत्पुरतः अंतगतं, इयमत्र भावना–यथा स पुरुष उल्कादिभिः पुरत एव पश्यति, नान्यत्र, एवं येन अवधिज्ञानेन तथाविधक्षयोपशमभावतः पुरत एव पश्यति, नान्यत्र, तदवधिज्ञानं पुरतः अंतगतं अभिधीयते । एवं मार्गतोऽंतगत[सूत्रं]पार्श्वतोऽंतगतसूत्रं[च]

श्रमणः स्वोपज्ञभाष्यटीकायां–‘स्पर्द्धकं अवधिविच्छेदविशेषः इति।’ तानि च एकजीवस्य संख्येया संख्येयानि वा भवंति। यत उक्तं–मूलावश्यके प्रथमपीठिकायां–“ फड्डा य असंखेज्जा संखेज्जयावि एकजीवस्स ” इति, तानि च चित्ररूपाणि। तथाहि–कानिचित् पर्यंतवर्तिषु आत्मप्रदेशेषु उत्पद्यंते। तत्रापि कानिचित्पुरतः कानिचित्पृष्ठतः। कानिचिदधोभागे कानिचिदुपरितनभागे कानिचित्मध्यवर्त्तिषु आत्मप्रदेशेषु, [तत्र यदा अन्तर्वर्तिष्वात्मप्रदेशेषु] अवधिज्ञानं उपजायते तत्(दा ?) आत्मनः–पर्यंते स्थितं इति कृत्वा अंतगतं इत्युच्यते। तैरेव पर्यन्तवर्त्तिभिः आत्मप्रदेशैः साक्षादवधिरूपेण ज्ञानेन ज्ञानात् न शेषैरिति। अथवा औदारिकशरीरस्य अंते गतं–स्थितं अंतगतं, कयाचित् एकदिशोपलंभात्, इदमपि स्पर्द्धकरूपं अवधिज्ञानं, अथवा सर्वेषां अपि आत्मप्रदेशानां क्षयोपशमभावेऽपि औदारिकशरीरांतेन एकया दिशा यद्वशादुपलभ्यते तत् अपि अंतगतं, आह–यदि सर्वात्मप्रदेशानां क्षयोपशमस्ततः सर्वतः किं न पश्यति ?, उच्यते, एकदिशा एव क्षयोपशमसंभवात् विचित्रो हि क्षयोपशमस्ततः सर्वेषां अपि आत्मप्रदेशानां इत्थंभूत एव स्वसामग्रीवशात् क्षयोपशमः संवृत्तो यत् औदारिकशरीरं अपेक्ष्य कयाचित् विवक्षितया एकया दिशा पश्यति इति, तृतीयो अर्थ एकदिग्भाविना तेन अवधिज्ञानेन यत् उद्योतितं क्षेत्रं तस्य अंते वर्त्तते तदवधिज्ञानं, अवधिज्ञानवतः तदंते वर्त्तमानत्वात्, ततोंऽते–एकदिग्रूपस्यावधिज्ञानविषयस्य पर्यन्ते व्यवस्थितमंतगतं, चशब्दो देशकालादिअपेक्षया स्वगतानेकभेदसूचकः, तथा ‘मध्यगतं च’ इति इह मध्यं–प्रसिद्धं दंडादिमध्यवत्, ततो मध्येगतं मध्यगतं, इदमपि त्रिधा व्याख्येयं आत्मप्रदेशानां मध्ये–मध्यवर्त्तिषु आत्मप्रदेशेषु गतं–स्थितं। इदं च स्पर्द्धकरूपं अवधिज्ञानं सर्वदिगुपलंभकारणं मध्यवर्त्तिनां आत्मप्रदेशानां अवसेयं। अथवा सर्वेषां अपि

आत्मप्रदेशानां क्षयोपशमभावेऽपि औदारिकशरीरमध्यभागेन उपलब्धिः तन्मध्ये गतं मध्यगतं । अथवा तेन अवधिज्ञानेन यदुद्योतितं क्षेत्रं सर्वासु दिक्षु तस्य मध्ये-मध्यभागे गतं-स्थितं मध्यगतं, अवधिज्ञानिनः तदुद्योतितक्षेत्रमध्यवर्त्तित्वात् । चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः । अथ किं तत् अंतगतं ?, अंतगतं 'त्रिविधं' त्रिप्रकारं प्रज्ञप्तं, तद्यथा-तत्र 'पुरतः' अवधिज्ञानिनः स्वव्यपेक्षया अग्रभागे अंतगतं पुरतः अंतगतं । तथा मार्गतः-पृष्ठतः अंतगतं मार्गतः अंतगतं, तथा पार्श्वतोद्वयोः पार्श्वयोः एकतरपार्श्वतो वा अंतगतं पार्श्वतोऽंतगतं । अथ किं तत्पुरतः अंतगतं ?, 'से जहा' इत्यादि 'स' विवक्षितो यथानामकः कश्चित्पुरुषः अत्र सर्वेषु अपि पदेषु एकारांतत्वमेवत्वं 'अतः सौ पुंसि' इति मागधिकभाषालक्षणात् । सर्वं अपि हि प्रवचनं अर्द्धमागधिकभाषात्मकमर्धमागधिकभाषया तीर्थकृतां देशनाप्रवृत्तेः, ततः प्रायः सर्वत्रापि मागधिकभाषालक्षणं अनुसरणीयं । 'उकं वा इति' उल्का-दीपिका, वाशब्दः सर्वोऽपि विकल्पार्थः, 'चडुलीं वा' चडुलीः-पर्यन्तज्वलिततृणपूलिका 'अलातं वा' अलातं-उल्मुकं अग्रभागे ज्वलत्काष्टं इत्यर्थः । 'मणिं वा' मणिं प्रतीतः, 'ज्योतिर्वा' ज्योतिः शरावादिआधारो ज्वलदग्निः, 'प्रदीपं वा' प्रदीपः-प्रतीतः 'पुरतः' अग्रतः हस्ते दंडादौ वा कृत्वा । प्रणुदन्‌स्वहस्तस्थितं दंडाग्रादिस्थितं वा क्रमेण स्वगतिअनुसारतः प्रेरयन् प्रेरयन् 'गच्छेत्' यायात्, एष दृष्टांतः, उपनयस्तु स्वयमेव भावनीयः, तत उपसंहरति-'से तं पुरओ अंतगतं' से शब्दः प्रतिवचनउपसंहारदर्शने, तदेतत्पुरतः अंतगतं, इयमत्र भावना-यथा स पुरुष उल्कादिभिः पुरत एव पश्यति, नान्यत्र, एवं येन अवधिज्ञानेन तथाविधक्षयोपशमभावतः पुरत एव पश्यति, नान्यत्र, तदवधिज्ञानं पुरतः अंतगतं अभिधीयते । एवं मार्गतोऽंतगत[सूत्रं]पार्श्वतोऽंतगतसूत्रं[च]

भावनीयं, नवरं 'अणुकड्डमाणे' त्ति हस्तगतं दंडाग्रादिस्थितं वा अनु-पश्चात्-कर्षन् अनुकर्षन् पृष्ठतः पश्चात् कृत्वा समाकर्षन् समाकर्षनित्यर्थः। तथा पार्श्वतः दक्षिणपार्श्वतः अथवा वामपार्श्वतो यदा द्वयोरपि पार्श्वयोः उल्कादिकं हस्तस्थितं दंडाग्रादिस्थितं वा परिकर्षन्-पार्श्वभागे कृत्वा समाकर्षन् समाकर्षनित्यर्थः। से किं तं मज्झगतं इत्यादि निगदसिद्धं नवरं 'मस्तके' शिरसि कृत्वा गच्छेत्तदेतत् मध्यगतं, इयं अत्र भावना-यथा तेन मस्तकस्थेन सर्वासु दिक्षु पश्यति, एवं येन अवधिज्ञानेन सर्वासु दिक्षु पश्यति तन्मध्यगतमिति[1]।

इत्थंभूतां च व्याख्यां सम्यग् नावबुध्यमानः शिष्यः प्रश्नं करोति।

अंतगयस्स मज्झगयस्स य को पइविसेसो? पुरओ अंतगएणं ओहिनाणेणं पुरओ चेव संखिज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोअणाइं जाणइ पासइ। मग्गओ अंतगएणं ओहिनाणेणं मग्गओ चेव संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा जोअणाइं जाणइ पासइ। पासओ अंतगएणं ओहिनाणेणं पासओ चेव संखिज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोअणाइं जाणइ पासइ। मज्झगएणं ओहिनाणेणं सव्वओ समंता संखिज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोअणाइं जाणइ पासइ से तं आणुगामिअं ओहिनाणं।

अंतगतस्य मध्यगतस्य च परस्परं कः प्रतिविशेषः? प्रतिनियतो विशेषः? सूरिराह-पुरतः अंतगतेन अवधिज्ञानेन पुरत

१ देवनारकतीर्थकृतां अवश्यं इदमेव भवति, देवनारकाणां आभववर्ति तीर्थकृतां तु आकेवलज्ञानमिति, तिरश्चामन्तगतं भवति, मनुष्याणां तु यथा क्षयोपशमं भवतीति विज्ञेयम्।

[वा] एतावत्सु योजनेषु अवगाढं
एव-अग्रत एव संख्येयानि एकादीनि-शीर्षप्रहेलिकापर्यंतानि, [वा]असंख्येयानि योजनानि, [वा] एतावत्सु योजनेषु अवगाढं द्रव्यमित्यर्थः। जानाति पश्यति, ज्ञानं विशेषग्रहणात्मकं दर्शनं सामान्यग्रहणात्मकं, तदेवं पुरतः अंतगतस्य शेषावधिज्ञानेभ्यो भेदः, एवं शेषाणां अपि परस्परं भावनीयः, नवरं सर्वतः-सर्वासु दिग् विदिक्षु समंतात्-सर्वैः एव आत्मप्रदेशैः सर्वैः वा विशुद्ध [स्पर्द्ध] कैः तदेवमुक्तं आनुगामिकं अवधिज्ञानं ।

संप्रति अनानुगामिकं शिष्यः पृच्छन्नाह ।

से किं तं अणाणुगामिअं ओहिनाणं अणाणुगामिअं ओहिनाणं से जहानामए केइ पुरिसे एगं महंतं जोइट्ठाणं काउं तस्सेव जोइट्ठाणस्स परिपेरंतेहिं २ परिघोलेमाणे २ तमेव जोइट्ठाणं [जाणइ] पासइ अन्नत्थगए न जाणइ न पासेइ एवमेव अणाणुगामिअं ओहिनाणं जत्थेव-समुपज्जेइ तत्थेव संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा संबद्धाणि वा असंबद्धाणि वा जोअणाइं जाणइ पासइ अन्नत्थगए न जाणइ न पासइ से तं अणाणुगामिअं ओहिनाणं । ॥ सू० ॥ ११ ॥

अथ किं तत् अनानुगामिकं अवधिज्ञानं ?, सूरिराह-अनानुगामिकं अवधिज्ञानं स-विवक्षितो यथानामकः कश्चित् पुरुषः पूर्णः सुखदुःखानां इति पुरुषः पुरि शयनात् वा पुरुषः, एकं महत् ज्योतिःस्थानं-अग्निस्थानं कुर्यात् । कस्मिन्चित् स्थाने अनेकज्वालाशतसंकुलं अग्निं प्रदीपं वा स्थूलवर्त्तिज्वालारूपं उत्पादयेदित्यर्थः । ततस्तत् कृत्वा तस्य एव ज्योतिःस्थानस्य 'परिपर्यंतेषु २' परितः सर्वासु दिक्षु पर्यंतेषु 'परिघूर्णन् परिघूर्णन्' [परिभ्रमन्] परिभ्रमन्नित्यर्थः । तदेव 'ज्योतिः-

स्थानं' ज्योतिःस्थानप्रकाशितं क्षेत्रं [जानाति] पश्यति, अन्यत्र गतो न पश्यति [न जानाति] एष दृष्टान्तः। उपनयं आह– 'एवमेव' अनेनैव प्रकारेण अनानुगामिकं अवधिज्ञानं यत्र एव क्षेत्रे व्यवस्थितस्य सतः समुत्पद्यते तत्र एव व्यवस्थितः सन् संख्येयानि असंख्येयानि वा योजनानि स्वावगाढक्षेत्रेण सह संबद्धानि असंबद्धानि वा, अवधिः कोऽपि जायमानः स्वावगाढदेशात् आरभ्य निरंतरं प्रकाशयति कोऽपि पुनः अपांतराले अंतरं कृत्वा परतः प्रकाशयति, ततः उच्यते–संबद्धानि असंबद्धानि वा इति, 'जानाति' विशेषाकारेण परिछिनत्ति 'पश्यति' सामान्याकारेण अवबुध्यते 'अन्यत्र च' देशांतरे गतो नैव पश्यति। अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमस्य तत् क्षेत्रसापेक्षत्वात्। तदेवं उक्तं अनानुगामिकं।

संप्रति वर्द्धमानकं अनवबुध्यमानः शिष्यः प्रश्नं करोति–

से किं तं वड्ढमाणयं ओहिनाणं? वड्ढमाणयं ओहिनाणं पसत्थेसु अज्झवसाणट्ठाणेसु वट्टमाणस्स वड्ढमाणचरित्तस्स। विसुज्झमाणस्स विसुज्झमाणचरित्तस्स। सव्वओ समंता ओहिनाणं वड्ढइ॥ सू० ॥१२॥

अथ किं तत् वर्द्धमानकं अवधिज्ञानं?, सूरिराह–वर्द्धमानकं अवधिज्ञानं प्रशस्तेषु अध्यवसायस्थानेषु वर्त्तमानस्य, इह सामान्यतो द्रव्यलेश्योपरंजितं चित्तं अध्यवसायस्थानं उच्यते, तच्चानवस्थितं, तल्लेश्याद्रव्यसाचिव्ये विशेषसंभवात्, ततो बहुवचनं उक्तं, प्रशस्तेषु इति, अनेन च अप्रशस्तकृष्णादिद्रव्यलेश्योपरंजितव्यवच्छेदं आह–प्रशस्तेषु अध्यवसायस्थानेषु वर्त्तमानस्य इति, किमुक्तं भवति? प्रशस्ताध्यवसायस्थानकलितस्य, 'सर्वतः' समंतात् अवधिः परिवर्द्धते इति संबंधः, अनेन अविरतसम्यग्दृष्टेः अपि परिवर्द्धमानकोऽवधिर्भवतीत्याख्यायते।, तथा 'वड्ढमाणचरित्तस्स' प्रशस्तेषु अध्यवसाय-

स्थानेषु वर्धमानचारित्रस्य, एतेन देशविरतसर्वविरतयोर्वर्द्धमानकमवधिमभिधत्ते, वर्द्धमानकश्चावधिरुत्तरोत्तरं विशुद्धिमा-
सादयतो भवति नान्यथा तत आह ' विशुद्धमानस्य ' तदावरणकलंकविगमत उत्तरोत्तरविशुद्धिमासादयतः, अनेनाऽविरत-
सम्यग्दृष्टेर्वर्द्धमानकाऽवधेः शुद्धिजन्यत्वमाह, तथा ' विशुद्धमानचारित्रस्य ', इदं च विशेषणं देशविरतसर्वविरतयो-
र्वेदितव्यं । ' सर्वतः ' सर्वासु दिक्षु समंतादवधिः परिवर्द्धते ।

स च कस्यापि सर्वजघन्यादारभ्य प्रवर्द्धते, ततः प्रथमतः सर्वजघन्यं अवधिं प्रतिपादयति ।

जावइआ तिसमयाहारगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स । ओगाहणा जहन्ना ओहीखित्तं जहन्नं तु ॥ १ ॥

' जावइया ' इत्यादि, 'त्रि'–' समयाहारकस्य ' आहारयति आहारं गृह्णाति इति आहारकः, त्रयः समयाः समाहृताः त्रिसमयं, त्रिसमयं आहारकः त्रिसमयाहारकः, ' नाम नाम्ना एकार्थे समासो बहुलं ' [सि. है. ३–१–१८] इतिसमासः तस्य ' त्रिसमयाहारकस्य ' ' सूक्ष्मस्य ' सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्त्तिनः ' पनकजीवस्य ' पनकश्चासौ जीवश्च पनकजीवो, वनस्पतिविशेषः, तस्य ' यावती ' यावत् परिमाणा, अवगाहते क्षेत्रं यस्यां स्थिता जंतवः साऽवगाहना–तनु इत्यर्थः, ' जघन्या ' त्रिसमयाहारकशेषसूक्ष्मपनकजीवापेक्षया सर्वस्तोका, एतावत्परिमाणं अवधेः जघन्यं क्षेत्रं, तुशब्द एवकारार्थः, स च अवधारणे, तस्य च एवंप्रयोगः–जघन्यं अवधिक्षेत्रं एतावद् एव इति । किं वा त्रिसमयाहारकत्वं परिगृह्यते ?

१–आह–किमिति योजनसहस्रायामो मत्स्यः ? किं वा तस्य तृतीयसमये स्वदेहदेशे सूक्ष्मपनकत्वेनोत्पादः ? इत्यधिकं स्यादिति संभाव्यते मलयगिरिटीकायां दृश्यमानत्वादिति ।

उच्यते, इह योजनसहस्रायामो मत्स्यः १, स किल त्रिभिः समयैः आत्मानं संक्षिपति महतः प्रयत्नविशेषात्। महाप्रयत्नविशेषाधिरूढश्च उत्पातदेशेऽवगाहनामारभमाणोऽतीव सूक्ष्मामारभते ततो महामत्स्यस्य ग्रहणं, सूक्ष्मपनकश्चाऽन्य-जीवापेक्षया सूक्ष्मतमअवगाहनो भवति। ततः सूक्ष्मपनकग्रहणं, तथा उत्पत्तिसमये द्वितीयसमये चातिसूक्ष्मो भवति चतुर्थादिषु च समयेषु अतिस्थूलः त्रिसमयाहारकस्तु योग्यस्ततः त्रिसमयाहारकग्रहणं, उक्तं च–मच्छो महल्लकाओ संखित्तो जो उ तेहिं समएहिं। स किर पयत्तविसेसेण सण्हमोगाहणं कुणइ ॥ १ ॥ सण्हयरा सण्हयरो सुहुमो पणओ जहण्णदेहो य। स बहुविसेसविसिट्ठो सण्हयरो सव्वदेहेसु ॥ २ ॥ पढमबीए तिसण्हो जायइ थूलो चउत्थयाईसु। तईयसमयंमि जोग्गो गहिओ तो तिसमयाहारो ॥ ३ ॥" अन्ये तु व्याचक्षते 'त्रिसमयाहारकस्य' इति आयामप्रतरसंहरणे समयद्वयं तृतीयश्च समयः सूचीसंहरणउत्पत्तिदेशागमविषयः, एवं त्रयः समया विग्रहगतिअभावादेतेषु त्रिष्वपि समयेष्वाहारकः, तत उत्पादसमय एव त्रिसमयाहारकः सूक्ष्मपनक जीवो जघन्यावगाहनश्च, ततः तत् शरीरमानं जघन्यं अवधेः क्षेत्रं, तत् च अयुक्तं, यतस्त्रिसमयाहारकस्य इति विशेषणं पनकस्य, न च मत्स्यायामप्रतरसंहरणसमयौ पनकभवस्य संबंधिनौ, किंतु मत्स्यभवस्य, तत उत्पादसमयादारभ्य त्रिसमयाहारकस्य इति द्रष्टव्यं, नान्यथा। एतावत्प्रमाणजघन्यक्षेत्रस्य अवधिः, तैजसभाषायाः प्रायोग्यवर्गणापांतरालवर्त्तिद्रव्यमालंबते। 'तेयाभासादव्वाणमंतरा एत्थ लहइ पट्ठवओ' इति वचनात् तदपि चालंब्यमानं द्रव्यं द्विधा–गुरुलघु–अगुरुलघु च, तत्र तैजसप्रत्यासन्नं गुरुलघु भाषाप्रत्यासन्नं च अगुरुलघु, तत् गतांश्च पर्यायान् चतुः संख्यानेव वर्णगंधरसस्पर्शलक्षणान् पश्यति न शेषान्, यत आह–दव्वाइं अंगुलासंखेज्जातीत-

भागविसयाइं । पेच्छइ चउग्गुणाइं जहन्नओ मुत्तिमंताइं ॥ १ ॥ अत्र 'जघन्यत' इति जघन्यावधिज्ञानी ।

तदेवं जघन्यं अवधेः क्षेत्रं अभिधाय सांप्रतं उत्कृष्टं अभिधातुकाम आह । खित्तं सव्वदिसागं परमोही खेत्तनिद्दिट्ठो ॥ २ ॥

सव्वबहु अगणिजीवा निरंतरं जत्तियं भरिज्जंसु । प्राप्यते [ते सर्वबहवः] सर्वबहवश्च ते अग्निजीवाश्च

' सव्वबहु ' त्ति यत ऊर्ध्वं अन्य एकोऽपि जीवो न कदाचनापि उच्यते, यदा सर्वासु कर्म्मभूमिषु निर्व्याघातं अग्निकाय-

सूक्ष्मबादररूपाः सर्वबहुअग्निजीवाः, कदा सर्वबहुअग्निजीवा इति चेद्, प्राप्यंते । यदा च उत्कृष्टपदवर्तिनः सूक्ष्मानलजीवाः तदा

समारंभकाः सर्वबहवो मनुष्याः, ते च प्रायोऽजितस्वामितीर्थंकरकाले भूतवंतः, एतत् उक्तं भवति-नैरंतर्येण विशिष्ट

सर्वबहुअग्निजीवाः, ' निरंतरं इति ' क्रियाविशेषणं, यावत्परिमाणं क्षेत्रं एव प्रायः सर्वबहवोऽनलजीवा अस्यां अवसर्पिण्यां

सूचीरचनया यावत् भूतवंत इति च भूतकालनिर्देशः-अजितस्वामिकाल अपि भवति तत आह-सर्वदिकं, अनेन सूचीभ्रमण-

संभवंति स्म इति ख्यापनार्थः । इदं च अनंतरोदितं क्षेत्रं एकदिकं सर्वबहुअनलजीवसूचीपरिक्षेपप्रमितं क्षेत्र-

प्रमितत्वं क्षेत्रस्य सूचयति । परमश्चासौ अवधिश्च परमावधिः, एतावदनंतरोदितं भवति इत्यर्थः, किमुक्तं भवति ? ।

मंगीकृत्य ' निर्दिष्टः ' प्रतिपादितो गणधरादिभिः क्षेत्रनिर्दिष्टः, एतावत् क्षेत्रं परमावधेर्भवति यानि अवस्थितानि द्रव्याणि तत् परि-

सर्वबहुअग्निजीवा निरंतरं यावत् क्षेत्रं सूचीभ्रमणेन सर्वदिकं भूतवंत एतावति क्षेत्रे संप्रदायः-सर्वबहुअग्निजीवाः प्रायोऽजि-

च्छेदसामर्थ्ययुक्तः परमावधिः क्षेत्रं अधिकृत्य निर्दिष्टो गणधरादिभिः, अयमिह तत्र एव विवक्ष्यंते । ततश्च

तस्वामितीर्थंकरकाले प्राप्यंते । तदारंभकमनुष्यबाहुल्यसंभवात्, सूक्ष्माश्च उत्कृष्टपदवर्त्तिनः

सर्वबहवोऽनलजीवा भवंति। तेषां स्वबुद्ध्या षोढाऽवस्थानं परिकल्प्यते–एकैकक्षेत्रप्रदेशे एकैकजीवावगाहनया सर्वतः चतुरस्रो-घन इति प्रथमं, [स]एव घनो जीवैः स्वावगाहनाभिः इति द्वितीयं। एवं प्रतरोऽपि द्विभेदः, श्रेणिः अपि द्विधा, तत्र आद्याः पंचप्रकारा अनादेशाः, तेषु क्षेत्रस्य अल्पीयस्तया प्राप्यमाणत्वात्, षष्ठस्तु प्रकारः सूत्रादेशः, उक्तं च–" एकेकागासपएस-जीवरयणाए सावगाहे य। चउरंसं घण पयरं सेढी छट्ठो सुयादेसो"–ततश्च असौ श्रेणिः स्वावगाहनासंस्थापितसकलान-लजीवावलीरूपा अवधिज्ञानिनः सर्वासु दिक्षु शरीरपर्यंतेन भ्राम्यते, सा च भ्राम्यमाणा असंख्येयान् लोकमात्रान् क्षेत्रविभागान् अलोके व्याप्नोति। एतावत् क्षेत्रं अवधेः उत्कृष्टं इति, इदं च सामर्थ्यमात्रं उपवर्ण्यते। एतावति क्षेत्रे यदि द्रष्टव्यं भवति तर्हि पश्यति, यावता तत् न विद्यते, अलोके रूपिद्रव्याणां असंभवात्, रूपिद्रव्यविषयश्च अवधिः, केवलमयं विशेषो–यावद्-द्यापि परिपूर्णं अपि लोकं पश्यति तावदिह स्कंधान् एव पश्यति। यदा पुनः अलोके प्रसरमवधिः अधिरोहति तदा यथा यथा अभिवृद्धिं आसादयति तथा तथा लोके सूक्ष्मान् सूक्ष्मतरान् स्कंधान् पश्यति, यावदंते परमाणुं अपि। उक्तं च– " सामत्थमेत्तमुत्तं दट्ठवं जइ हवेज पेच्छेज्जा। न उ तं तत्थत्थि जओ सो रूविनिबंधणो भणिओ ॥ १ ॥ वड्ढंतो पुण बाहिं लोगत्थं चेव पासइ दवं। सुहुमयरं सुहुमयरं परमोही जाव परमाणूं ॥ २ ॥" परमावधिकलितश्च नियमात् अंतर्मुहूर्तमात्रेण केवलालोकलक्ष्मीमालिङ्गति, उक्तं च, 'परमोहिनाणठिओ केवलमंतोमुहुत्तमेत्तेणं' एवं तावत् जघन्यं उत्कृष्टं च अवधिक्षेत्रं उक्तम्,

संप्रति मध्यमं प्रतिपिपादयिषुः एतावत् क्षेत्रोपलंभे एतावत् कालोपलंभः एतावत्कालोपलंभे च एतावत् क्षेत्रोपलंभ इत्यस्यार्थस्य प्रकटनार्थं गाथाचतुष्टयं आह—

अंगुलमावलियाणं भागमसंखिज्ज दोसु संखिज्जा । अंगुलमावलिअंतो आवलिआ अंगुलपुहुत्तं ॥ ३ ॥
हत्थंमि मुहुत्तंतो, दिवसंतो गाउअम्मि बोद्धव्वो । जोयणदिवसपुहुत्तं, पक्खंतो पन्नवीसाओ ॥ ४ ॥
भरहंमि अद्धमासो, जम्बूदीवंमि साहिओ मासो । वासं च मणुअलोए, वासपुहुत्तं च रुअगंमि ॥ ५ ॥
संखिज्जंमि उ काले, दीवसमुद्दाऽवि हुंति संखिज्जा । कालंमि अ संखेज्जा-दीवसमुद्दा उ भइअव्वा ॥ ६ ॥

अंगुलं इत्यादि, अंगुलं इह क्षेत्राधिकारात् प्रमाणांगुलं अभिगृह्यते । अन्ये तु आहुः-अवधिअधिकाराद् उत्सेधांगुलमिति, आवलिका-असंख्येयसमयात्मिका, अंगुलं चावलिका च अंगुलावलिके तयोः अंगुलावलिकयोः भागमसंख्येयमसंख्येयं पश्यति अवधिज्ञानी, इदमुक्तं भवति-क्षेत्रतः अंगुलासंख्येयभागमात्रं पश्यन् कालतः आवलिकाया असंख्येयं एव भागं अतीतमनागतं च पश्यति । आवलिकायाश्च असंख्येयं भागं पश्यन् क्षेत्रतो अंगुलासंख्येयभागं पश्यति । एवं सर्वत्रापि क्षेत्रकालयोः परस्परं योजना कर्त्तव्या, क्षेत्रकालदर्शनं च उपचारेण द्रष्टव्यं, न साक्षात्, न खलु क्षेत्रं कालं वा साक्षादवधिज्ञानी पश्यति । तयोः अमूर्त्तत्वात्, रूपिद्रव्यविषयश्च अवधिः, तदेतदुक्तं भवति-क्षेत्रे काले च यानि द्रव्याणि तेषां च द्रव्याणां ये पर्यायाः तान् पश्यति । उक्तं च-" तत्थेव य जे दव्वा तेसिं चिय जे हवंति पज्जाया । इय खेत्ते कालंमि य जोएज्जा दवपज्जाए ॥ १ ॥ " एवं सर्वत्रापि भावनीयं, क्रिया च गाथाचतुष्टये स्वयं एव योजनीया । तथा द्वयोः अंगुलावलिकयोः संख्येयौ भागौ पश्यति । अंगुलस्य संख्येयभागं पश्यन् आवलिकाया अपि संख्येयं एव भागं पश्यति इत्यर्थः । तथा ' अंगुलं ' अंगुलमात्रं क्षेत्रं पश्यन् ' आवलिकांतः ' किंचिदूनां आवलिकां पश्यति आवलिकां चेत्कालतः

पश्यति तर्हि क्षेत्रतो अंगुलपृथक्त्वपरिमाणं क्षेत्रं पश्यति। उक्तं च “ संखेज्जंगुलभागे आवलियाए वि मुणइ तइभागं। अंगुलमिह पेच्छंतो आवलियंतो मुणइ कालं ॥ १ ॥ 'आवलियं मुणमाणो संपुन्नं खेत्तमंगुलपुहुत्तमि'ति, पृथक्त्वं द्विप्रभृति आ नवभ्य इति। तथा ' हस्ते ' हस्तमात्रे क्षेत्रे ज्ञायमाने कालतो ' मुहूर्तांतः पश्यति ' इत्यर्थः। तथा कालतो ' दिवसांतः ' किंचित् ऊणं दिवसं पश्यन्, क्षेत्रतो ' गव्यूते 'गव्यूतविषयो द्रष्टव्यः, तथा ' योजनं ' योजनमात्रं क्षेत्रं पश्यन् कालतो दिवस-पृथक्त्वं पश्यति, दिवसपृथक्त्वमानं कालं पश्यति इत्यर्थः, तथा ' पक्षांतः ' किंचिदूनं पक्षं पश्यन् क्षेत्रतः पंचविंशतियोजनानि पश्यति॥ ' भरहंमि ' इत्यादि ' भरते ' सकलभरतप्रमाणे क्षेत्राऽवधौ कालतो अर्द्धमास उक्तः, भरतप्रमाणं क्षेत्रं पश्यन् कालतोऽतीतं अनागतं च अर्द्धमासं पश्यति इत्यर्थः। एवं जंबूद्वीपविषयेऽवधौ साधिको मासः कालतो बोद्धव्यः, तथा ' मनुष्यलोके मनुष्यलोक-प्रमाणक्षेत्रविषयेऽवधौ ' वर्षं ' संवत्सरमतीतं अनागतं च पश्यति। तथा रुचकाख्ये रुचकाख्यबाह्यद्वीपप्रमाणक्षेत्रविषयो अवधिः वर्षपृथक्त्वं पश्यति। ' संखेज्जे 'त्यादि, संख्यायत इति संख्येयः, स च वर्षमात्रोऽपि भवति ततः तु शब्दो विशेषणार्थः। किं विशिनष्टि ? संख्येयकालो वर्षसहस्रात् परो वेदितव्यः, तस्मिन् संख्येये काले अवधिगोचरे सति क्षेत्रतस्तस्य एव अवधिः गोचरतया द्वीपाश्च समुद्राश्च द्वीपसमुद्राः ते अपि संख्येया भवंति, अपि शब्दात्महाने कोऽपि महत एकदेशोऽपि, किमुक्तं भवति ?। संख्येये काले अवधिना परिच्छिद्यमाने क्षेत्रं अपि अत्रत्यप्रज्ञापकापेक्षया, संख्येयद्वीप-समुद्रपरिमाणं परिच्छेद्यं भवति। ततो यदि नामात्रत्यस्य अवधिः उत्पद्यते तर्हि जंबूद्वीपात् आरभ्य संख्येया द्वीपसमुद्राः तस्य परिच्छेद्याः, अथवा बाह्ये द्वीपे समुद्रे वा संख्येययोजनविस्तृते कस्यापि तिरश्चः संख्येयकालविषयोऽवधिः उत्पद्यते

तदा स यथोक्तक्षेत्रपरिमाणं तं एव एकं द्वीपं समुद्रं वा पश्यति, यदि पुनः असंख्येययोजनविस्तृते स्वयंभूरमणादिके द्वीपे समुद्रे वा संख्येयकालविषयोऽवधिः कस्यापि उत्पद्यते तदानीं स प्राग् उक्तपरिमाणं तस्य द्वीपसमुद्रस्य वा एकदेशं पश्यति इहत्यमनुष्यबाह्यावधिरिव कश्चित्, तथा काले असंख्येये पल्योपमादिलक्षणे अवधेर्विषये सति तस्य एव असंख्येयकाल-परिच्छेदकस्य अवधेः क्षेत्रतया परिच्छेद्या द्वीपसमुद्रा 'भाज्या' विकल्पनीया भवंति, कस्यचित् असंख्येयाः कस्यचित् संख्येयाः कस्यचिदेकदेश इत्यर्थः। यदा इह[त्य]मनुष्यस्य असंख्येयकालविषयोऽवधिः उत्पद्यते तदानीं असंख्येया द्वीपसमुद्रास्तस्य विषयः, यदा पुनः बहिर्द्वीपे समुद्रे वा वर्त्तमानस्य कस्यचित्तिरश्चोऽसंख्येयकालविषयोऽवधिः उत्पद्यते तर्हि तस्य संख्येया द्वीपसमुद्राः, अथवा यस्य मनुष्यस्यासंख्येयकालविषयो बाह्यद्वीपसमुद्रालंबनो बाह्योऽवधिः उत्पद्यते तस्य संख्येया द्वीपसमुद्राः, यदा पुनः स्वयंभूरमणे द्वीपे समुद्रे वा कस्यचित्तिरश्चोऽवधिः असंख्येयकालविषयो जायते तदानीं तस्य स्वयंभू-रमणस्य द्वीपस्य समुद्रस्य वा एकदेशो विषयः। स्वयंभूरमणविषयमनुष्यबाह्यावधेर्वा तत् एकदेशो विषयः, क्षेत्रप्रमाणं पुनः योजनापेक्षया सर्वत्रापि जंबूद्वीपादारभ्य असंख्येयद्वीपसमुद्रप्रमाणमवसेयं। तदेवं यथा क्षेत्रवृद्धौ कालवृद्धिः कालवृद्धौ च यथा क्षेत्रवृद्धिः तथा प्रतिपादितं ॥ ६ ॥

संप्रति द्रव्यक्षेत्रकालभावानां मध्ये यत् वृद्धौ यस्य वृद्धिः उपजायते। यस्य च न तत् अभिधित्सुराह—

काले चउण्हवुड्ढी, कालो भइअव्व खित्तवुड्ढीए। वुड्ढीए दव्वपज्जव, भइअव्व खित्त काला उ ॥ ७ ॥

'काले' इत्यादि, 'काले' अवधिगोचरे वर्धमाने 'चतुर्णां द्रव्यक्षेत्रकालभावानां वृद्धिः भवति। तथा क्षेत्रस्य वृद्धिः

क्षेत्रवृद्धिः तस्यां सत्यां कालो भजनीयो विकल्पनीयः कदाचिद्वर्द्धते कदाचित् न, क्षेत्रं हि अत्यंतसूक्ष्मं, कालस्तु तदपेक्षया परिस्थूलः, ततो यदि प्रभूता क्षेत्रवृद्धिस्ततो वर्द्धते शेषकालं न इति, द्रव्यपर्यायौ तु नियमतो वर्द्धेते। तथा द्रव्यं च पर्यायश्च द्रव्यपर्यायौ तयोः वृद्धौ सत्यां, सूत्रे विभक्तिलोपः प्राकृतशैल्या, भजनीयावेव क्षेत्रकालौ, तुशब्द एवकारार्थः, स च भिन्नक्रमः। तथैव च योजितः, विकल्पश्चायं कदाचित्तयोः वृद्धिः भवति कदाचित् न, यतो द्रव्यं क्षेत्रात् अपि सूक्ष्मं, एकस्मिन्नपि नभःप्रदेशे अनंतस्कंधावगाहनात्, द्रव्यादपि सूक्ष्मः पर्यायः, एकस्मिन्नपि द्रव्येऽनंतपर्यायसंभवात्। ततो द्रव्यपर्यायवृद्धौ क्षेत्रकालौ भजनीयावेव भवतः, द्रव्ये च वर्द्धमाने पर्याया नियमतो वर्द्धते, प्रतिद्रव्यं संख्येयानामसंख्येयानां चाऽवधिना परिच्छेदसंभवात्। पर्याये तु वर्द्धमाने द्रव्यं भाज्यं, एकस्मिन्नपि द्रव्ये पर्यायविषयावधिवृद्धिसंभवात्। अत्र आह–ननु जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नयोः अवधिज्ञानसंबंधिनोः क्षेत्रकालयोः अंगुलावलिकाऽसंख्येयभागादिरूपयोः परस्परं समयप्रदेशसंख्ययोः किं तुल्यत्वं उत हीनाधिकत्वं? उच्यते, हीनाधिकत्वमावलिकाया असंख्येयभागे जघन्यावधिविषये यावंतः समयास्तदपेक्षया अंगुलस्य असंख्येयभागे जघन्यावधिविषये एव ये नभःप्रदेशाः ते असंख्येयगुणाः, एवं सर्वत्रापि अवधिविषयात् कालादसंख्येयगुणत्वं अवधिविषयस्य क्षेत्रस्य अवगंतव्यम् ॥ ७ ॥

अथ क्षेत्रस्य इत्थं कालादसंख्येयगुणता कथं अवसीयते? उच्यते, सूत्रप्रामाण्यात्, तदेव सूत्रमुपदर्शयति–

सुहुमो अ होइ कालो, तत्तो सुहुमयर हवइ खित्तं। अंगुलसेढिमित्ते, ओसप्पिणिओ असंखिज्जा ॥ ८ ॥

से त्तं वड्ढमाणयं ओहिनाणं।

'सुहुमो अ' इत्यादि, सूक्ष्मः सूक्ष्मो भवति कालः, चशब्दो वाक्यभेदक्रमोपदर्शनार्थो यथा सूक्ष्मस्तावत्कालो भवति यस्मादुत्पलपत्रशतभेदे प्रतिपत्रं असंख्येयाः समयाः प्रतिपद्यंते ततः सूक्ष्मकालः, तस्मादपि कालात् सूक्ष्मतरं क्षेत्रं भवति। यस्मादंगुलमात्रे क्षेत्रे-प्रमाणांगुलैकमात्रे श्रेणिरूपे नभःखंडे प्रतिप्रदेशं समयगणनया असंख्येया अवसर्प्पिण्यः तीर्थकृद्भिराख्याताः, इदमुक्तं भवति-प्रमाणांगुलैकमात्रे एकैकप्रदेशश्रेणिरूपे नभःखंडे यावंतोऽसंख्येयासु अवसर्प्पिणीषु समयास्तावत् प्रमाणाः प्रदेशाः वर्त्तंते। ततः सर्वत्रापि कालादसंख्येयगुणं क्षेत्रं, क्षेत्रादपि च अनंतगुणं द्रव्यं, द्रव्यादपि च अवधिविषयाः पर्यायाः संख्येयगुणा असंख्येयगुणा वा ॥ ८ ॥ तदेतत् वर्द्धमानकं अवधिज्ञानं।

अथ किं तत् हीयमानकं अवधिज्ञानं ?,

से किं तं हीयमाणयं ओहिनाणं ? हीयमाणयं ओहिनाणं अप्पसत्थेहिं अज्झवसाणट्ठाणेहिं वट्टमाणस्स वट्टमाणचरित्तस्स संकिलिस्समाणस्स संकिलिस्समाणचरित्तस्स सव्वओ समंता ओहि परिहायइ से त्तं हीयमाणयं ओहिनाणं।

सूरिराह-हीयमानकं अवधिज्ञानं कथंचिदवाप्तं सत् अप्रशस्तेषु अध्यवसायस्थानेषु वर्त्तमानस्य अविरतसम्यग्दृष्टेर्वर्त्तमानचारित्रस्य-देशविरतादेः 'संक्लिश्यमानस्य' उत्तरोत्तरं संक्लेशमासादयतः, इदं च विशेषणं अविरतसम्यग्दृष्टेः अवसेयं। तथा संक्लिश्यमानचारित्रस्य देशविरतादेः सर्वतः समंतात् अवधिः 'परिहीयते' पूर्वावस्थातो हानिं गच्छति, तदेतत् हीयमानकं अवधिज्ञानं।

अथ किं तत् प्रतिपातिअवधिज्ञानं ?,

से किं तं पडिवाइ ओहिनाणं ? पडिवाइ ओहिनाणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जयभागं वा। संखिज्ज-भागं वा। बालग्गं वा। बालग्गपुहुत्तं वा लिक्खं वा लिक्खपुहुत्तं वा जूअं वा जूअपुहुत्तं वा जवं वा जवपुहुत्तं वा। अंगुलं वा अंगुलपुहुत्तं वा। पायं वा पायपुहुत्तं वा। विहत्थिं वा विहत्थिपुहुत्तं वा। रयणिं वा रयणिपुहुत्तं वा। कुच्छिं वा कुच्छिपुहुत्तं वा। धणुं वा धणुपुहुत्तं वा। गाउं वा गाउपुहुत्तं वा। जोअणं वाजोअणपुहुत्तं वा। जोअणसयं वा जोअणसयपुहुत्तं वा, जोअणसहस्सं वा जोअणसहस्सपुहुत्तं वा। जोअणलक्खं वा जोअणलक्खपुहुत्तं वा। जोअणकोडिं वा जोअणकोडिपुहुत्तं वा। जोअणकोडाकोडिं वा जोअणकोडाकोडिपुहुत्तं वा। जोअणसंखिज्जं वा जोअणसंखिज्जपुहुत्तं वा। जोअणअसंखेज्जं वा जोअण-असंखेज्जपुहुत्तं वा। उक्कोसेणं लोगं वा पासित्ताणं पडिवइज्जा। सेत्तं पडिवाइओहिनाणं।

सूरिराह–प्रतिपाति अवधिज्ञानं यदवधिज्ञानं जघन्यतः सर्वस्तोकतया अंगुलस्यासंख्येयभागमात्रं[वा]संख्येयभागमात्रं वा बालाग्रं वा वालाग्रपृथक्त्वं वा लिक्षां वा–वालाग्रअष्टप्रमाणां लिक्षापृथक्त्वं वा। यूकां वा–लिक्षाष्टकमानां यूकापृथक्त्वं वा, यवं वा– यूकाष्टकमानं यवपृथक्त्वं वा। एवं यावत् उत्कर्षेण सर्वप्रचुरतया लोकं ‘ दृष्ट्वा ’ उपलभ्य ‘ प्रतिपतेत् ’ प्रदीप इव नाशं उपयायात्। तस्य तथाविधक्षयोपशमजन्यत्वात्। तदेतत् प्रतिपातिअवधिज्ञानं, शेषं सुगमं, नवरं ‘ कुक्षिः ’ द्विहस्तप्रमाणा धनुश्चतुर्हस्तप्रमाणं, पृथक्त्वं सर्वत्रापि द्विप्रभृति आ नवभ्य इति सैद्धांतिक्या परिभाषया द्रष्टव्यं।

अथ किं तत् अप्रतिपातिअवधिज्ञानं ?,

से किं तं अपडिवाइ ओहिनाणं अपडिवाइ ओहिनाणं जे णं अलोगस्स एगमवि आगासपएसं जाणइ पासइ तेण परं अपडिवाइ ओहिनाणं से त्तं अपडिवाइ ओहिनाणं।

सूरिराह–अप्रतिपातिअवधिज्ञानं येन अवधिज्ञानेन अलोकस्य संबंधिनं एकं अपि आकाशप्रदेशं, आस्तां बहून् आकाशप्रदेशान् इत्यपिशब्दार्थः, पश्येत्, एतच्च सामर्थ्यमात्रं उपवर्ण्यते, न तु अलोके किंचित् अपि अवधिज्ञानस्य द्रष्टव्यं अस्ति, एतच्च प्रागेव उक्तं। ततः आरभ्य अप्रतिपाति आ केवलप्राप्तेः अवधिज्ञानं, अयमत्र भावार्थः–एतावति क्षयोपशमे संप्राप्ते सत्यात्मा विनिहतप्रधानप्रतिपक्षयोधसंघातनरपतिः इव न भूयः कर्म्मशत्रुणा परिभूयते। किंतु समासादितैतावत् आलोकजयोऽप्रतिनिवृत्तः शेषं अपि कर्म्मशत्रुसंघातं विनिर्जित्य प्राप्नोति केवलराज्यश्रियमिति। तदेतदप्रतिपाति अवधिज्ञानं। तदेवं षट् अपि अवधिज्ञानस्य भेदाः,

संप्रति द्रव्याद्यपेक्षया अवधिज्ञानस्य भेदान् चिंतयति—

तं समासओ चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा–दव्वओ। खित्तओ। कालओ। भावओ। तत्थ दव्वओ णं ओहिनाणी जहन्ने णं अणंताइं रूविदव्वाइं–जाणइ पासइ उक्कोसे णं सव्वाइं रूविदव्वाइं जाणइ पासइ खित्तओ णं ओहिनाणी जहन्ने णं अंगुलस्स असंखिज्जइभागं जाणइ पासइ उक्कोसे णं असंखिजाइं अलोगे लोगप्पमाणमित्ताइं खंडाइं जाणइ पासइ। कालओ णं ओहिनाणी जहन्ने णं आवलिआए असंखिज्जइभागं

कालं जाणइ पासइ उक्कोसे णं असंखिज्जाओ उस्सप्पिणीओ अवसप्पिणीओ अईयमणागयं च कालं जाणइ पासइ। भावओ णं ओहिनाणी जहन्नेणं अणंते भावे जाणइ पासइ। उक्कोसे णं वि अणंते भावे जाणइ पासइ सव्वभावाणमणंतभागं भावे जाणइ पासइ।

तदवधिज्ञानं 'समासतः' संक्षेपेण चतुर्विधं-चतुःप्रकारं प्रज्ञप्तं, तद्यथा-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः 'ण' मिति वाक्यालंकारे, अवधिज्ञानी जघन्येनापि-भावप्रधानोऽयं निर्देशः सर्वजघन्यतयापि अनंतानि रूपि-द्रव्याणि जानाति, तानि च तैजसभाषाप्रायोग्यवर्गणापांतरालवर्त्तीनि द्रष्टव्यानि, उत्कर्षतः पुनः सर्वाणि रूपिद्रव्याणि बादरसूक्ष्मानि जानाति पश्यति। तत्र ज्ञानं विशेषग्रहणात्मकं, दर्शनं सामान्यपरिच्छेदात्मकं, आह-आदौ दर्शनं ततो ज्ञानं इति च क्रमः, तत एनं क्रमं परित्यज्य किमर्थं प्रथमं जानाति इत्युक्तं ? उच्यते। इह सर्वा लब्धयः साकारोपयोगोपयुक्तस्य उत्पद्यंते, अवधिः अपि लब्धिः उपवर्ण्यते, ततः स प्रथमं उत्पद्यमानो ज्ञानरूप एव उत्पद्यते न दर्शनरूपः, ततः क्रमेणोपयोगप्रवृत्तेः ज्ञानोपयोगानंतरं दर्शनरूपोऽपि इति प्रथमतो ज्ञानं उक्तं पश्चात् दर्शनं, अथवा इह अध्ययने सम्यग्ज्ञानं प्ररूपयितुं उपक्रांतं, यतोऽनुयोगप्रारंभेऽवश्यं मंगलाय ज्ञानपंचकरूपो भावनंदिः वक्तव्य इति तत्प्ररूपणार्थं इदं अध्ययनं आरब्धं, ततः सम्यग्ज्ञानं इह प्रधानं, न मिथ्याज्ञानं, तस्य मांगल्यहेतुत्वायोगात्, दर्शनं तु अवधिज्ञानविभंगसाधारणं इति तत् अप्रधानं, प्रधानानुयायी च लौकिकः लोकोत्तरश्च मार्गस्ततः प्रधानत्वात् प्रथमं ज्ञानमुक्तं पश्चाद्दर्शनमिति। तथा क्षेत्रतः अवधिज्ञानी जघन्येन अंगुलासंख्येयभागं उत्कर्षतः असंख्येयानि अलोके लोकप्रमाणानि चतुर्दशरज्ज्वात्मकानि खंडानि जानाति पश्यति।

कालतो अवधिज्ञानी जघन्येन आवलिकाया असंख्येयभागमुत्कर्षतो असंख्येया उत्सर्पिण्यऽवसर्पिणीः-असंख्येयउत्सर्पिण्य-
वसर्पिणीप्रमाणं अतीतमनागतं च कालं जानाति पश्यति। भावतः अवधिज्ञानी जघन्येन अनंतान् भावान्-पर्यायाना-
धारद्रव्यअनंतत्वात्, न तु प्रतिद्रव्यं, प्रतिद्रव्यं संख्येयानां असंख्येयानां वा पर्यायाणां दर्शनात्। उक्तं च-एगं दव्वं पेच्छं
खंधमणुं वा स पज्जवे तस्स। उक्कोसमसंखेज्जे संखेज्जे पेच्छई कोइ ॥ १ ॥' उत्कर्षतः अपि अनंतान् भावान् जानाति
पश्यति। केवलं जघन्यपदात् उत्कृष्टपदं अनंतगुणं, 'सर्वभावानां' सर्वपर्यायाणां अनंतभागं अनंतभागकल्पान् जानाति
पश्यति। तत एवं अवधिज्ञानं द्रव्यादिभेदतः अपि अभिधाय सांप्रतं संग्रहगाथां आह—

ओहि भवपच्चईओ गुणपच्चईओ य वण्णिओ एसो। तस्स य बहु विगप्पा दव्वे खित्ते य काले य ॥ १ ॥
नेरइयदेवतित्थंकरा य ओहिस्स बाहिरा हुंति। पासंति सव्वओ खलु सेसा देसेण पासंति ॥ २ ॥

से त्तं ओहिनाणं।

---

१ 'ननु ओहिस्स बाहिरा हुंति' इत्यनेनैव 'पासंति सव्वओ' इत्यस्यार्थस्य ज्ञानात् 'पश्यन्ति सर्वतः' इत्यस्यानर्थकत्वं प्राप्तमिति चेत्, अवधिज्ञानस्याबाह्या भवन्ति इत्येतावन्मात्रोक्तौ 'सर्वतः पश्यन्ति' इत्यस्यार्थस्याप्रतीयमानत्वात्, सर्वाभ्यन्तरा-वधिकाः सर्वतः पश्यन्त्येवेति नियमाभावात्। अथवा इदं सूत्रं नियताऽनियतावधिविषयकं ज्ञेयं तेन नारकदेवतीर्थपा एव अवधेर-बाह्या भवन्ति अर्थात् नियमेन एषामवधिर्भवतीत्यर्थः, तथा च संशयः स्यात् किं ते देशेन पश्यन्ति आहोस्वित् सर्वतः? ततः आह—'पासंति सव्वओ' इति न कोऽपि शंकावकाशः। न च तेषां नियतावधेः पूर्वगाथया प्रतिपादितत्वात् 'ओहिस्स बाहिरा' इत्यस्या-

अवधिर्भवप्रत्ययतः गुणप्रत्ययतश्च ‘ वर्णितो ’ व्याख्यातः, ‘ पाठांतरं वण्णिओ दुविहो ’ त्ति वर्णितो द्विप्रकारः, तस्य च भवगुणप्रत्ययतो द्विविधस्य अपि बहवो विकल्पा-भेदाः, तद्यथा-द्रव्ये द्रव्यविषयाः कस्यापि कियत् द्रव्यं विषय इति द्रव्यभेदाद्भेदः, तथा क्षेत्रे-क्षेत्रविषया अंगुलअसंख्येयभागादिक्षेत्रभेदात् [भेदः] । काले कालविषया आवलिकाऽसंख्येयभागादि कालभेदात् [भेदः] च शब्दात् भावविषयाश्च कस्यापि कियंतः पर्याया विषय इति भावभेदाद्भेदः । तत्र जघन्यपदे प्रतिद्रव्यं चत्वारो वर्णगंधरसस्पर्शलक्षणाः पर्यायाः । ‘ दो पज्जवे दुगुणिए सव्वजहन्नेण पेच्छए तेउ । वन्नाईया चउरो ’ इति वचनप्रामाण्यात् । मध्यमतः अनेकसंख्यभेदभिन्ना । उत्कर्षतः प्रतिद्रव्यं असंख्येयान् न तु कदाचनापि अनंतान् ॥ १ ॥ नैरयिकदेवतीर्थंकरा ‘ अवधेः ’ अवधिज्ञानस्याबाह्या एव भवंति । बाह्या न कदाचनापि भवंति इति भावः, सर्वतोऽवभासक-अवधिउपलब्धक्षेत्रमध्यवर्तिनः सदैव भवंतीत्यर्थः । तथा पश्यन्ति ‘ सर्वतः ’ सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च, खलु शब्दोऽवधारणार्थः, सर्वासु एव दिग्विदिक्षु इति, शेषाः तिर्यग्नरा देशेन एकदेशेन पश्यंति ॥ २ ॥ तदेतदवधिज्ञानम् ॥

अथ किं तन्मनःपर्यायज्ञानं ?,

से किं तं मणपज्जवनाणं ? मणपज्जवनाणं भंते किं मणुस्साणं उप्पज्जइ अमणुस्साणं उप्पज्जइ ?

नियतावधिकत्वप्रख्यापनाय नर्थक्यमेवेति वाच्यम्, तथापि सर्वकालं तेषां नियतोऽवधिरित्यस्यार्थस्यालाभात् ततः सर्वकालं ‘ अवधेरबाह्या भवन्ति ’ इत्येतत्पदस्यावश्यकत्वात् न च तीर्थंकृतामवधेः सर्वकालावस्थायित्वं विरुध्यत इति वाच्यम्, छद्मस्थकालावच्छेदेनैव विवक्षितत्वादिति ज्ञेयमिति भावः ।

गोयमा ! मणुस्साणं उप्पज्जइ नो अमणुस्साणं जइ मणुस्साणं किं संमुच्छिममणुस्साणं गब्भवक्कंतियमणुस्साणं ?

मनःपर्यायज्ञानं प्राङ्‌निरूपितशब्दार्थः, णं इति वाक्यालंकारे, भदंत इति गुर्वामंत्रणे, किं इति परप्रश्ने, मनुष्याणां उत्पद्यते इति प्रकटार्थं, अमनुष्याणां उत्पद्यते इति, अमनुष्या–देवादयस्तेषां उत्पद्यते, एवं भगवतो गौतमेन प्रश्ने कृते सति परमार्हत्वमहिम्ना विराजमानः त्रिलोकीपतिः भगवान् वर्धमानस्वामी निर्वचनमभिधत्ते–

हे गौतम ! सूत्रे दीर्घत्वं 'सेर्लोपः संबोधने ह्रस्वो वे'ति प्राकृतलक्षणसूत्रे वाशब्दस्य लक्ष्यानुसारेण दीर्घत्वसूचनादवसेयं यथा–भो वयस्सा ! इत्यादौ, मनुष्याणां उत्पद्यते नामनुष्याणां तेषां विशिष्टचारित्रप्रतिपत्त्यभावात्, अत्राह ननु गौतमोऽपि चतुर्दशपूर्वधरः सर्वाक्षरसन्निपाती संभिन्नश्रोताः सकलप्रज्ञापनीयभावपरिज्ञानकुशलः प्रवचनस्य प्रणेता सर्वज्ञदेशीय एव ततः किमर्थं पृच्छति, उच्यते, शिष्यसंप्रत्ययार्थं तथा हि तमर्थं स्वशिष्येभ्यः प्ररूप्य तेषां संप्रत्ययार्थं तत् समक्षं भूयोऽपि भगवंतं पृच्छति, अथवा इत्थं एव सूत्ररचनाकल्पस्ततो न कश्चित् दोष इति ।

पुनरपि गौतम आह, यदि मनुष्याणां उत्पद्यते तर्हि किं संमूर्छिममनुष्याणां उत्पद्यते, किं वा गर्भव्युत्क्रांतिकमनुष्याणां उत्पद्यते ? तत्र 'मूर्छा मोहसमुच्छ्रययोः,' संमूर्च्छनं संमूर्छा भावे घञ् प्रत्ययः, तेन निर्वृत्ताः संमूर्छिमास्ते च वान्तादिसमुद्भवाः[1], तथा गर्भे

१–प्रज्ञापना सूत्रे तु उच्चारेष्विति पदमादि कृत्वा–चतुर्दशस्थानानि प्रदर्शितानि, तथाच 'उच्चारादिसमुद्भवाः' इत्येवं क्रमं त्यक्त्वात्र पंचमस्थानस्थ'वान्तेष्विति पदमादि कृत्वा 'वान्तादिसमुद्भवा' इत्युत्क्रमेण कथमुक्तमिति चेत्, सत्यं, शास्त्रे पूर्वानुपूर्वीक्रमो यथा प्रदर्शितः तथा अनानुपूर्वीक्रमोऽप्युक्तः तज्ज्ञापनाय तथोक्तिरिति ध्येयम् ।

व्युत्क्रांतिः उत्पत्तिर्येषां ते गर्भव्युत्क्रांतिकाः, अथवा गर्भात् व्युत्क्रांतिः व्युत्क्रमणं निष्क्रमणं येषां ते गर्भव्युत्क्रांतिकाः, उभयत्राऽपि गर्भजा इत्यर्थः, भगवानाह—

गोयमा! नो संमुच्छिममणुस्साणं उप्पज्जइ गब्भवक्कंतियमणुस्साणं, जइ गब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं कम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं अकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं अंतरदीवगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं?

गोयमा! कम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं नो अकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं नो अंतरदीवगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, जइ कम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं संखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं असंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं?

नो संमूर्च्छिममनुष्याणां उत्पद्यते, तेषां विशिष्टचारित्रप्रतिपत्त्यसंभवात्, किंतु गर्भव्युत्क्रांतिकमनुष्याणां, एवं सर्वेषामपि प्रश्ननिर्वचनसूत्राणां भावार्थः भावनीयः, नवरं कृपिवाणिज्यतपःसंयमानुष्ठानादिकर्मप्रधाना भूमयः कर्मभूमयः, भरतपंचकैरवतपंचकमहाविदेहपंचकलक्षणाः पंचदश, तासु जाताः कर्मभूमिजाः, कृष्यादिकर्मरहिताः कल्पपादपफलोपभोगप्रधाना भूमयो हैमवतपंचकहरिवर्षपंचकदेवकुरुपंचकोत्तरकुरुपंचकरम्यकपंचकैरण्यवतपञ्चकरूपास्त्रिंशदकर्मभूमयः, तासु जाता अकर्मभूमिजाः, तथाऽन्तरे लवणसमुद्रस्य मध्ये द्वीपा अन्तरद्वीपाः—एकोरुकादयः षट्पञ्चाशत्, तेषु जाता अन्तरद्वीपजाः, एतेषु च वर्तमाना मनुष्या अप्येवं नामानो भवंति, भवति च निवासयोगतस्तथाव्यपदेशो यथा पंचालजनपदनिवासिनः पुरुषाः पंचाला इति,

१–अत्र चारित्रप्रतिपत्त्यसंभवादित्येतन्मात्रेणैव संमूर्च्छिममनुष्याणां व्यवच्छेदसंभवे विशिष्टेति पदाऽऽदाने किमस्ति प्रयोजनम्? गृहाण लाघवमेव प्रयोजनमिति, सर्वत्र हि अनेनैवैकेन हेतुनर्द्धिप्राप्ताप्रमत्तसंयतभिन्नानां व्यावृत्तिः।

गोयमा ! संखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं नो असंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, जइ संखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं पज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं अपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं ?

तथा संख्येयवर्षायुषः पूर्वकोट्यादिजीविनोऽसंख्येयवर्षायुषः-पल्योपमादिजीविनः, तथा पर्याप्तिः आहारादिपुद्गलग्रहणपरिणमनहेतुरात्मनः शक्तिविशेषः सा पर्याप्तिः, सा च षोढा, तद्यथा—आहारपर्याप्तिः, शरीरपर्याप्तिः, इन्द्रियपर्याप्तिः, आनपानपर्याप्तिः, भाषापर्याप्तिः, मनःपर्याप्तिश्चेति, आहारपर्याप्तिश्च प्रथमसमय एव निष्पद्यते, शेषास्तु प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तेन कालेन पर्याप्तयः सिद्ध्यन्ते, पर्याप्तयो विद्यन्ते एषामिति पर्याप्ताः, स्वयोग्यपर्याप्तिपरिसमाप्तिविकलास्तेऽपर्याप्ताः, ते च द्विधा, लब्ध्या, करणैश्च, तत्र येऽपर्याप्तका एव सन्तो म्रियंते न पुनः स्वयोग्यपर्याप्तीः सर्वा अपि समर्थयन्ते ते लब्ध्यपर्याप्तकाः, तेऽपि नियमात् आहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तावेव म्रियन्ते नार्वाक्, यस्मात् आगामिभवायुर्बद्ध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिनः, तच्च आहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपर्याप्तानामेव बध्यत इति,

गोयमा ! पज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, नो अपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, जइ पज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं सम्म-

---

१-तत्र पर्याप्तिः—क्रियापरिसमाप्तिः, आत्मनः शरीरेन्द्रियप्राणापानवाङ्मनोयोग्यदलिकद्रव्याहरणक्रियापरिसमाप्तिराहारपर्याप्तिः, गृहीतस्य शरीरतया संस्थापनक्रियापरिसमाप्तिः शरीरपर्याप्तिः, संस्थानरचनाघटनमित्यर्थः, इत्यादिविशेषो हारिभद्रीयनंदीवृत्ताविति ।

२-ननु आहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तैरेवायुर्बध्यते तत्र चैकैका पर्याप्तिरन्तर्मुहूर्तकालेन समाप्यते, तथा च त्रीण्यन्तर्मुहूर्तानि संभवन्तीति कथं जघन्यायुः अन्तर्मुहूर्तमानमुच्यते ? नैवम्, आयुस्संबंधि अन्तर्मुहूर्तं महत्, पर्याप्तीनामन्तर्मुहूर्तं लघ्विति ज्ञेयं तथा च नासंगतिरिति ।

दिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयगब्भवक्कंतियमणुस्साणं मिच्छादिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं सम्मामिच्छदिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं ?

गोयमा ! सम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं नो मिच्छादिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं नो सम्मामिच्छदिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, जइ सम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं संजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं असंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं संजयासंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं ?

गोयमा ! सम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखिज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, नो असंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं। नो संजयासंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, जइ संजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं पमत्तसंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, अपमत्तसंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं ?

गोयमा ! अपमत्तसंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, नो पमत्त-

संजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, जइ अपमत्तसंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, किं इड्ढीपत्तअपमत्तसंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं अणिड्ढिपत्तअपमत्तसंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्साणं ?

गोयमा ! इड्ढीपत्तअपमत्तसंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमियगब्भमणुस्साणं, नो अणिड्ढीपत्तअपमत्तसंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमियमणुस्साणं मणपज्जवनाणं समुप्पज्जइ[1] । तं च दुविहं उप्पज्जइ तंजहा । उज्जुमई य विउलमई य ।

ये पुनः करणानि शरीरेन्द्रियादीनि न तावन्निर्वर्त्तयन्ति, अथवाऽवश्यं निर्वर्त्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्तकाः, इहोभयेषामपि अपर्याप्तानां प्रतिषेधः, उभयेषामपि विशिष्टचारित्रप्रतिपत्त्यसम्भवात्, तथा सम्यक् अविपरीता दृष्टिर्जिनप्रणीतवस्तुप्रतिपत्तिर्येषां ते सम्यग्दृष्टयः, मिथ्या–विपरीता दृष्टिर्येषां ते मिथ्यादृष्टयः, सम्यक् (च) मिथ्या च दृष्टिर्येषां ते सम्यग्मिथ्यादृष्टयः, येषामेकस्मिन्नपि (च) वस्तुनि तत्पर्याये वा मतिदौर्बल्यादिनैकान्तेन सम्यक्परिज्ञानमिथ्याज्ञानाभावतो न सम्यक् श्रद्धानं नाप्येकान्ततो विप्रतिपत्तिः ते सम्यग्मिथ्यादृष्टयः, उक्तं च शतकबृहत् चूर्णौ 'जहा णालिकेरदीववासिस्स खुहाइयस्सवि एत्थ समागयस्स ओयणाइए अणेगविहे ढोइए । तस्स आहारस्स उवरिं न रुई न य निंदा, जओ तेण सो ओयणाइओ आहारो न कयाइ दिट्ठो ना वि सुओ, एवं सम्मामिच्छ-

1–'अहवा ओहिनाणिणो मणपज्जवनाणं उप्पज्जति त्ति अण्णे नियमं भणंति' इति नंदिचूर्णौ

दिट्ठिस्सावि जीवाइपयत्थाणं उवरिं न य रुई नो वि निंदत्ति' तथा संयताः सकलचारित्रिणः, असंयताः अविरतसम्यग्दृष्टयः, संयतासंयता देशविरतिमन्तः, तथाऽपि प्रमाद्यंति स्म मोहनीयादिकर्मोदयप्रभावतः संज्वलनकषायनिद्राद्यन्यतमप्रमादयोगतः संयमयोगेषु सीदन्ति स्म इति प्रमत्ताः, ते च प्रायो गच्छवासिनः, तेषां क्वचिदनुपयोगसंभवात्, तद्विपरीताः अप्रमत्ताः, ते च प्रायो जिनकल्पिकपरिहारविशुद्धिकाः यथालन्दकल्पिकप्रतिमाप्रतिपन्नाः, तेषां सततोपयोगसंभवात्, [इह] तु ये गच्छवासिनः तन्निर्गता वा प्रमादरहितास्ते अप्रमत्ता द्रष्टव्याः, अथवा ऋद्धिः आमर्षौषध्यादिलक्षणा[तां]प्राप्ताः ऋद्धिप्राप्ताः, तद्विपरीताः अऋ(नृ?)द्धिप्राप्ताः, तत्र मनःपर्यायज्ञानं ऋद्धिप्राप्तानां अप्रमत्तसंयतानां उत्पद्यमानं द्विधा उत्पद्यते, तद्यथा ऋजुमतिश्च विपुलमतिश्च तत्र मननं मतिः संवेदनमित्यर्थः, ऋज्वी सामान्यग्राहिणी मतिः ऋजुमतिः घटोऽनेन चिन्तित इति सामान्याकाराध्यवसायनिबन्धनभूता कतिपयपर्यायविशिष्टमनोद्रव्यपरिच्छित्तिरित्यर्थः, चशब्दः स्वगतानेकद्रव्यक्षेत्रादिभेदसूचकः, तथा विपुला विशेषग्राहिणी मतिः विपुलमतिः घटोऽनेन चिन्तितः स च सौवर्णः पाटलिपुत्रकः अद्यतनो महान् अपवरकास्थितः फलपिहित इत्याद्यध्यवसायहेतुभूता प्रभूतविशेषविशिष्टमनोद्रव्यपरिच्छित्तिरित्यर्थः, चशब्दः पूर्ववत्।

१–प्राग्ऋद्ध्यप्रमत्तसंयतानामुत्पद्यत इत्युक्ते तद्भिन्नानां संमूर्च्छिमादिविशिष्टानां व्यावृत्तिसंभवे अधिकसूत्रसूत्रणं व्यर्थमिति चेत्, इह च सर्वत्रैव मनुष्यादिषु विधाने सत्यर्थतो गम्यमानस्याऽपि विपक्षनिषेधस्याभिधानमव्युत्पन्नविनेयजनानुग्रहार्थमदुष्टैवेति तथा हि–सर्वपार्षदं हीदं शास्त्रं त्रिविधाश्च विनेया भवन्ति, तद्यथा–उद्घाटितज्ञानाः, मध्यमबुद्धयः, प्रपंचधियश्चेत्यलं विस्तरेणेति हरिभद्रसूरयः।

२–ऋजुत्वं विपुलत्वं च मूर्तधर्मौ, अमूर्ते ज्ञाने तदयोगात्, अत आह–सामान्यग्राहिणीत्यादि, अत्र सामान्यशब्दः स्तोकाभिधायी, मनःपर्यायदर्शनानुक्तत्वात्, तथा च विशेषमेकं द्वौ त्रीन् वा गृह्णन्ती ऋजुमतिः प्रवर्तते, ज्ञानात्मकतयैव तदुत्पत्तेरिति।

तं समासओ चउविहं पन्नतं, तं जहा–दव्वओ, खित्तओ, कालवो, भावओ। तत्थ दव्वओ णं उज्जुमई अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ पासइ, तं चेव विउलमई अब्भहियतराए विउलतराए विसुद्धतराए वितिमिरतराए जाणइ पासइ। खित्तओ णं उज्जुमईजहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जयभागं उक्कोसेणं अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमहेट्ठिल्ले खुड्डगपयरे उड्ढं जाव जोइसस्स उवरिमतले, तिरियं जाव अन्तो मणुस्सखित्ते अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमिसु तीसाए अकम्मभूमिसु छपन्नए अन्तरदीवगेसु सन्निपंचिदियाणं पज्जत्तयाणं मणोगए भावे जाणइ पासइ।

तं चेव विउलमई अड्ढाईज्जेहिं अंगुलेहिं अब्भहियतरं विउलतरं विसुद्धतरं वितिमिरतरागं खेत्तं जाणइ पासइ कालओ णं उज्जुमई जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखिज्जइभागं उक्कोसेणवि पलिओवमस्स अतीयमणागयं वा कालं जाणइ पासइ तं चेव विउलमई अब्भहियतरागं विसुद्धतरागं जाणइ पासइ। भावओ णं उज्जुमई अणंते वावे जाणइ पासइ। सव्वभावाणं अणंतभागं जाणइ पासइ तं चेव विउलमई अब्भहियतरागं विउलतरागं विसुद्धतरागं वितिमिरतरागं जाणइ पासइ, मणवज्जवनाणं पुण जणमणविचिंतियत्थपागडणं माणुसखित्तनिबद्धं गुणपच्चइणं चरित्तवओ सेत्तं मणवज्जवनाणं।

तन्मनःपर्यायज्ञानं[1] द्विविधमपि 'समासतः' संक्षेपेण चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च, तत्र द्रव्यतः,

---

१–मनोमात्रसाक्षात्कारिज्ञानं मनःपर्यवज्ञानमिति व्युत्पत्त्या लक्षणमायाति तथाऽपि भावमनःपर्यायमात्रसाक्षात्कारि मनःपर्यायज्ञानमिति लक्षणं ज्ञेयं तेनाकाशस्थमनोवर्गणामादाय न काचित् क्षतिः।

णमिति वाक्यालंकारे, ऋजुमतिः अनन्तान्तप्रदेशिकान् अनन्तपरमाण्वात्मकान् स्कंधान् विशिष्टैकपरिणामपरिणतान् अर्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्तिपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियैः मनस्त्वेन परिणामितान् पुद्गलसमूहानित्यर्थः । जानाति साक्षात्कारेणावगच्छति, पासइत्ति इह मनस्त्वपरिणतैः स्कन्धैः आलोचितं बाह्यमर्थं घटादिलक्षणं साक्षात् अध्यक्षतो मनःपर्यायज्ञानी न जानाति किन्तु मनोद्रव्याणामेव तथारूपपरिणामान्यथानुपपत्तितो अनुमानतः, इत्थं चैतत् अङ्गीकर्तव्यं यतो मूर्तद्रव्यालंबनमेव इदं मनःपर्यायज्ञानमिष्यते, मंतारस्तु अमूर्तमपि धर्मास्तिकायादिकं मन्यन्ते, ततः अनुमानत एव चिन्तितमर्थमवबुध्यन्ते, नान्यथा इति प्रतिपत्तव्यं, ततः तमधिकृत्य पश्यति इत्युच्यते, तत्र मनोनिमित्तस्य अचक्षुर्दर्शनस्य संभवात्, अथवा सामान्यतः एकरूपेऽपि ज्ञाने क्षयोपशमस्य तत् तत् द्रव्याद्यपेक्षया वैचित्र्यसंभवात् अनेकविधः उपयोगः संभवति, यथात्रैव ऋजुमतिविपुलमतिरूपः, ततो विशिष्टतरमनोद्रव्याकारपरिच्छेदापेक्षया जानाति इत्युच्यते, सामान्यरूपं मनोद्रव्याकारपरिच्छेदापेक्षया तु पश्यतीति, सामान्यतः एकरूपेऽपि क्षयोपशमलंभे अपान्तराले द्रव्याद्यपेक्षया क्षयोपशमस्य विशेषसंभवात् द्विविधोपयोगो भवतीति, तदेवं विशिष्टतरमनोद्रव्याकारपरिच्छेदापेक्षया सामान्यरूपमनोद्रव्याकारपरिच्छेदो व्यवहारतः दर्शनरूप उक्तः, परमार्थतः पुनः सोऽपि ज्ञानमेव, यतः सामान्यरूपमपि मनोद्रव्याकारं प्रतिनियतमेव पश्यति, प्रतिनियतविशेषग्रहणात्मकं च ज्ञानं न दर्शनं, अत एव सूत्रेऽपि दर्शनं चतुर्विधमेवोक्तं, न पंचविधमपि, मनःपर्यायदर्शनस्य परमार्थतोऽसंभवादिति, तथा तानेव मनस्त्वेन परिणामितान् स्कंधान् विपुलमतिः, अति अधिकतरानर्धतृतीयाङ्गुलप्रमाणभूमिक्षेत्रवर्तिभिः स्कन्धैरधिकतरान् विपुलतरकान् प्रभूततरकान् तथा विशुद्धतरान् निर्मलतरान् ऋजुमत्यपेक्षयाऽतीव स्फुटतरप्रकाशानित्यर्थः, वितिमिरतरकान्–विगतं तिमिरं तिमिरसंपाद्यो भ्रमो येषु ते वितिमिराः ततो 'द्वयोः प्रकृष्टे तरप्' इति तरप्प्रत्ययस्ततः प्राकृतलक्ष-

णात् स्वार्थे कप्रत्यय एवं पूर्वेष्वपि पदेषु यथायोगं व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या, वितिमिरतरकान्-सर्वथा भ्रमरहितान्, अथवा अति-अधिकतरकान्
विपुलतरकानिति द्वावपि शब्दावेकार्थौ, विशुद्धतरकान् वितिमिरतरकानेतौ द्वावप्येकार्थौ, नानादेशजा हि विनेया भवन्ति ततः कोऽपि
कस्यापि प्रसिद्धो भवतीति तेषामनुग्रहार्थमेकार्थिकपदोपन्यासः, तथा क्षेत्रतः, णमिति वाक्यालंकारे, ऋजुमतिरधडो यावत् अस्याः रत्नप्रभायाः
पृथिव्या उपरितनाधस्तनान् क्षुल्लकप्रतरान्, अथ किमिदं क्षुल्लकप्रतर इति ? उच्यते, इह लोकाकाशप्रदेशा उपरितनाधस्तनप्रदेशरहिततया
विवक्षिता मण्डकाकारतया व्यवस्थिताः प्रतरमित्युच्यते, तत्र तिर्यग्लोकस्योर्द्ध्वाधोपेक्षयाऽष्टादशयोजनशतप्रमाणस्य मध्यभागे द्वौ सर्वलघू
क्षुल्लकप्रतरौ, तयोर्मध्यभागे जम्बूद्वीपे रत्नप्रभाया बहुसमे भूमिभागे मेरुमध्येऽष्टप्रादेशिको रुचकस्तत्र गोस्तनाकाराश्चत्वार उपरितनाः
प्रदेशाश्चत्वारश्चाधस्तनाः, एष एव च रुचकः सर्वासां दिशां विदिशां वा प्रवर्तकः, एतदेव च सकलतिर्यग्लोकमध्यं, तौ च द्वौ सर्वलघू
प्रतरौ अङ्गुलासङ्ख्येयभागबाहल्यावलोकसंवर्त्तितौ रज्जुप्रमाणौ, तत एतयोरुपर्यन्येऽन्ये प्रतराः तिर्यगङ्गुलासंख्येयभागवृद्ध्या वर्धमानास्ताव-
द्रष्टव्याः, यावदूर्द्ध्वलोकमध्यं, तत्र पंचरज्जुप्रमाणः प्रतरः, तत उपर्यन्ये प्रतराः, तिर्यगंगुलासंख्येयभागहान्या हीयमानास्तावदवसेया
यावल्लोकान्ते रज्जुप्रमाणः प्रतरः, इह ऊर्द्ध्वलोकमध्यवर्तिनं सर्वोत्कृष्टं पंचरज्जुप्रमाणं प्रतरमवधीकृत्यान्ये उपरितना अधस्तनाश्च क्रमेण
हीयमानाः सर्वेऽपि प्रतराः क्षुल्लकप्रतरा इति व्यवह्रियन्ते यावल्लोकान्ते तिर्यग्लोके च रज्जुप्रमाणः प्रतर इति, तथा तिर्यग्लोकमध्यवर्ति-
सर्वलघुक्षुल्लकप्रतरस्याधस्तिर्यगंगुलासंख्येयभागवृद्ध्या वर्धमाना वर्धमानाः प्रतराः तावद्वक्तव्याः यावदधोलोकान्ते सर्वोत्कृष्टसप्तरज्जु

१–मण्डका(ला ?)कार तया–गोलाकारतयेत्यर्थः ।

२–प्रतरशब्दो हि पुंनपुंलिङ्गवर्तीति ज्ञायते हारिभद्रीयनंदीवृत्तौ उभयलिङ्गप्रयोगदर्शनात् ।

: प्रतरः, तं च सप्तरज्जुप्रमाणं प्रतरं अपेक्ष्यान्ये उपरितनाः सर्वेऽपि क्रमेण हीयमानाः क्षुल्लकप्रतरा अभिधीयन्ते यावत्तिर्यग्लोकमध्यवर्ती सर्वलघुक्षुल्लकप्रतर एषा क्षुल्लकप्रतरप्ररूपणा। तत्र तिर्यग्लोकमध्यवर्तिनः सर्वलघुरज्जुप्रमाणात् क्षुल्लकप्रतरात् आरभ्य यावदधो नवयोजनशतानि तावत् अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां ये प्रतराः ते उपरितनक्षुल्लकप्रतरा भण्यन्ते, तेषामपि चाधस्तात् ये प्रतरा यावदधोलौकिकग्रामेषु सर्वान्तिमः प्रतरस्तेऽधस्तनक्षुल्लकप्रतराः तान् यावदधः क्षेत्रत ऋजुमतिः पश्यति, अथवाऽधोलोकस्योपरितनभागवर्तिन क्षुल्लकप्रतरा उपरितना उच्यन्ते, ते चाधोलौकिकग्रामवर्तिप्रतरादारभ्य तावदवसेया यावत्तिर्यग्लोकस्यान्तिमः अधस्तनप्रतरः, मध्यभागादारभ्याधोभागवर्तिनः क्षुल्लकप्रतरा अधस्तना उच्यन्ते, तत उपरितनाश्चाधस्तनाश्च उपरितनाधस्तनाः तान् , ऊर्ध्वं यावत् ज्योतिश्चक्रस्योपरितलः तिर्यग् यावदन्तो मनुष्यक्षेत्रे मनुष्यलोकपर्यन्त इत्यर्थः, अर्धतृतीयेषु द्वीप- कर्मभूमिसु त्रिंशति चाकर्मभूमिषु षट्पंचाशतसंख्येषु च अंतरद्वीपेसु संज्ञिनां, ते चापांतरालगतावपि तदायुष्कसंवेद- भधीयन्ते न च तैरिहाधिकारः, ततो विशेषणमाह–पंचेन्द्रियाश्च उपपात[क्षेत्र]मागताः, इन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तौ मनःपर्याप्त्या र्याप्ता अपि भवन्ति न च तैः प्रयोजनं अतो विशेषणान्तरमाह–पर्याप्तानाम्, अथवा संज्ञिनो हेतुवादोपदेशेन विकलेन्द्रिया अपि भण्यन्ते, ततः तद् व्यवच्छेदार्थं पंचेन्द्रियग्रहणं, ते च अपर्याप्तका अपि भवन्ति, अतःत द् व्यवच्छेदार्थं पर्याप्तग्रहणम्, तेषां मनोगतान् भावान् जानाति पश्यति तदेव मनोलब्धिसमन्वितजीवाधारक्षेत्रं विपुलमतिः, अर्द्धं तृतीयं येषु तानि अर्धतृतीयानि अंगुलानि, तानि च ज्ञानाधिक ... ि, तैरर्धतृतीयैः अंगुलैः अति-अधिकतरं, तच्च एकदेशमपि भवति तत आह–विपुलतरं

क्षेत्रं पश्यन्तीति तत्र प्रमाणांगुलं ग्राह्यमथवोत्सेधांगुलमिति प्रश्नोत्तरे 'आयंगुलेणेत्यादिकारिकया

विस्तीर्णतरं, अथवा आयामविष्कंभाभ्यां अति-अधिकतरं बाहल्यं आश्रित्य विपुलतरं, तथा विशुद्धतरं वितिमिरतरं इति च प्राग्वत्,
जानाति पश्यति 'तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेश' इति तावत् क्षेत्रगतानि मनोद्रव्याणि जानाति पश्यति इत्यर्थः । मनःपर्यायज्ञानं पुनः संयतस्य
अप्रमत्तस्य आमर्पौषध्याद्यन्यतमऋद्धिप्राप्तस्य, द्रव्यतः संज्ञिमनोद्रव्यविषयं, क्षेत्रतः मनुष्यक्षेत्रगोचरं, कालतः अतीतअनागतपल्योपम-
असंख्येयभागविषयं, भावतः मनोद्रव्यगतानंतपर्यायालंबनं, ततः अवधिज्ञानात् भिन्नं,-'एतदेव लेशतः सूत्रकृदाह-जनमनःपरिचिन्ति-
तार्थप्रकटनं,' जायंते इति जनाः, तेषां मनांसि जनमनांसि तैः परिचिन्तितश्चासौ अर्थश्च जनमनःपरिचिन्तितार्थस्तं प्रकटयति जनमनः-
परिचिन्तितार्थप्रकटनं, तथा मानुषक्षेत्रनिबद्धं न तत् बहिःव्यवस्थितप्राणिद्रव्यमनोविषयं इत्यर्थः । तथा गुणाः क्षांत्यादयः ते प्रत्ययः कारणं
यस्य तत् गुणप्रत्ययं चारित्रवतः अप्रमत्तसंयतस्य तदेतत् मनःपर्यायज्ञानं ॥

से किं तं केवलनाणं? केवलनाणं दुविहं पन्नत्तं, तं जहा भवत्थकेवलनाणं च सिद्धकेवलनाणं च, से किं तं भवत्थकेवलनाणं भवत्थकेवलनाणं? दुविहं पन्नत्तं तं जहा-सजोगिभवत्थकेवलनाणं च अयोगिभवत्थकेवलनाणं च।

अथ किं तत् केवलज्ञानं[1]? सूरिराह-केवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा भवस्थकेवलज्ञानं सिद्धकेवलज्ञानं च, कर्मवशवर्ति-
प्राणिनः [भवन्ति] अस्मिन्निति भवो नारकादिजन्म, तत्र इह भवो मनुष्यभव एव ग्राह्यः, अन्यत्र केवलोत्पादाभावात्, भवे

प्रमाणांगुलं ग्राह्यमित्युक्त्वा नंदिसूत्रे (टीकायां) तूत्सेधांगुलमानमुक्तं तत् ज्ञानी वेत्तीति प्रश्नचिंतामणिग्रन्थोक्तं न समीचीनं भाति नंदीसूत्रचूर्णावपि 'अड्ढातियं-गुलग्गहणं उस्सेहंगुलमाणतो कहं णज्जति'? इति प्रश्नपूर्वकं 'उस्सेहपमाणतो मिणसु देहं' ति वयणातो अंगुलादिया य जे पमाणा ते सव्वे देहनिप्फण्णा इति णाण-विसयत्तणतो य ण दोसो' इत्युक्तत्वात् ।

१-'ज्ञानान्तरासहचारितं' 'सर्वविषयं वा' केवलज्ञानमिति वाचकवर्ययशोविजयीयतत्त्वार्थटीकायामिति ।

प्रमाणः प्रतरः, तं च सप्तरज्जुप्रमाणं प्रतरं अपेक्ष्यान्ये उपरितनाः सर्वेऽपि क्रमेण हीयमानाः क्षुल्लकप्रतरा अभिधीयन्ते यावत्तिर्यग्लोकमध्यवर्ती सर्वलघुक्षुल्लकप्रतर एषा क्षुल्लकप्रतरप्ररूपणा। तत्र तिर्यग्लोकमध्यवर्तिनः सर्वलघुरज्जुप्रमाणात् क्षुल्लकप्रतरात् आरभ्य यावदधो नवयोजनशतानि तावत् अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां ये प्रतराः ते उपरितनक्षुल्लकप्रतरा भण्यन्ते, तेषामपि चाधस्तात् ये प्रतरा यावदधोलौकिकग्रामेषु सर्वान्तिमः प्रतरस्तेऽधस्तनक्षुल्लकप्रतराः तान् यावदधः क्षेत्रत ऋजुमतिः पश्यति, अथवाऽधोलोकस्योपरितनभागवर्तिन क्षुल्लकप्रतरा उपरितना उच्यन्ते, ते चाधोलौकिकग्रामवर्तिप्रतरादारभ्य तावदवसेया यावत्तिर्यग्लोकस्यान्तिमः अधस्तनप्रतरः, तथा तिर्यग्लोकस्य मध्यभागादारभ्याधोभागवर्तिनः क्षुल्लकप्रतरा अधस्तना उच्यन्ते, तत उपरितनाश्चाधस्तनाश्च उपरितनाधस्तनाः तान् यावदृजुमतिः पश्यति, ऊर्ध्वं यावत् ज्योतिश्चक्रस्योपरितलः तिर्यग् यावदन्तो मनुष्यक्षेत्रे मनुष्यलोकपर्यन्त इत्यर्थः, अर्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु पंचदशसु कर्मभूमिसु त्रिंशति चाकर्मभूमिषु षट्पंचाशतसंख्येषु च अंतरद्वीपेसु संज्ञिनां, ते चापांतरालगतावपि तदायुष्कसंवेदनात् अभिधीयन्ते न च तैरिहाधिकारः, ततो विशेषणमाह–पंचेन्द्रियाश्च उपपात[क्षेत्र]मागताः, इन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तौ मनःपर्याप्त्या अपर्याप्ता अपि भवन्ति न च तैः प्रयोजनं अतो विशेषणान्तरमाह–पर्याप्तानाम्, अथवा संज्ञिनो हेतुवादोपदेशेन विकलेन्द्रिया अपि भण्यन्ते, ततः तद् व्यवच्छेदार्थं पंचेन्द्रियग्रहणं, ते च अपर्याप्तका अपि भवन्ति, अतःत द् व्यवच्छेदार्थं पर्याप्तग्रहणम्, तेषां मनोगतान् भावान् जानाति पश्यति तदेव मनोलब्धिसमन्वितजीवाधारक्षेत्रं विपुलमतिः, अर्द्धं तृतीयं येषु तानि अर्धतृतीयानि अंगुलानि, तानि च ज्ञानाधिकारात् उच्छ्रयअंगुलानि द्रष्टव्यानि, तैरर्धतृतीयैः अंगुलैः अति-अधिकतरं, तच्च एकदेशमपि भवति तत आह–विपुलतरं

१–विपुलमतिमनःपर्यायज्ञानिनः सार्धद्वयंगुलाधिकं क्षेत्रं पश्यन्तीति तत्र प्रमाणांगुलं ग्राह्यमथवोत्सेधांगुलमिति प्रश्नोत्तरे 'आयंगुलेणेत्यादिकारिकया

विस्तीर्णतरं, अथवा आयामविष्कंभाभ्यां अति-अधिकतरं बाहल्यं आश्रित्य विपुलतरं, तथा विशुद्धतरं चितिमिरतरं इति च प्राग्वत्, जानाति पश्यति 'तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेश' इति तावत् क्षेत्रगतानि मनोद्रव्याणि जानाति पश्यति इत्यर्थः । मनःपर्यायज्ञानं पुनः संयतस्य अप्रमत्तस्य आमर्पौषध्याद्यन्यतमऋद्धिप्राप्तस्य, द्रव्यतः संज्ञिमनोद्रव्यविपयं, क्षेत्रतः मनुष्यक्षेत्रगोचरं, कालतः अतीतअनागतपल्योपम-असंख्येयभागविपयं, भावतः मनोद्रव्यगतानंतपर्यायालंबनं, ततः अवधिज्ञानात् भिन्नं,-'एतदेव लेशतः सूत्रकृदाह-जनमनःपरिचिन्तितार्थप्रकटनं,' जायंते इति जनाः, तेषां मनांसि जनमनांसि तैः परिचिन्तितश्चासौ अर्थश्च जनमनःपरिचिन्तितार्थस्तं प्रकटयति जनमनः-परिचिन्तितार्थप्रकटनं, तथा मानुषक्षेत्रनिबद्धं न तत् बहिःव्यवस्थितप्राणिद्रव्यमनोविषयं इत्यर्थः । तथा गुणाः क्षांत्यादयः ते प्रत्ययः कारणं यस्य तत् गुणप्रत्ययं चारित्रवतः अप्रमत्तसंयतस्य तदेतत् मनःपर्यायज्ञानं ॥

से किंतं केवलनाणं? केवलनाणं दुविहं पन्नत्तं, तं जहा भवत्थकेवलनाणं च सिद्धकेवलनाणं च, से किं तं भवत्थकेवलनाणं भवत्थकेवलनाणं? दुविहं पन्नत्तं तं जहा-सजोगिभवत्थकेवलनाणं च अयोगिभवत्थकेवलनाणं च।

अथ किं तत् केवलज्ञानं[1]? सूरिराह-केवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा भवस्थकेवलज्ञानं सिद्धकेवलज्ञानं च, कर्मवशवर्तिप्राणिनः [भवन्ति] अस्मिन्निति भवो नारकादिजन्म, तत्र इह भवो मनुष्यभव एव ग्राह्यः, अन्यत्र केवलोत्पादाभावात्, भवे

प्रमाणांगुलं ग्राह्यमित्युक्त्वा नंदिसूत्रे (टीकायां) तूत्सेधांगुलमानमुक्तं तत् ज्ञानी वेत्तीति प्रश्नचिंतामणिग्रन्थोक्तं न समीचीनं भाति नंदीसूत्रचूर्णावपि 'अड्ढातियंगुलग्गहणं उस्सेहंगुलमाणतो कहं णज्जति'? इति प्रश्नपूर्वकं 'उस्सेहपमाणतो मिणसु देहं' ति वयणातो अंगुलादिया य जे पमाणा ते सव्वे देहनिप्फण्णा इति णाणविसयत्तणतो य ण दोसो' इत्युक्तत्वात् ।

१-'ज्ञानान्तरासहचारितं' 'सर्वविषयं वा' केवलज्ञानमिति वाचकवर्ययशोविजयीयतत्त्वार्थटीकायामिति ।

तिष्ठतीति भवस्थः तस्य केवलज्ञानं भवस्थकेवलज्ञानं, चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः, तथा षिधू संराद्धौ सिध्यति स्म सिद्धः, यो येन गुणेन परिनिष्ठितो न पुनः साधनीयः स सिद्धः उच्यते, यथा सिद्ध ओदनः, स च 'कम्मे सिप्पे॰ इत्यादि कर्मसिद्धादिभेदात् अनेकविधः, अत्र कर्मक्षयसिद्धेन अधिकारो अन्यस्य केवलज्ञानासंभवात्, अथवा सितं बद्धं ध्मातं भस्मीकृतं अष्टप्रकारं कर्म येन स सिद्धः, पृषोदरादय इति रूपसिद्धिः, सकलकर्मविनिर्मुक्तः, मुक्तावस्थां उपागत इत्यर्थः। तस्य केवलज्ञानं [सिद्धकेवलज्ञानं] अत्रापि चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः, अथ किं तत् भवस्थकेवलज्ञानं? भवस्थकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा सयोगि-भवस्थ-केवलज्ञानं च अयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च, तत्र योजनं योगो व्यापारः, उक्तं च 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' ततः सह योगेन वर्तन्ते ये ते सयोगाः मनोवाक्कायास्ते यथासंभवं अस्य विद्यन्ते इति सयोगी, सयोगी चासौ भवस्थश्च सयोगिभवस्थः तस्य केवलज्ञानं सयोगिभवस्थकेवलज्ञानं, स योगः अस्य विद्यते इति योगी न योगी अयोगी, अयोगी चासौ भवस्थश्च अयोगि-भवस्थः, शैलेश्यवस्थां उपागत इत्यर्थः, तस्य केवलज्ञानं—अयोगिभवस्थकेवलज्ञानं ॥

से किं तं सजोगिभवत्थकेवलनाणं?, सयोगिभवत्थकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—पढमसमयसयोगि-भवत्थकेवलनाणं च अपढमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणं च, अहवा चरमसमयसयोगिभवत्थकेवलनाणं च अचरमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणं च, से तं सजोगिभवत्थकेवलनाणं। से किं तं अयोगिभवत्थकेवलनाणं? अयोगिभवत्थकेवलनाणं—दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—पढमसमयअयोगिभवत्थकेवलनाणं च अपढमसमयअजोगि-भवत्थकेवलनाणं च, अहवा चरमसमयअजोगिभवत्थकेवलनाणं च अचरमसमयअजोगिभवत्थकेवलनाणं च, सेतं अजोगिभवत्थकेवलनाणं।

अथ किं तत्सयोगिभवस्थकेवलज्ञानं ? सयोगिभवस्थकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–प्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानं
चाप्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च। तत्र इह प्रथमसमयः केवलज्ञानोत्पत्तिसमयः, अप्रथमसमयः केवलोत्पत्तिसमयादूर्द्ध्वं
द्वितीयादिकः सर्वोऽपि समयो यावत् सयोगित्वचरमसमयः, अथवा इति प्रकारांतरे, एष एव अर्थः समयविकल्पनेनान्यथा प्रतिपाद्यते
इत्यर्थः। चरमसमय इत्यादि तत्र चरमसमयः सयोग्यवस्थांतिमसमयः, न चरमसमयः अचरमसमयः सयोग्यवस्थाचरमसमयाद्‌र्वाक्तनः
सर्वोऽप्याकेवलप्राप्तेः। से त्तं इत्यादिनिगमनं सुगमं। अथ किं तदयोगिभवस्थकेवलज्ञानं ? अयोगिभवस्थकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं,
तद्यथा–प्रथमसमयायोगिभवस्थकेवलज्ञानं च अप्रथमसमयायोगिभवस्थकेवलज्ञानं च, अत्र प्रथमसमयः अयोगित्वोत्पत्तिसमयो
वेदितव्यः शैलेश्यवस्थाप्रतिपत्तिप्रथमसमय इत्यर्थः। प्रथमसमयादन्यः सर्वोऽप्यप्रथमसमयो यावत् शैलेश्यवस्थाचरमसमयः, [अथ
वेति प्रकारान्तरे 'चरमसमये'त्यादि, इह चरमसमयः शैलेश्यवस्थान्तिमसमयः, चरमसमयादन्यः सर्वोऽप्यचरमसमयो यावच्छैलेश्य-
वस्थाप्रथमसमयः 'से त्तं अयोगिभवत्थकेवलनाणं'] तदेतदयोगिभवस्थकेवलज्ञानम् ॥

से किं तं सिद्धकेवलनाणं। सिद्धकेवलनाणं दुविहं पन्नत्तं तं जहा अणंतरसिद्धकेवलनाणं च परंपर
सिद्धकेवलनाणं च। से किं तं अणंतरसिद्ध केवलनाणं। अणंतरसिद्धकेवलनाणं पन्नरस्सविहं पन्नत्तं तं जहा—
तित्थसिद्धा[1], अतित्थसिद्धा[2], तित्थयरसिद्धा[3], अतित्थयरसिद्धा, सयंबुद्धसिद्धा, पत्तेयबुद्धसिद्धा[6], बुद्धबोहियसिद्धा,
इत्थिलिंगसिद्धा, पुरिसलिंगसिद्धा, नपुंसगलिंगसिद्धा[10], सलिंगसिद्धा[11], अन्नलिंगसिद्धा[12], गिहिलिंगसिद्धा[13],
एगसिद्धा[14] अणेगसिद्धा[15] से त्तं अणंतरसिद्धकेवलनाणं।

अथ किं तत्सिद्धकेवलज्ञानं ? सिद्धकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–अनंतरसिद्धकेवलज्ञानं च परंपरसिद्धकेवलज्ञानं च, तत्र न विद्यते अंतरं–समयेन व्यवधानं यस्य सोऽनंतरः, स चासौ सिद्धश्चानंतरसिद्धः, सिद्धत्वप्रथमसमये वर्त्तमान इत्यर्थः, तस्य केवलज्ञानमनंतरसिद्धकेवलज्ञानं, चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः, तथा विवक्षिते प्रथमसमये यः सिद्धः तस्य यो द्वितीयसमयसिद्धः स परस्तस्यापि[यः] तृतीयसमयसिद्धः स परः, एवमन्येऽपि वाच्याः, परे च परे च इति वीप्सायां पृषोदरादय इति परंपरशब्दनिष्पत्तिः परंपरे च ते सिद्धाश्च परंपरसिद्धाः, विवक्षितसिद्धत्वप्रथमसमयात् प्राक् द्वितीयादिषु समयेषु अनंतातीताद्धां यावत् वर्त्तमाना इत्यर्थः, तेषां केवलज्ञानं परंपरसिद्धकेवलज्ञानं, अत्रापि चशब्दः स्वगताऽनेकभेदसूचकः ।

अथ किं तत् अनंतरसिद्धकेवलज्ञानं ?, सूरिराह–अनंतरसिद्धकेवलज्ञानं पंचदशविधं प्रज्ञप्तं, 'तद्यथा', इति उपदर्शने 'तित्थसिद्धा' इत्यादि, तीर्यते संसारसागरोऽनेति तीथ–यथावस्थितसकलजीवाजीवादिपदार्थसार्थप्ररूपकं परमगुरुप्रणीतं प्रवचनं, तच्च निराधारं न भवतीति कृत्वा संघः प्रथमगणधरो वा वेदितव्यम्, तस्मिन्नुत्पन्ने ये सिद्धाः, ते तीर्थसिद्धाः, १, तथा तीर्थस्याभावोऽतीर्थं तीर्थस्याभावश्च अनुत्पादोऽपांतराले व्यवच्छेदो वा, तस्मिन् ये सिद्धास्ते अतीर्थसिद्धाः । तत्र तीर्थस्यानुत्पादे सिद्धा मरुदेवी-प्रभृतयः, नहि मरुदेव्यादिसिद्धिगमनकाले तीर्थं उत्पन्नमासीत् । तथा तीर्थस्य व्यवच्छेदश्चंद्रप्रभस्वामिसुविधिस्वाम्यपांतराले, तत्र ये जातिस्मरणादिनाऽपवर्गमवाप्य सिद्धास्ते तीर्थव्यवच्छेदसिद्धाः, २, तथा तीर्थकराः सन्तो ये सिद्धास्ते तीर्थकरसिद्धाः[2] ३, अतीर्थकर-

१ शैलेश्यवस्थापर्यन्तवर्तिसमयसमासादितसिद्धत्वस्य तस्मिन्नेव समये यत् केवलज्ञानं तदनन्तरसिद्धकेवलज्ञानमिति हारिभद्रवृत्तौ ।
२ तीर्थंकरनामकर्मोदयभावे स्थिताः तीर्थकरभावतो वा सिद्धाः तीर्थकरसिद्धाः ।

सिद्धा अन्ये सामान्यकेवलिनः ४, तथा स्वयंबुद्धाः सन्तो ये सिद्धास्ते स्वयंबुद्धसिद्धाः ५, प्रत्येकबुद्धाः सन्तो ये सिद्धाः ते प्रत्येकबुद्धसिद्धाः ६, अथ स्वयंबुद्धप्रत्येकबुद्धानां कः प्रतिविशेषः? उच्यते, बोध्युपधिश्रुतलिंगकृतो विशेषः, तथा हि-स्वयंबुद्धा बाह्यप्रत्ययमंतरेण एव बुध्यंते, स्वयं एव-बाह्यप्रत्ययमंतरेण एव निजजातिस्मरणादिना बुद्धाः स्वयंबुद्धा इति व्युत्पत्तेस्ते च द्विधा तीर्थंकराः तीर्थंकरव्यतिरिक्ताश्च, इह तीर्थंकरव्यतिरिक्तैरधिकारः, प्रत्येकबुद्धास्तु बाह्यप्रत्ययं अपेक्ष्य बुद्ध्यते, प्रत्येकं-बाह्यं वृषभादिकं कारणं अभिसमीक्ष्य बुद्धा इति व्युत्पत्तेः, तथा च श्रूयते-बाह्यवृषभादिप्रत्ययसापेक्षा करकंड्वादीनां बोधिः, बहिः-प्रत्ययं अपेक्ष्य च बुद्धाः संतो नियमतः प्रत्येकं एव विहारन्ति, न गच्छवासिन इव संहताः, तथा स्वयंबुद्धानामुपधिः द्वादशविध एव पात्रादिकः, प्रत्येकबुद्धानां तु द्विधा जघन्यतः उत्कर्षतश्च। तत्र जघन्यतो द्विविधः उत्कर्षतो नवविधः प्रावरणवर्जः, तथा स्वयंबुद्धानां पूर्वाधीतं श्रुतं भवति वा न वा, यदि भवति ततो लिंगं देवता वा प्रयच्छति गुरुसंनिधौ वा गत्वा प्रतिपद्यते। यदि चैकाकी विहरणसमर्थः, इच्छा च तस्य तथारूपा जायते तत एकाकी विहरति, अन्यथा गच्छवासेऽवतिष्ठते। अथ पूर्वाधीतं श्रुतं न भवति तर्हि नियमात् गुरुसंनिधौ गत्वा लिङ्गं प्रतिपद्यते, गच्छं चावश्यं न मुंचति। प्रत्येकबुद्धानां तु पूर्वाधीतं श्रुतं नियमतो भवति। तच्च जघन्यतः एकादशांगानि, उत्कर्षतः किंचित् न्यूनानि दश पूर्वाणि, तथा लिंगं तस्मै देवता प्रयच्छति, लिंगरहितो वा कदाचिद्भ-वति। तथा बुद्धाः-आचार्याः तैर्बोधिताः सन्तो ये सिद्धाः ते बुद्धबोधितसिद्धाः ७, एते च सर्वेऽपि केचित् स्त्रीलिंगसिद्धाः, स्त्रिया लिंगं स्त्रीलिंगं, स्त्रीत्वस्य उपलक्षणमित्यर्थः। तच्च त्रिधा, तद्यथा-वेदः शरीरनिर्वृत्तिः नेपथ्यं च, तत्र इह शरीरनिर्वृत्त्या प्रयोजनं, न वेदनेपथ्याभ्यां, वेदे सति सिद्धत्वाभावात्, नेपथ्यस्य चाऽप्रमाणत्वात्, तस्मिन् स्त्रीलिंगे वर्त्तमानाः सन्तो ये सिद्धाः ते स्त्रीलिंग-

अथ किं तत्सिद्धकेवलज्ञानं ? सिद्धकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–अनंतरसिद्धकेवलज्ञानं च परंपरसिद्धकेवलज्ञानं च, तत्र न विद्यते अंतरं–समयेन व्यवधानं यस्य सोऽनंतरः, स चासौ सिद्धश्चानंतरसिद्धः, सिद्धत्वप्रथमसमये वर्त्तमान इत्यर्थः, तस्य केवलज्ञानमनंतरसिद्धकेवलज्ञानं, चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः, तथा विवक्षिते प्रथमसमये यः सिद्धः तस्य यो द्वितीयसमयसिद्धः स परस्तस्यापि[यः] तृतीयसमयसिद्धः स परः, एवमन्येऽपि वाच्याः, परे च परे च इति वीप्सायां पृषोदरादय इति परंपरशब्दनिष्पत्तिः परंपरे च ते सिद्धाश्च परंपरसिद्धाः, विवक्षितसिद्धत्वप्रथमसमयात् प्राक् द्वितीयादिषु समयेषु अनंतातीताद्धां यावत् वर्त्तमाना इत्यर्थः, तेषां केवलज्ञानं परंपरसिद्धकेवलज्ञानं, अत्रापि चशब्दः स्वगताऽनेकभेदसूचकः ।

अथ किं तत् अनंतरसिद्धकेवलज्ञानं १, सूरिराह–अनंतरसिद्धकेवलज्ञानं पंचदशविधं प्रज्ञप्तं, 'तद्यथा', इति उपदर्शने 'तित्थसिद्धा' इत्यादि, तीर्यते संसारसागरोऽनेति तीर्थ–यथावस्थितसकलजीवाजीवादिपदार्थसार्थप्ररूपकं परमगुरुप्रणीतं प्रवचनं, तच्च निराधारं न भवतीति कृत्वा संघः प्रथमगणधरो वा वेदितव्यम्, तस्मिन्नुत्पन्ने ये सिद्धाः, ते तीर्थसिद्धाः, १, तथा तीर्थस्याभावोऽतीर्थं तीर्थस्याभावश्च अनुत्पादोऽपांतराले व्यवच्छेदो वा, तस्मिन् ये सिद्धास्ते अतीर्थसिद्धाः । तत्र तीर्थस्यानुत्पादे सिद्धा मरुदेवीप्रभृतयः, नहि मरुदेव्यादिसिद्धिगमनकाले तीर्थं उत्पन्नमासीत् । तथा तीर्थस्य व्यवच्छेदश्चंद्रप्रभस्वामिसुविधिस्वाम्यपांतराले, तत्र ये जातिस्मरणादिनाऽपवर्गमवाप्य सिद्धास्ते तीर्थव्यवच्छेदसिद्धाः, २, तथा तीर्थकराः सन्तो ये सिद्धास्ते तीर्थकरसिद्धाः[२] ३, अतीर्थकर-

१ शैलेश्यवस्थापर्यन्तवर्तिसमयसमासादितसिद्धत्वस्य तस्मिन्नेव समये यत् केवलज्ञानं तदनन्तरसिद्धकेवलज्ञानमिति हारिभद्रवृत्तौ ।
२ तीर्थंकरनामकर्मोदयभावे स्थिताः तीर्थकरभावतो वा सिद्धाः तीर्थकरसिद्धाः ।

सिद्धा अन्ये सामान्यकेवलिनः ४, तथा स्वयंबुद्धाः सन्तो ये सिद्धास्ते स्वयंबुद्धसिद्धाः ५, प्रत्येकबुद्धाः सन्तो ये सिद्धाः ते प्रत्येकबुद्धसिद्धाः ६, अथ स्वयंबुद्धप्रत्येकबुद्धानां कः प्रतिविशेषः? उच्यते, बोध्युपधिश्रुतलिंगकृतो विशेषः, तथा हि-स्वयंबुद्धा बाह्यप्रत्ययमंतरेण एव बुध्यंते, स्वयं एव-बाह्यप्रत्ययमंतरेण एव निजजातिस्मरणादिना बुद्धाः स्वयंबुद्धा इति व्युत्पत्तेस्ते च द्विधा तीर्थंकराः तीर्थंकरव्यतिरिक्ताश्च, इह तीर्थंकरव्यतिरिक्तैरधिकारः, प्रत्येकबुद्धास्तु बाह्यप्रत्ययं अपेक्ष्य बुद्ध्यते, प्रत्येकं-बाह्यं वृषभादिकं कारणं अभिसमीक्ष्य बुद्धा इति व्युत्पत्तेः, तथा च श्रूयते-बाह्यवृषभादिप्रत्ययसापेक्षा करकंड्वादीनां बोधिः, बहिः-प्रत्ययं अपेक्ष्य च बुद्धाः संतो नियमतः प्रत्येकं एव विहारन्ति, न गच्छवासिन इव संहताः, तथा स्वयंबुद्धानामुपधिः द्वादशविध एव पात्रादिकः, प्रत्येकबुद्धानां तु द्विधा जघन्यतः उत्कर्षतश्च। तत्र जघन्यतो द्विविधः उत्कर्षतो नवविधः प्रावरणवर्जः, तथा स्वयंबुद्धानां पूर्वाधीतं श्रुतं भवति वा न वा, यदि भवति ततो लिंगं देवता वा प्रयच्छति गुरुसंनिधौ वा गत्वा प्रतिपद्यते। यदि चैकाकी विहरणसमर्थः, इच्छा च तस्य तथारूपा जायते तत एकाकी विहरति, अन्यथा गच्छवासेऽवतिष्ठते। अथ पूर्वाधीतं श्रुतं न भवति तर्हि नियमात् गुरुसंनिधौ गत्वा लिङ्गं प्रतिपद्यते, गच्छं चावश्यं न मुंचति। प्रत्येकबुद्धानां तु पूर्वाधीतं श्रुतं नियमतो भवति। तच्च जघन्यतः एकादशांगानि, उत्कर्षतः किंचित् न्यूनानि दश पूर्वाणि, तथा लिंगं तस्मै देवता प्रयच्छति, लिंगरहितो वा कदाचिद्भवति। तथा बुद्धाः-आचार्याः तैर्बोधिताः सन्तो ये सिद्धाः ते बुद्धबोधितसिद्धाः ७, एते च सर्वेऽपि केचित् स्त्रीलिंगसिद्धाः, स्त्रिया लिंगं स्त्रीलिंगं, स्त्रीत्वस्य उपलक्षणमित्यर्थः। तच्च त्रिधा, तद्यथा-वेदः शरीरनिर्वृत्तिः नेपथ्यं च, तत्र इह शरीरनिर्वृत्त्या प्रयोजनं, न वेदनेपथ्याभ्यां, वेदे सति सिद्धत्वाभावात्, नेपथ्यस्य चाऽप्रमाणत्वात्, तस्मिन् स्त्रीलिंगे वर्त्तमानाः सन्तो ये सिद्धाः ते स्त्रीलिंग-

सिद्धाः ८, तथा पुँल्लिंगे शरीरनिर्वृत्तिरूपे व्यवस्थिताः सन्तो ये सिद्धास्ते पुँल्लिंगसिद्धाः ९, एवं नपुंसिकलिंगसिद्धाः १०, तथा स्वलिंगे-रजोहरणादिरूपे व्यवस्थिताः सन्तो ये सिद्धाः ते स्वलिंगसिद्धाः ११, तथा अन्यलिंगे-परिव्राजकादिसबंधिनि वल्कलकषायादिवस्त्रादि-रूपे द्रव्यलिंगे व्यवस्थिताः सन्तो ये सिद्धास्ते अन्यलिंगसिद्धाः १२, गृहिलिंगे सिद्धाः मरुदेवीप्रभृतयः १३, तथा एकसिद्धा इति एकस्मिन्नेकस्मिन् समये एककाः सन्तो ये सिद्धाः ते एकसिद्धाः १४, 'अणेगसिद्धा इत्येकस्मिन्समये अनेके[ये] सिद्धास्ते अनेकसिद्धाः अनेक एव एकस्मिन् समये सिध्यंत उत्कर्षतो अष्टोत्तरशतसंख्या वेदितव्याः[2] १५ सेत्तमित्यादि ॥ २१ ॥

से किं तं परंपरसिद्धकेवलनाणं ? परंपरसिद्धकेवलनाणं अणेगविहं पन्नत्तं तं जहा अपढमसमयसिद्धा दुसमयसिद्धा तिसमयसिद्धा चउसमयसिद्धा जाव दस समयसिद्धा संखिज्जसमयसिद्धा असंखिज्जसमयसिद्धा अणंतसमयसिद्धा। सेत्तं परंपरसिद्धकेवलनाणं । से त्तं सिद्धकेवलनाणं। तं समासओ चउव्विहं पन्नत्तं तं जहा-दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ, तत्थ दव्वओ णं केवलनाणी सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ। खित्तओ णं केवलनाणी सव्वखित्तं जाणइ पासइ। कालओ णं केवलनाणी सव्वकालं जाणइ पासइ। भावओ णं केवलनाणी सव्वभावं जाणइ पासइ—

१ प्रत्येकबुद्धास्तु पुँलिङ्गा एव सिध्यन्तीति हारिभद्रवृत्तौ। २ अत्र विभाजकतावच्छेदको धर्मो यदि तद् व्यक्तित्वं तर्ह्यनन्ताभेदाः प्रसज्येरन्, यदि तु अवस्था गृह्यते तर्हि तीर्थत्वाऽतीर्थत्वाभ्यां द्वैविध्यमेवोचितम्, अतीर्थत्वावच्छिन्न एव तीर्थेतरेषां समावेशात् इति तु सत्यम्, शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थं तथाभिधानं, अज्ञातज्ञापनार्थं च तथाभिधानम्। भेदद्वयाभिधानेऽपि विशिष्य तीर्थकरातीर्थकरस्वयंबुद्धादीनां ज्ञानं न संभवतीति।

अह सव्वदव्वपरिणामभावविन्नत्तिकारणमणंतं सासयमप्पडिवाई एगविहं केवलनाणं ॥ १ ॥ केवलनाणेणऽत्थे नाउं जे तत्थ पन्नवणजोगे ते भासइ तित्थयरो वइजोगसुअं हवइ सेसं ॥ २ ॥ सेत्तं केवलनाणं सेत्तं पच्चक्खं नाणं ॥

'से किं तं परंपर' इत्यादि न प्रथमसमयसिद्धाः, [अप्रथमाः समयसिद्धाः] परंपरसिद्धविशेषणं, अप्रथमसमयवर्त्तिनः सिद्धत्वसमयात् द्वितीयसमयवर्तिन इत्यर्थः। त्र्यादिषु तु द्वितीयसमयसिद्धादय उच्यंते। यद्वा सामान्यतः अप्रथमसमयसिद्धा इत्युक्तं। तदेतदेव विशेपेण व्याचष्टे—द्विसमयसिद्धाः त्रिसमयसिद्धा इत्यादि। 'सेत्तमि'त्यादि निगमनं। तदिदं सामान्येन केवलज्ञानं अभिगृह्यते। 'समासतः' संक्षेपेण चतुर्विधं प्रज्ञप्तं तद्यथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो 'णमिति' वाक्यालंकारे, केवलज्ञानी सर्वद्रव्याणि—धर्म्मास्तिकायादीनि साक्षाज्जानाति पश्यति। क्षेत्रतः केवलज्ञानी सर्वं क्षेत्रं—लोकालोकभेदभिन्नं जानाति पश्यति, इह यद्य सर्वद्रव्यग्रहणेन आकाशास्तिकायोऽपि गृह्यते। तथापि तस्य क्षेत्रत्वेन रूढत्वाद्भेदेन उपन्यासः, कालतः केवलज्ञानी सर्वं कालं—अतीतानागतवर्त्तमानभेदभिन्नं जानाति पश्यति। भावतः केवलज्ञानी सर्वान् जीवाजीवगतान् भावान्—गतिकषायागुरुलघुप्रभृतीन् जानाति पश्यति ॥ अथशब्दः इह उपन्यासार्थः, पूर्वं उद्देशसूत्रे मनःपर्यवज्ञानाऽनंतरं केवलज्ञानं उक्तं। तत्संप्रति तात्पर्यनिर्देशार्थं उपन्यस्यते इत्यर्थः। सर्वाणि च तानि द्रव्याणि च सर्वद्रव्याणि—जीवादिलक्षणानि, तेषां परिणामाः-प्रयोगविस्रसोभयजन्या उत्पादादयः पर्यायाः सर्वद्रव्यपरिणामास्तेषां भावः—सत्ता स्वलक्षणं स्वं स्वं असाधारणरूपं तस्य विशेपेण ज्ञापनं विज्ञप्तिः विज्ञानं वा विज्ञप्तिः, परिच्छेद इत्यर्थः,

१ कालस्य पर्यायकारणत्वेन प्राधान्यविवक्षया तद्भेदपरिज्ञानौचित्याद्द्रव्याद् भेदेनोपन्यास इति तार्किकैर्मीमांसनीयम्।

तस्याः कारणं—हेतुः सर्वद्रव्यपरिणामविज्ञप्तिकारणं केवलज्ञानमिति संबध्यते। उक्तं च—"सव्वद्व्वाण पओगवीससामीसया जहाजोगं। परिणामा पज्जाया जम्मविणासाद्यो नेओ ॥ १ ॥ तेसिं भावो सत्ता सलक्खणं वा विसेसओ तस्स। नाणं विन्नत्तीए कारणं केवलं नाणं ॥ २ ॥" तच्च ज्ञेयानंतत्वात् अनंतं, तथा शश्वत् भवं शाश्वतं, सदा उपयोगवदिति भावार्थः। तथा प्रतिपतनशीलं प्रतिपाति न प्रतिपाति अप्रतिपाति, सदावस्थायि इत्यर्थः। ननु यत् शाश्वतं तदप्रतिपाति एव ततः किं अनेन विशेषणेन?, तदयुक्तं, सम्यक्शब्दार्थापरिज्ञानात्, शाश्वतं हि नाम अनवरतं भवदुच्यते। तच्च कियत्कालमपि भवति, यावद् भवति तावद् निरंतरं भवनात्, ततः सकलकालभावप्रतिपत्त्यर्थं अप्रतिपातिविशेषणोपादानं, ततोऽयं तात्पर्यार्थः—अनवरतं—सकलकालं भवतीति, तथा एकविधमेकप्रकारं, तदावरणक्षयस्य एकरूपत्वात्केवलं च तत् ज्ञानं च केवलज्ञानं १ ॥ २२ सू० ॥

केवल इत्यादि। इह तीर्थकरः केवलज्ञानेन 'सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायात् केवलज्ञानेन एव, न श्रुतज्ञानेन, तस्य क्षायोपशमिकत्वात्, केवलिनश्च क्षायोपशमिकभावातिक्रमात्, सर्वक्षये देशक्षयाभावादिति भावः, अर्थान् धर्म्मास्तिकायादीन् अभिलाप्यानभिलाप्यान् 'ज्ञात्वा' विनिश्चित्य ये 'तत्र' तेषां अर्थानां अभिलाप्यानभिलाप्यानां मध्ये प्रज्ञापनायोग्याः, अभिलाप्या इत्यर्थः, तान् भाषते, नेतरान्, तान् अपि प्रज्ञापनायोग्यान् भाषते, न सर्वान्, तेषां अनंतत्वेन सर्वेषां भाषितुं अशक्यत्वात्, आयुषस्तु परिमितत्वात्, किंतु—कतिपयान् एव अनंतभागमात्रान्, तत्र केवलज्ञानोपलब्धार्थाभिधायकः शब्दराशिः प्रोच्यमानः तस्य भगवतो वाग्योग एव भवति, न श्रुतं, तस्य भाषापर्याप्त्यादिनामकर्मोदयनिबन्धनत्वात्, श्रुतस्य च क्षायोपशमिकत्वात्, स च वाग्योगो भवति न श्रुतं 'शेषं' अप्रधानं द्रव्यश्रुतं इत्यर्थः, श्रोतॄणां भावश्रुतकारणतया द्रव्यश्रुतं व्यवह्रियते इति भावः, अन्ये त्वेवं पठंति—'वइजोग

सुयं हवइ तेसिं' अत्रायमर्थः तेषां श्रोतॄणां भावश्रुतकारणत्वात् स वाग्योगः श्रुतं भवति, श्रुतं इति व्यवह्रियते इत्यर्थः। सेत्तमित्यादि-निगमनं, तदेतत्केवलज्ञानं, तदेतत्प्रत्यक्षं [ज्ञानम्]।

एवं प्रत्यक्षे प्रतिपादिते सति परोक्षस्य स्वरूपं अनवगच्छन् आह शिष्यः।

से किं तं परुक्खनाणं। परुक्खनाणं दुविहं पन्नत्तं तं जहा–आभिणिबोहिअनाणपरुक्खं च सुअनाण-परुक्खं च जत्थ आभिणिबोहियनाणं तत्थ सुअनाणं। जत्थ सुअनाणं तत्थाभिणिबोहियनाणं। दोऽवि एयाइं अन्नमन्नमणुगयाइं तहवि पुण इत्थ आयरिया नाणत्तं पन्नवयंति–आभिनिबुज्झइ त्ति आभिणिबोहियनाणं। सुणेइ त्ति सुअं मइपुव्वं जेण सुअं न मइ सुअपुव्विआ।

अविसेसिआ मइ–मइनाणं च मइअन्नाणं च विसेसिआ सम्मदिट्ठिस्स मइ–मइनाणं। मिच्छदिट्ठिस्स मइ–मइ अन्नाणं। अविसेसिअं सुअं सुअनाणं च सुअ अन्नाणं च, विसेसिअं सुअं–सम्मदिट्ठिस्स सुअं–सुअनाणं मिच्छदिट्ठिस्स सुअं–सुअ अन्नाणं।

अथ किं तत् परोक्षं? सूरिराह—परोक्षं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–आभिनिबोधिकज्ञानपरोक्षं च श्रुतज्ञानपरोक्षं च, चशब्दौ स्वगताऽनेकभेदसूचकौ परस्परसहभावसूचकौ च। परस्परसहभावं एव अनयोः दर्शयति–'यत्र' पुरुषे आभिनिबोधिकज्ञानं तत्र एव श्रुतज्ञानमपि, तथा यत्र श्रुतज्ञानमपि, तथा यत्र श्रुतज्ञानं तत्र एव आभिनिबोधिज्ञानं, आह–यत्र आभिनिबोधिकज्ञानं तत्र श्रुतज्ञान-मित्युक्ते यत्र श्रुतज्ञानं तत्र आभिनिबोधिकज्ञानं इति गम्यत एव ततः किं अनेन उक्तेन इति? उच्यते, नियमतो न गम्यते। ततो

नियमावधारणाथ एतदुच्यते इत्यदोषः, नियमावधारणं एव स्पष्टयति–द्वे अपि एते–आभिनिबोधिकश्रुते अन्योन्य–अनुगते–परस्पर प्रतिबद्धे, स्यात् एतदनयोः यदि परस्परं अनुगमस्तर्हि अभेद एव प्राप्नोति कथं भेदेन व्यवहारः? तत आह—'तथापि' परस्परं–अनुगमेऽपि पुनः अत्र–आभिनिबोधिकश्रुतयोः आचार्याः–पूर्वसूरयो नानात्वं भेदं प्ररूपयंति, कथं इति चेदुच्यते–लक्षणभेदात्, परस्परं अनुगतयोः अपि लक्षणभेदात् भेदो यथा एकाकाशस्थयोः धर्म्मास्तिकायाऽधर्म्मास्तिकाययोः, तथाहि–धर्म्माधर्म्मास्तिकायौ परस्परं लोलीभावेन एकस्मिन् आकाशप्रदेशे व्यवस्थितौ, तथापि यो गतिपरिणामपरिणतयोः जीवपुद्गलयोः गत्युपष्टंभहेतुः जलमिव मत्स्यस्य स खलु धर्म्मास्तिकायो यः पुनः स्थितिपरिणामपरिणतयोः जीवपुद्गलयोः एव स्थित्युपष्टंभहेतुः क्षितिः इव झषस्य स खलु अधर्म्मास्तिकाय इति लक्षणभेदाद्भेदो भवति, एवं आभिनिबोधिकश्रुतयोः अपि लक्षणभेदात् भेदो वेदितव्यः, लक्षणभेदं एव दर्शयति–अभिमुखं–योग्यदेशावस्थितं नियतं अथ इंद्रियमनोद्वारेण बुध्यते–परिच्छिनत्ति आत्मा येन परिणामविशेषेण स परिणामविशेषो ज्ञानापरपर्याय आभिनिबोधिकं, तथा शृणोति वाच्यवाचकभावपुरस्सरं श्रवणविषयेन शब्देन सह संस्पृष्टमर्थं परिच्छिनत्त्यात्मा येन परिणामविशेषेण स परिणामविशेषः श्रुतं, मतिः पूर्वं यस्य तत् मतिपूर्वं श्रुतं–श्रुतज्ञानं, तथा हि–मत्या पूर्यते प्राप्यते श्रुतं, न खलु मतिपाटवविभवमंतरेण श्रुतविभवं उत्तरोत्तरमासादयति जंतुः, तथादर्शनात्। यच्च यदुत्कर्षापकर्षवशात् उत्कर्षापकर्षभाक् तत् तस्य कारणं यथा घटस्य मृत्पिंडः, मत्युत्कर्षापकर्षवशात् च श्रुतस्य उत्कर्षापकर्षौ, ततः कारणं मतिः श्रुतज्ञानस्य, तथा पाल्यते–अवस्थितिं प्राप्यते मत्या श्रुतं, श्रुतस्य हि दलं मतिः यथा घटस्य मृत्, तथा–हि–श्रुतेषु अपि बहुषु ग्रंथेषु यत् विषयं स्मरणं ईहापोहादि वा अधिकतरं प्रवर्त्तते स ग्रंथः स्फुटतरः प्रतिभाति, न शेषः, एतच्च प्रतिप्राणिस्वसंवेदनप्रमाणसिद्धं, ततो यथा उत्पन्नोऽपि घटो मृदभावे

इति सा तस्य कारणं, एवं श्रुतस्यापि मतिः कारणं, ततो युक्तं उक्तं मतिपूर्वं श्रुतं
न भवति तथास्वभावायां च मृदि तिष्ठंत्यामवतिष्ठते इति सा तस्य कारणं, एवं श्रुतस्यापि मतिः कारणं, ततो युक्तं उक्तं मतिपूर्वं श्रुतं इति । न मतिः श्रुतपूर्विका ॥

स्वामिना अविशेषिता–स्वामिविशेषणपरिग्रहमंतरेण विवक्ष्यमाणा मतिः मतिज्ञानं मत्यज्ञानं च उच्यते । सामान्येन उभय-त्रापि मतिशब्दप्रवृत्तेः, विशेषिता–स्वामिना विशेष्यमाणा सम्यग्दृष्टेः मतिः मतिज्ञानं उच्यते तस्या यथावस्थितार्थग्राहकत्वात् मिथ्यादृष्टेः मतिः मत्यज्ञानं, तस्या एकांतावलंबितया यथावस्थितार्थग्रहणाभावात् । एवं श्रुतसूत्रं अपि व्याख्येम्,

ततो मतिज्ञानं एव अधिकृत्य शिष्यः प्रश्नयति—

से किं तं आभिणिबोहियनाणं । आभिणिबोहियनाणं दुविहं पन्नत्तं तं जहा सुयनिस्सियं च असुयनिस्सियं च । से किं तं असुयनिस्सियं । असुयनिस्सियं चउव्विहं पन्नत्तं तं जहा ।

उप्पत्तिआ[1] वेणइआ[2] कम्मआ[3] परिणामिआ[4] ॥ बुद्धि चउव्विहा वुत्ता पंचमी नोवलब्भइ ॥ १ ॥

अथ किं तत् आभिनिबोधिकं ज्ञानं ?, सूरिराह—आभिनिबोधिकं ज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–श्रुतनिश्रितं च अश्रुतनिश्रितं च, उत्पादकाले शास्त्रार्थपर्यालोचनमनपेक्ष्य एव यत् उपजायते मतिज्ञानं तत् श्रुतनिश्रितं–अवग्रहादि, यत् पुनः सर्वथा शास्त्रसंस्पर्श-रहितस्य तथाविधक्षयोपशमभावत एवमेव यथावस्थितवस्तुसंस्पर्शिमतिज्ञानमुपजायते तत् अश्रुतनिश्रितमौत्पत्तिक्यादि, तत्राल्पतर-वक्तव्यत्वात् प्रथममश्रुतनिश्रितमतिज्ञानप्रतिपादनायाह–अथ किं तत् अश्रुतनिश्रितं ? सूरिराह–अश्रुतनिश्रितं चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–उत्पत्तिरेव न शास्त्राभ्यासकर्मपरिशील नादिकं प्रयोजनं–कारणं यस्याः सा औत्पत्तिकी । तथा विनयो–गुरुशुश्रुषा स

प्रयोजनं यस्याः सा इति वैनयिकी । तथानाचार्यकं कर्म्म साचार्यकं शिल्पं, अथवा कादाचित्कं शिल्पं सर्वकालिकं कर्म्म । कर्मणो जाता कर्मजा । तथा परि–समंतात् नमनं परिणामः–सुदीर्घकालपूर्वापरपर्यालोचनजन्य आत्मनो धर्म्मविशेषः स प्रयोजनं अस्याः सा पारिणामिकी । बुध्यतेऽनया इति बुद्धिः, सा च चतुर्विधा उक्ता तीर्थकरगणधरैः, किमिति ? यस्मात् पंचमी केवलिनापि न उपलभ्यते ॥ १ ॥ सर्वस्यापि अश्रुतनिश्रितमतिविशेषस्य औत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टय एवांतर्भावात् ॥ औत्पत्तिक्यादिलक्षणं आह —

पुव्वं अदिट्ठमस्सुअमवेइयतक्खणविसुद्धगहिअत्था ॥ अव्वाहयफलजोगा बुद्धि उप्पत्तिआ नाम ॥ २॥
भरहसिल[1] पणिय[2] रुक्खे[3] खुड्डुग[4] पड[5] सरड[6] काय[7] उच्चारे[8] ॥ गय[9] घयण[10] गोल[11] खंभे[12] खुड्डुग[13] मग्गित्थि[14] पइ[15] पुत्ते[16] ॥ ३ ॥
भरह[1] सिल[2] मिंढ[3] कुक्कुड[4] वालुअ[5] हत्थी[6] अगड[7] वणसंडे[8] ॥ पायस[9] अइआ[10] पत्ते[11] खाडहिला[12] पंचपिअरो[13] ॥ ४ ॥
महुसित्थ[14] मुद्दि[15] अंके[16] नाणए[17] भिक्खु[18] चेडगनिहाणे[19] ॥ सिक्खा[20] य अत्थसत्थे[21] इच्छा य महं[22] सयसहस्से[23] ॥ ५ ॥

पूर्वं बुद्ध्युत्पादात् प्राक् स्वयं चक्षुषा न दृष्टो नापि अन्यतः श्रुतो मनसापि अविदितो अपर्यालोचितस्तस्मिन् क्षणे बुद्ध्युत्पादकाले विशुद्धो यथावस्थितो गृहीतोऽर्थो यया सा, तथा पुव्वमदिट्ठं इत्यादौ मकारा अलाक्षणिकाः, तथा अव्याहतेन अबाधितेन फलेन परिच्छेदेन अर्थेन योगो यस्याः सा अव्याहतफलयोगा बुद्धिः औत्पत्तिकी नाम ॥२॥ संप्रति विनेयजनानुग्रहाय अस्या एव स्वरूपप्रतिपादनार्थं उदाहरणानि आह–भरहसिलपणिय गाहा । भरहसिल गाथा । महुसित्थ गाथा । आसामर्थः कथानकेभ्योऽवसेयः, तानि च कथानकानि विस्तरतोऽभिधीयमानानि ग्रंथगौरवं आपादयंति ततः संक्षेपेण उच्यंते–उज्जयिनी नाम पुरी, तस्याः समीपवर्त्ती कश्चित्

नटानां एको ग्रामस्तत्र च भरतो नाम नटस्तस्य भार्या परासुरभूत्, तनयश्चास्य रोहकाभिधोऽद्यापि अल्पवयास्ततः सत्वरं एव स्वस्य स्वतनयस्य च शुश्रूषा करणाय अन्या समानिन्ये वधूः, सा च रोहकस्य सम्यग् न वर्त्तते। ततो रोहकेण सा प्रत्यपादि–मातर्न मे त्वं सम्यक् वर्त्तसे ततो ज्ञास्यसि इति, ततः सा सेर्ष्यमाह रे रोहक! किं करिष्यसि? रोहकोऽपि आह–तत् करिष्यामि येन त्वं मम पादयोः आगत्य लगिष्यसि इति। ततः सा तं अवज्ञाय तूष्णीं अतिष्ठत्। रोहकोऽपि तत्कालात् आरभ्य गाढसंजाताभिनिवेशोऽन्यदा निशि सहसा पितरं एवं अभाणीत्। भो! भो! पितः एष पलायमानो गोहो याति, तदेवं बालकवचः श्रुत्वा पितुः आशंका समुदपादि–नूनं विनष्टा मे महेलेति। तत एवं आशंकावशात्तस्यां अनुरागः शिथिलीबभूव, ततो न तां सम्यक् संभाषते, नापि विशेषतस्तस्यै पुष्पतांबूलादिकं प्रयच्छति दूरतः पुनः अपास्तं शयनादि, ततः सा चिंतयामास। नूनं इदं बालकविचेष्टितं, अन्यथा कथमकांड एव एष दोषाभावे पराङ्मुखो जातः? [ततो बालकमेवमवादीत्, वत्स! रोहक! किमिदं त्वया चेष्टितम्, तव पिता मे संप्रति दूरं पराङ्मुखीभूतः, रोहक-आह–किमिति तर्हि न सम्यग् मे वर्तसे? तयोक्तं अत ऊर्द्धं सम्यग् वर्त्तिष्ये] ततो बालक आह–भव्य, तर्हि मा खेदं कार्षीः। तथा करिष्ये यथा मे पिता तथैव त्वयि वर्त्तते इति, ततः सा तत्कालादारभ्य सम्यग्वर्त्तितुं प्रवृत्ता, रोहकोऽपि अन्यदा निशि निशाकरप्रकाशितायां प्राक्तनकदाशंकापनोदाय बालभावं प्रकटयन् निजच्छायां अंगुल्यग्रेण दर्शयन् पितरं एवमाह–भोः पितः! एष गोहो याति गोहो याति इति, तत एवं उक्ते स पिता परपुरुषप्रवेशाभिमानतो निःप्रत्याकारं कृपाणं उद्गीर्य प्राधावत्। रे! कथय कुत्र याति इति?, ततः स रोहको बालक्रीडां प्रकटयन् अंगुल्यग्रेण निजच्छायां दर्शयति–पितः! एष गोहो याति, ततः स पिता व्रीडित्वा प्रत्यावृत्तः चिंतयति स स्वचेतसि–प्राक्तनोऽपि पुरुषो नूनमेवंविध एव आसीत् इति धिग् मया बालकवचनात् अलीकं संभाव्य विप्रियमेतावंतं कालं कृतं अस्यां

भार्यायां इति पश्चात्तापात् गाढतरं अस्यां अनुरक्तो बभूव। सोऽपि रोहको मया विप्रियं कृतमास्तेऽस्या इति कदाचित् एषा मां विषादिना मारयिष्यति इति विचिंत्य सदैव पित्रा सह भुंक्ते न कदाचिदपि केवलो, अन्यदा च पित्रा सह उज्जयिनीं पुरीमगमत्। दृष्टा च तेन त्रिदशपुरीव उज्जयिनी, सविस्मयचेतसा च सकलापि यथावत् परिभाविता, ततः पित्रा एव सह नगर्या निर्यातुं आरेभे, पिता च किं अपि विस्मृतं इति रोहकं क्षिप्रानदीतटेऽवस्थाप्य तदानयनाय भूयोऽपि नगरीं प्राविक्षत्। रोहकोऽपि च तत्र क्षिप्राभिधसिंधुसैकते बालचापलवशात् सप्रकारां परिपूर्णां अपि पुरीं सिकताभिः आलिखत्। इतश्च राजा अश्ववाहनिकायां अश्वं वाहयन् कथंचिदेकाकीभूतः तेन पथा समागंतुं प्रावर्त्तत। तं च आलिखितनगरीमध्येन समागच्छंतं रोहकोऽवादीत्–भो राजपुत्र! माऽनेन पथा समागमः, तेन च उक्तं–किं इति? रोहक आह–किं त्वं राजकुलं इदं न पश्यसि? ततः स राजा कौतुकवशात्सकलामपि नगरीं तत् आलिखितामवैक्षत, पप्रच्छ तं बालकं रे! अन्यदापि त्वया नगरी दृष्टासीत् न वा?, रोहक आह–नैव कदाचित्, केवलमहं अद्य एव स्वग्रामात् इह आगतस्ततः चिंतयामास राजा–अहो बालकस्य प्रज्ञातिशय इति, ततः पृष्टो रोहको–वत्स! किं ते नाम क्व वा ग्राम इति?, तेन उक्तं–रोहक इति मे नाम, प्रत्यासन्ने च पुरोग्रामे वसामि इति, अत्रांतरे समागतो रोहकस्य पिता, चलितौ च स्वग्रामं प्रति द्वौ अपि, राजा च स्वस्थानं अगमत्, चिंतयति स च–मम एकोनानि मंत्रिणां पंचशतानि विद्यंते। तद्यदि सकलमंत्रिमंडलमूर्द्धाभिषिक्तो महाप्रज्ञातिशायी परमो मंत्री संपद्यते ततो मे राज्यं सुखेनैधते, बुद्धिबलोपेतो हि राजा प्रायः शेषबलैः अल्पबलोऽपि न पराजयस्थानं भवति, परांश्च राज्ञो लीलया विजयते, एवं च चिंतयित्वा कतिपयदिनानंतरं रोहकबुद्धिपरीक्षानिमित्तं सामान्यतो ग्रामप्रधानपुरुषानुद्दिश्यैवमादिष्टं–यथा

१ मलयगिरीयनन्दीवृत्तौ पृष्ठे १४५ कृतमास्तेऽस्या इति सुरूपमपि विरूपं मत्वा आस्ते इत्यत्रास्तीति संशोधनं भ्रान्तिमूलमिति वेदनीयम्।

युष्मद्ग्रामस्य बहिरतीव महती शिला वर्त्तते, तामनुत्पाट्य राजयोग्यमण्डपाच्छादनं कुरुत, तत एवमादिष्टे सकलोऽपि ग्रामो राजादेशं
कर्तुमशक्यं परिभावयन्नाकुलीभूतमानसो बहिः सभायामेकत्र मिलितवान्, पृच्छति स्म परस्परं–किमिदानीं कर्तव्यं ? दुष्टो राजादेशो-
ऽस्माकमापतितो, राजादेशाकरणे च महाननर्थोपनिपातः, एवं च चिन्तया व्याकुलीभूतानां तेषां मध्यन्दिनमागतं, रोहकश्च पितर-
मन्तरेण न भुङ्क्ते, पिता च ग्राममेलापके मिलितो वर्त्तते, ततः स क्षुधापीडितः पितुः समीपे समागत्य रोदितुं प्रावर्तत पीडितोऽहमतीव
क्षुधा (धया) ततः समागच्छ गृहे भोजनायेति, भरतः प्राह–वत्स ! सुखितोऽसि त्वं, न किमपि ग्रामकष्टं जानासि, स प्राह–पितः ! किं
किं तदिति ?, ततो भरतो राजादेशं सविस्तरमचीकथत्, ततो निजबुद्धिप्रागल्भ्यवशात् झटिति कार्यस्य साध्यतां परिभाव्य तेनोक्तं–
माऽऽकुलीभवत यूयं, खनत शिलाया राज्ञोचितमण्डपनिष्पादनायाधस्तात् स्तम्भांश्च यथास्थानं निवेशयत भित्तीश्चोपलेपनादिना प्रका-
रेणातीवरमणीयाः प्रगुणीकुरुत, तत एवमुक्ते सर्वैरपि ग्रामप्रधानपुरुषैर्भव्यमिति प्रतिपन्नं, गतः सर्वोऽपि ग्रामलोकः स्वस्वगृहे भोज-
नाय, भुक्त्वा च समागतः शिलाप्रदेशे, प्रारब्धं तत्र कर्म, कतिपयदिनैश्च निष्पादितः परिपूर्णो मण्डपः, कृता च शिला तस्याच्छादनं,
निवेदितं च राज्ञे राजनियुक्तैः पुरुषैः–देव ! निष्पादितो ग्रामेण देवादेशः, राजा प्राह–कथमिति ?, ततस्ते सर्वमपि मण्डपनिष्पादनप्रकारं
कथयामासुः, राजा पप्रच्छ–कस्येयं बुद्धिः ?, तेऽवादिषुः,–देव ! भरतपुत्रस्य रोहकस्य, एषा रोहकस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः । एवं सर्वेष्वपि
संविधानेषु योजनीयं ततो भूयोपि—
राजा रोहकबुद्धिपरीक्षार्थं मेण्ढकं प्रेषितवान्, एष यावत्पलः संप्रति वर्त्तते पक्षातिक्रमेऽपि तावत्पलक्रम एव समर्पणीयो, न न्यूनो
नापि अधिक इति, तत एवं राजादेशे समागते सति सर्वोऽपि ग्रामो व्याकुलीभूतचेता बहिः सभायां एकत्र मिलितवान्, सगौरवमा-

कारितो रोहकः, आभाषितश्च ग्रामप्रधानैः पुरुषैः—वत्स! प्राचीनं अपि दुष्टराजादेशसिंधुं त्वया एव निजबुद्धिसेतुबंधेन समुत्तारितः सर्वोऽपि ग्रामस्ततः संप्रति अपि प्रगुणीकुरु निजबुद्धिसेतुबंधं येन अस्यापि दुष्टराजादेशसिंधोः पारं अधिगच्छाम इति, तत उवाच रोहको—वृकं प्रत्यासन्नं धृत्वा मेण्ढकं एनं यवसदानेन पुष्टीकुरुत; यवसं हि भक्षयन् एष न दुर्बलो भविष्यति, वृकं च दृष्ट्वा न वृद्धिं आप्स्यति इति, ततस्ते तथैव कृतवंतः, पक्षातिक्रमे च तं राज्ञः समर्प्पयामासुः, तोलने च य तावत्पलप्रमाण एव जातः ॥ २ ॥ ततो भूयोऽपि कतिपयदिनानंतरं राज्ञा कुर्कुटः प्रेषितः। एष द्वितीयं कुर्कुटं विना योधयितव्य इति, एवं संप्राप्ते राजादेशे मिलितः सर्वोऽपि ग्रामो बहिः सभायां आकरितो रोहकः कथितश्च तस्य राजादेशः। ततो रोहकेण आदर्शको महाप्रमाण आनायितो निमृष्टश्च भूत्या सम्यक्, ततो धृतः पुरो राजकुर्कुटस्य, ततः स प्रतिबिंबं आत्मीयं आदर्शे दृष्ट्वा मत्प्रतिपक्षः अयं अपरः कुर्कुट इति मत्वा साहंकारं योद्धुं प्रवृत्तो, जडचेतसो हि प्रायः तिर्यंचो भवंति। एवं च अपरकुर्कुटमंतरेण योधिते राजकुर्कुटे विस्मितः सर्वोऽपि ग्रामलोकः, संपादितो राजादेशः, निवेदितं [च] राज्ञे निजपुरुषैः ॥३॥ ततो भूयोऽपि कतिपयदिवसातिक्रमे राजा निजादेशं प्रेषितवान्—युष्मत्—ग्रामस्य सर्वतः समीपेऽतीव रमणीया वालुका विद्यंते, ततः स्थूला वालुकामयाः कतिपयदवरकाः कृत्वा शीघ्रं प्रेषणीया इति, एवं च राजादेशे समागते मिलितः सर्वोऽपि बहिः सभायां ग्रामः पृष्टश्च रोहकः, ततो रोहकेण प्रत्युत्तरं अदायि। नटा वयं, ततो नृत्यं एव वयं कर्त्तुं जानीमो न दवरकादि, राजदेशश्च अवश्यं कर्त्तव्यः, ततो बृहत् राजकुलं इति चिरंतना अपि कतिचित् वालुकामया दवरका भविष्यंति इति तन्मध्यात् एकः कश्चित् प्रतिच्छंदभूतः प्रेषणीयो येन तदनुसारेण वयमपि वालुकामयान् दवरकान् कुर्म इति, ततो निवेदितं एतद्राज्ञे नियुक्तपुरुषैः, राजा च निरुत्तरीकृतः तूष्णीमास्ते ॥४॥ ततः पुनरपि कतिचित् दिनानंतरं जीर्णहस्ती रोगग्रस्तो मुमूर्षुः ग्रामे राज्ञा प्रेषितो,

यथाऽयं हस्ती मृतः इति न निवेदनीयो, अथ [च प्रतिदिवसस्य] वार्त्ता कथनीया, अकथने महान् ग्रामस्य दंडः, एवं च राजादेशे समागते तथैव मिलितः सर्वोऽपि बहिः सभायां ग्रामः, पृष्टश्च रोहकः, ततो रोहकेण उक्तं दीयतां अस्मै यवसः पश्चात् यत् भविष्यति तत् करिष्यामः, ततो रोहकादेशेन दत्तं यवसः तस्मै, रात्रौ च स हस्ती पंचत्वं उपगतः, ततो रोहकवचनतो ग्रामेण गत्वा राज्ञे निवेदितं– देव ! अद्य हस्ती न निषीदति नोत्तिष्ठति, न कवलं गृह्णाति, नापि नीहारं करोति, नापि उच्छ्वासनिश्वासौ विदधाति, किं बहुना? देव ! कां अपि सचेतनचेष्टां न करोति, ततो राज्ञा भणितं–किं रे ! मृतो हस्ती ? ततो ग्राम आह–[देव !] देवपादा एवं ब्रुवते, न वयं इति, तत एवं उक्ते राजा मौनं आधाय स्थितः, आगतो ग्रामलोकः स्वग्रामे ॥५॥ ततो भूयोऽपि कतिपयदिनातिक्रमे राजा समादिष्टवान्– अस्ति युष्माकं ग्रामे सुस्वादुजलपूर्णः कूपः, स इह सत्वरं प्रेषितव्यः, तत एवं आदिष्टो ग्रामो रोहकं पृष्टवान्, रोहकश्च उवाच–एष ग्रामेयकः कूपो, ग्रामेयकश्च स्वभावात् भीरुर्भवति न च सजातीयमंतरेण विश्वासं उपगच्छति। ततो नागरिकः कश्चिदेकः कूपः प्रेष्यतां येन तत्र एष विश्वस्य तेन सह समागच्छति, इति एवं निरुत्तरीकृत्य मुत्कलिता राजनियुक्ताः पुरुषाः, तैश्च राज्ञे निवेदितं, राजा च स्वचेतसि रोहकस्य बुद्धि–अतिशयं परिभाव्य मौनं अवलंब्य स्थितः ॥ ७ ॥ ततो भूयोऽपि कतिपयवासरातिक्रमेऽभिहितवान्– वनखंडो ग्रामस्य पूर्वस्यां दिशि वर्त्तमानः पश्चिमायां दिशि कर्त्तव्य इति, अस्मिन्नपि राजादेशे समागते ग्रामो रोहकबुद्धिं उपजीव्य वनखंडस्य पूर्वस्यां दिशि व्यवतिष्ठत, ततो जातो ग्रामस्य पश्चिमायां दिशि वनखंडः, निवेदितं राज्ञो राजनियुक्तैः पुरुषैः ॥ ८ ॥ ततः पुनरपि कालांतरे राजा समादिष्टवान्–वह्निसंपर्कमंतरेण पायसं पक्तव्यमिति, सर्वो ग्राम एकत्र मिलित्वा रोहकं अपृच्छत्, रोहकश्च उक्तवान्–तंदुलानतीव जलेन भिन्नान् कृत्वा दिनकरकरनिकरसंतप्तकरीषपलालादीनां ऊष्मणि तंदुलपयोभृता स्थाली निवेश्यतां येन

परमान्नं संपद्यते। तथैव कृतं, जातं परमान्नं, निवेदितं राज्ञे, विस्मितं तस्य चेतः ॥ ९ ॥ ततो राज्ञा रोहकस्य बुद्धि-अतिशयं अवगम्य तदाकारणाय समादिष्टं येन बालकेन ममादेशाः सर्वेऽपि प्रायः स्वबुद्धिवशात् संपादिताः तेन च अवश्यं आगंतव्यं, परं न शुक्लपक्षे नापि कृष्णपक्षे न रात्रौ न दिवा, न छायायां नापि आतपे न आकाशे न पादाभ्यां, न पथा नापि उत्पथेन न स्नातेन न अस्नातेन, तत एवं आदिष्टे स रोहकः कंठस्नानं कृत्वा गंत्रीचक्रस्य मध्यभूमिभागेन ऊरणमारूढो धृतचालनीरूपातपत्रः संध्यासमये अमावास्या-प्रतिपत्संगमे नरेन्द्रपार्श्वे अगमत्, स च 'रिक्तहस्तो न पश्येत, राजानं देवतां गुरुं' इति लोकश्रुतिं परिभाव्य पृथिवीपिंडमेकं आदाय गतः। प्रणतो राजा, मुक्तश्च तत् पुरतः पृथिवीपिंडस्ततः पृष्टो राज्ञा रोहकः। रे रोहक! किमेतत्? रोहकोऽवादीत्–देव! देवपादाः पृथिवीपतयः ततो मया पृथिवी समानीता, श्रुत्वा च इदं प्रथमदर्शने मंगलं वचस्तुतोष राजा, मुत्कलितः शेषो ग्रामलोकः, रोहकः पुनः आत्मपार्श्वे शायितः, गते च यामिन्याः प्रथमे यामे रोहकः शब्दितो राज्ञा–रे जागर्षि किं वा स्वपिषि?, स प्राह–देव! जागर्मि, रे तर्हि किं चिंतयसि?, स प्राह–देव! अश्वत्थपत्राणां किं दंडो महान् उत शिखा इति?, तत एवमुक्ते राजा संशयं आपन्नो वदति–साधु चिंतितं, कोऽत्र निर्णयः?, ततो राजा तं एव पृष्टवान्–रे! कथय कोऽत्र निर्णयः?, इति तेन उक्तं–देव! यावद्यापि शिखाग्रभागो न शोपमायाति तावत् द्वे अपि समे, ततो राज्ञा पार्श्ववर्त्ती लोकः पृष्टः, तेन च सर्वेणापि अविगानं ततः प्रतिपन्नं ॥ १० ॥ ततो भूयोऽपि रोहकः सुप्तवान्, पुनः अपि द्वितीये यामेऽपगते राज्ञा शब्दितः पृष्टश्च–किं रे जागर्षि? किं वा स्वपिषि?, स प्राह–देव! जागर्मि!, रे किं चिंतयसि!, देव! छागिकाया उदरे कथं भ्रम्युत्तीर्णा इव वर्त्तुलगुलिका जायंते। तत एवमुक्ते राजा संशयापन्नः तं एव पृष्टवान्–कथय रे रोहक! कथमिति?, स प्राह–देव! संवर्तिकाभिधवातविशेषात् ॥ ११ ॥ ततः

पुनरपि रोहकः सुष्वाप, तृतीये च रजन्या यामेऽपगते भूयो राज्ञा शब्दितः,–किं रे जागर्षि किं वा स्वपिषि ?, सोऽवादीत्–देव ! जागर्मि, किं रे चिंतयन् वर्त्तसे ?, देव ! षाडहिला जीवस्य यावत् मात्रं शरीरं तावत् मात्रं पुच्छं उत न्यूनाधिकमिति ?, तत एवं उक्ते राजा निर्णयं कर्त्तुं अशक्तः तं एवापृच्छत्–कोऽत्र निर्णयः ?, सोऽवादीत्–देव ! समं इति ॥ १२ ॥ ततो रोहकः सुप्तः, प्राभातिके च मंगलपटहकनिस्वने सर्वत्र प्रसरमाधिरोहति राजा प्रबोधं उपाजगाम, शब्दितवान् च रोहकं, स च निद्राभरं उपारूढो न प्रतिवाचं दत्तवान्। ततो राजा लीलाकम्बिकया मनाक् तं स्पृष्टवान्, ततः सोऽपगतनिद्रो जातः, पृष्टश्च किं रे स्वपिषि ? स प्राह–देव ! जागर्मि, किं रे तर्हि कुर्वन् तिष्ठसि ? देव चिंतयन्, किं चिंतयसि ? देव ? एतत् चिंतयामि–कतिभिर्जातो देव इति, तत एवमुक्ते राजा सव्रीडं मनाक् तूष्णीं अतिष्ठत्, ततः क्षणानन्तरं पृष्टवान् कथय रे कतिभिः अहं जातः ? इति ?, स प्राह–देव ? पंचभिः, राजा भूयोऽपि पृष्टवान्–केन केन इति ?, रोहक आह–देव एकेन तावत् [वैश्रवणेन], वैश्रवणस्य इव भवतो दानशक्तेः दर्शनात्, द्वितीयेन चंडालेन, वैरिसमूहं प्रति चंडालस्य इव कोपदर्शनात्, तृतीयेन, रजकेन, यतो रजक इव वस्त्रं परं निःपीड्य तस्य सर्वं अपहरन् दृश्यसे, चतुर्थेन वृश्चिकेन, यत् मां अपि बालकं निद्राभरसुप्तं लीलाकंबिकाग्रेण वृश्चिक इव निर्दयं तुदसि, पंचमेन निजपित्रा, येन यथावस्थितं न्यायं सम्यग् परिपालयसि। एवमुक्ते राजा तूष्णीं आस्थाय प्राभातिकं कृत्यं अकार्षीत्। जननीं च नमस्कृत्य एकांते पृष्टवान्–कथय मातः ! कतिभिः अहं जात इति ?, सा प्राह–वत्स ! किं एतत् प्रष्टव्यं ?, निजपित्रा त्वं जातः, ततो राजा रोहकोक्तं कथितवान्, वदति च–मातः ! स रोहकः प्रायोऽलीकबुद्धिर्न भवति ततः कथय सम्यक् तत्त्वमिति, तत एवं अतिनिर्बंधे कृते सति सा कथयामास– यदा तव गर्भाधानं आसीत् तदाऽहं बहिरुद्याने वैश्रवणपूजनाय गतवती, वैश्रवणं च यक्षं अतिशायिरूपं दृष्ट्वा हस्तसंस्पर्शेन च

संजातमन्मथोन्मादा भोगाय तं स्पृहितवती, अपांतराले च समागच्छंती चंडालयुवानं एकं अतिरूपं अपश्यम्, ततस्तमपि भोगाय स्पृहयामि स्म, ततोऽर्वाक्तने भागे समागच्छंती तथैव [च] रजकं दृष्ट्वाऽभिलषितवती, ततो गृहमागता सती तथाविध उत्सववशात् वृश्चिकं कणिकामयं भक्षणाय हस्ते न्यस्तवती, ततः तत्संस्पर्शतो जातकामोद्रेकात् तमपि भोगायाशंसितवती, तत एवं यदि स्पृहामात्रेण तेऽपि पितरः संभवंति तन्न जाने, परमार्थतः पुनरेक एव ते पिता सकलजगत्प्रसिद्ध इति, तत एवमुक्ते राजा जननीं प्रणम्य रोहकबुद्धि-विस्मितचेताः स्वावासप्रासादं अगमत्। रोहकं च सर्वेषां मंत्रिणां मूर्द्धाभिषिक्तं मंत्रिणं अकार्षीत् । तत् एवं 'भरहसिल' इति व्याख्यातम् ॥ १३ ॥ ३ ।

संप्रति 'पणियंति' व्याख्यायते—द्वौ पुरुषौ, एको ग्रामेयकोऽपरो नागरिकः, तत्र ग्रामेयकः स्वग्रामात् चिर्भटिकां आनयन् प्रतोली-द्वारे वर्त्तते। तं प्रति नागरिकः प्राह—यद्येताः सर्वा अपि तव चिर्भटिका भक्षयामि ततः किं मे प्रयच्छसि इति?, ग्रामेयक आह—योऽनेन प्रतोल्याद्वारेण मोदको न याति तं प्रयच्छामि, ततो बद्धं द्वाभ्यां अपि पणितं, कृताः साक्षिणो जनाः, ततो नागरिकेण ताः सर्वा अपि चिर्भटिका मनाक् मनाक् भक्षयित्वा मुक्ताः, उक्तं च ग्रामेयकं प्रति—भक्षिताः सर्वा अपि त्वदीयाः चिर्भटिकाः, ततो मे प्रयच्छ यथा प्रतिज्ञातं मोदकं इति, ग्रामेयक आह—न मे चिर्भटिका भक्षितास्ततः कथं ते प्रयच्छामि मोदकं, नागरिकः प्राह—भक्षिता मया सर्वा अपि तव चिर्भटिकाः, यदि न प्रत्येषि तर्हि प्रत्ययं उत्पादयामि, तेन उक्तं—उत्पादय प्रत्ययं, ततो द्वाभ्यां अपि विपणि-वीथ्यां विस्तारिता विक्रयाय चिर्भटिकाः, समागतो लोकः क्रयाय, ताश्च चिर्भटिका निरीक्ष्य लोको वक्ति—ननु भक्षिताः त्वदीयाः सर्वा अपि चिर्भटिकाः तत् कथं वयं गृह्णामः?, एवं च लोकेनोक्ते साक्षिणां ग्रामेयकस्य च प्रतीतिरुदपादि, क्षुभितो ग्रामेयकः,—हा!

कथं नु नाम मया तावत्प्रमाणो मोदको दातव्यः?, ततः स भयेन कंपमानो विनयनम्रो रूपकं एकं प्रयच्छति, नागरिको नेच्छति। ततो द्वे रूपके दातुं प्रवृत्तः तथापि नेच्छति, एवं यावत् शतं अपि रूपकाणां नेच्छति। ततस्तेन ग्रामेयकेण चिंतितं, हस्ती हस्तिनं प्रेर्यते। ततो धूर्त्त एप नागरिको वचनेन मां छलितवान् न अपरनागरिकधूर्त्तमंतरेण पश्चात् कर्तुं शक्यते, इति अनेन सह कतिपयदिनानि व्यवस्थां कृत्वा नागरिकधूर्त्तानवलगामि, तथैव कृतं, दत्ता एकेन नागरिकधूर्त्तेन तस्मै बुद्धिस्ततः तत्बुद्धिबलेनऽऽपूपिकापणे मोदकं एकं आदाय प्रतिद्वंद्विनं धूर्त्तं आकारितवान्, साक्षिणश्च सर्वेऽपि आकारितास्ततः तेन सर्वसाक्षिसमक्षं इंद्रकीलके मोदकोऽस्थाप्यत, भणितश्च मोदको-याहि २, मोदको न प्रयाति। ततस्तेन साक्षिणोऽधिकृत्य उक्तं—मया एवं युष्मत्समक्षं प्रतिज्ञातं—यद्यहं जितो भविष्यामि तर्हि स मोदको मया दातव्यो यः प्रतोलीद्वारेण न निर्गच्छति। एषोऽपि न याति, तस्मादहं मुत्कल इति। एतच्च साक्षिभिः अन्यैश्च पार्श्ववर्तिभिः नागरिकैः प्रतिपन्नं इति प्रतिजितः। प्रतिद्वंद्वी धूर्त्तः द्यूतकारः, नागरिकधूर्त्तस्य औत्पत्तिकी बुद्धिः। २।

'रुक्खे' त्ति, वृक्षोदाहरणं, तत्भावना—कचित् पथि पथिकानां सहकारफलानि आदातुं प्रवृत्तानां अंतरायं मर्कटका विदधते, ततः पथिकाः स्वबुद्धिवशात् वस्तुतत्त्वं पर्यालोच्य मर्कटकानां सन्मुखं लोष्टकान् प्रेषयामासुः, ततो रोषावद्धचेतसो मर्कटाः पथिकानां सन्मुखं सहकारफलानि प्रचिक्षिपुः। पथिकानां औत्पत्तिकी बुद्धिः। ३।

तथा 'खुड्डग' त्ति, अंगुलीयकाभरणं, तत्उदाहरणभावना —राजगृहं नगरं, तत्र रिपुसमूहविजेता राजा प्रसेनजित्। भूयांसः तस्य सूनवस्तेषां च सर्वेषां अपि मध्ये श्रेणिको राज्ञा नृपलक्षणसंपन्नः स्वचेतसि परिभावितो, अत एव च तस्मै न किंचिदपि ददाति, नापि च वचसापि संस्पृशति। मा शेषैः एषः परासुः विधीयेतेति बुद्ध्या, स च किंचित् अपि अलभमानो मन्युभरवशात् प्रस्थितो

देशांतरं जगाम । क्रमेण बेन्नातटं नगरं, तत्र च क्षीणविभवस्य श्रेष्ठिनो विपणौ समुपविष्टः, तेन च श्रेष्ठिना तस्यां एव रात्रौ स्वप्ने रत्नाकरो निजदुहितरं परिणयन् दृष्ट आसीत् । तस्य च श्रेणिकपुण्यप्रभावतः तस्मिन् दिवसे चिरसंचितप्रभूतक्रयाणकविक्रयेण महान् लाभः समुदपादि । म्लेच्छहस्ताच्च अनर्घाणि महारत्नानि स्वल्पमूल्येन समपद्यन्त, ततः सोऽचिंतयत्–अस्य महात्मनो मम समीपं उपविष्टस्य पुण्यप्रभाव एष यत् मया महती विभूतिः एतावती समासादिता, आकृतिं च तस्यातीव सुमनोहरां अवलोक्य स्वचेतसि कल्पयामास–स एष रत्नाकरो यो मया रात्रौ स्वप्ने दृष्टः, ततस्तेन कृतकरांजलिपुटेन विनयपुरस्सरं आभाषितः श्रेणिकः–कस्य यूयं प्राघूर्णकाः ?, श्रेणिक उवाच–भवतां इति, ततः स एवंभूतवचनश्रवणतो धाराहतकदंबपुष्पमिव पुलकितसमस्ततनुयष्टिः सबहुमानं स्वगृहं नीतवान् श्रेणिकं, भोजनादिकं च सकलमपि आत्मनोऽधिकतरं संपादयामास । पुण्यप्रभावं च तस्य प्रतिदिवसं आत्मनो धनलाभवृद्धिसंभवेनासाधारणं अभिसमीक्ष्यमाणः कतिपयदिनातिक्रमे तस्मै स्वदुहितरं नंदानामानं दत्तवान् । श्रेणिकोऽपि तया सह पुरंदर इव पौलोम्या मन्मथमनोरथानापूरयन् पंचविधभोगलालसो बभूव । कतिपयवासरातिक्रमे च नंदाया गर्भाधानमभूत् । इतश्च प्रसेनजित् स्वांतसमयं विभाव्य श्रेणिकस्य परंपरया वार्त्तां अधिगम्य तदाकारणाय सत्वरं उष्ट्रवाहनान् पुरुषान् प्रेषयामास । ते च समागत्य श्रेणिकं विज्ञप्तवंतो–देव ! शीघ्रं आगम्यतां, देवः सत्वरं आकारयति । ततो नंदां आपन्नसत्त्वां आपृच्छय 'अम्हे रायगिहे पंडरकुड्डा गोयाला जइ अम्हेहिं कज्जं तो एज्जह' त्ति एतद्वाक्यं क्वचित् लिखित्वा श्रेणिको राजगृहं प्रति चलितवान् । नंदायाश्च देवलोकच्युतमहानुभावगर्भसत्त्वप्रभावत एवं दौहृदं उदपादि । यदहं प्रवरकुंजरमधिरूढा निखिलजनेभ्यो धनदानपुरस्सरं अभयप्रदानं करोमि इति । पिता च तत् इत्थंभूतं दौहृदं उत्पन्नं ज्ञात्वा राजानं विज्ञप्य पूरितवान् । कालक्रमेण च प्रवृत्ते

प्रसवसमये प्रातरादित्यबिंबं इव दश दिशः प्रकाशयन् अजायत परमसूनुस्तस्य च दौहृदानुसारेण अभय इति नाम चक्रे। सोऽपि च अभयकुमारो नंदनवनांतर्गतकल्पपादप इव तत्र सुखेन परिवर्द्धते। शास्त्रग्रहणादिकं अपि यथाकाले कृतवान्। अन्यदा च स्वमातरं प्रपच्छ। मातः! कथं मे पिताऽभूत् इति?, ततः सा कथयामास समूलत आरभ्य सर्वं यथावस्थितं वृत्तांतं, दर्शयामास च लिखितानि अक्षराणि, ततो मातृवचनतात्पर्यावगमतो लिखिताक्षरार्थावगमतश्च ज्ञातं अभयकुमारेण— यथा मे पिता राजगृहे राजा वर्त्तते इति। एवं च ज्ञात्वा मातरं अभाणीत्—व्रजामो राजगृहे सार्थेन सह वयं इति, सा प्रत्यवादीत्—वत्स! यद् भणसि तत्करोमि इति। ततो अभयकुमारः स्वमात्रा सह सार्थेन समं व्रजितः, प्राप्तौ राजगृहस्य बहिःप्रदेशं, ततोऽभयकुमारः तत्र मातरं विमुच्य किं वर्त्तते संप्रति पुरे? कथं वा राजा दर्शनीय? इति विचिंत्य राजगृहं पुरं प्रविष्टः। तत्र च पुरप्रवेशे एव निर्जलकूपतटे समंततो लोकः समुदायेन अवतिष्ठते। पृष्टं च अभयकुमारेण—किं इति एप लोकमेलापकः?, ततो लोकेन उक्तं,—कूपस्य मध्ये राज्ञोंऽगुल्याभरणमास्ते, तत् यो नाम तटे स्थितः स्वहस्तेन गृह्णाति तस्मै राजा महतीं वृत्तिं प्रयच्छति इति, तत एवं श्रुते पृष्टाः प्रत्यासन्नवर्त्तिनो राजनियुक्ताः पुरुषास्तैः अपि एवं एव कथितम्। ततः अभयकुमारेण उक्तं—अहं तटे स्थितो ग्रहीष्यामि, राजनियुक्तैः पुरुषैः उक्तं—गृहाण त्वं, यत् प्रतिज्ञातं राज्ञा तदवश्यं करिष्यते। ततोऽभयकुमारेण परिभावितं अंगुल्याभरणं दृष्ट्वा सम्यक् तत आर्द्रगोमयेन आहतं, संलग्नं तत् तत्र, तस्मिन् शुष्के मुक्तं कूपांतरात् पानीयं, भृतो जलेन, परिपूर्णः स कूपः, तरति च उपरि सांगुल्याभरणशुष्कगोमयस्ततस्तटस्थेन सता गृहीतं अंगुल्याभरणं अभयकुमारेण, कृतश्च आनंदकोलाहलो लोकेन, निवेदितं राज्ञो राजनियुक्तैः पुरुषैः, आकारितोऽभयकुमारो राज्ञा, गतो राज्ञः समीपं, मुमोच पुरतः

अंगुल्याभरणं, पृष्टश्च राज्ञा–वत्स! कोऽसि त्वं?, अभयकुमारेण उक्तं–देव! युष्मदपत्यं, राजा प्राह–कथं?, ततः प्राक्तनं वृत्तांतं कथितवान्। ततो जगाम महाप्रमोदं राजा, चकार उत्संगे अभयकुमारं, चुंबितवान् सस्नेहं शिरसि, पृष्टश्च श्रेणिकेन अभयकुमारो–वत्स! क्व ते माता वर्त्तते?। तेन उक्तं–देव! बहिःप्रदेशे, ततो राजा सपरिच्छदः तस्याः सन्मुखं उपागमत्। अभयकुमारश्च अग्रे समागम्य कथयामास सर्वं नंदायास्ततः सा आत्मानं मंडयितुं प्रवृत्ता, निषिद्धा च अभयकुमारेण मातः! न कल्पते कुलस्त्रीणां निजपतिविरहितानां निजपतिदर्शनमंतरेण भूषणं कर्तुं इति, समागतो राजा, पपात राज्ञः पादयोः नंदा, सन्मानिता च भूषणादिप्रदानेन अतीव राज्ञा, सस्नेहं प्रवेशिता महाविभूत्या नगरं सपुत्रा, स्थापितश्च अभयकुमारोऽमात्यपदे अभयकुमारस्य औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ ४ ॥ तथा 'पड'त्ति पटोदाहरणं, तद्भावना–द्वौ पुरुषौ एकस्य आच्छादनपटः सौत्रिकोऽपरस्य और्णमयः, तौ च सह गत्वा युगपत्स्नातुं प्रवृत्तौ, तत्र उर्णापटस्वामी स्वपटं विमुच्य द्वितीयस्य सत्कं सौत्रिकं पटं गृहीत्वा गंतुं प्रस्थितो, द्वितीयो याचते स्वपटं, स न प्रयच्छति, ततो राजकुले व्यवहारो जातः, ततः कारणिकैः द्वयोः अपि शिरसी कंकतिकयाऽवलेखिते, ततोऽवलेखने कृते ऊर्णामयपटस्वामिनः शिरसा और्णावयवा निर्जग्मुः। ततो ज्ञातं–नूनं एष न सौत्रिकपटस्य स्वामीति निगृहीतो ऽपरस्य समर्पितः सौत्रिकः पटः। कारणिकानां औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ ५ ॥ ततो 'सरड' त्ति, सरटोदाहरणं, तद्भावना–कस्यचित पुरीषं उत्सृजतः सरटो गुदस्याधस्तात् बिलं प्रविशन् पुच्छेन गुदं स्पृष्टवान्। ततस्तस्य एवं अजायत शंका–नूनं उदरे मे सरटः प्रविष्टः, ततो गृहं गतो महतीं महतीं अधृतिं कुर्वन् अतीव दुर्बलो बभूव। वैद्यं च पप्रच्छ, वैद्यश्च ज्ञातवान्, असंभवं एतत्, केवलं अस्य कथंचित् आशंका समुदपादि, ततः स अवादीत्–यदि मे शतं रूपकाणां प्रयच्छसि ततोऽहं त्वां निराकुलीकरोमि, तेन प्रतिपन्नं,

ततो वैद्यो विरेकौषधं तस्य प्रदाय लाक्षारसखरंटितं सरटं घटे प्रक्षिप्य तस्मिन् घटे पुरीषोत्सर्गं कारितवान् । ततो दर्शितो वैद्येन तस्य पुरीषखरंटितो घटे सरटो, व्यपगता तस्य शंका, जातो बलिष्ठशरीरो, वैद्यस्य औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ ६ ॥ 'काय'त्ति काकोदाहरणं, तत् भावना—वेन्नातटे नगरे केनापि सौगतेन कोऽपि श्वेतपटक्षुल्लकः पृष्टः—भो क्षुल्लक ! सर्वज्ञाः किल तव अर्हतः तत्पुत्रकाश्च यूयं तत्कथय—कियंतोऽत्र पुरे वसंति वायसाः ?, ततः क्षुल्लकः चिंतयामास—शठोऽयं प्रतिशठाचरणेन निर्लोठनीयस्ततः स्वबुद्धिवशात् इदं पठितवान्—"सट्ठिकागसहस्सा इहइं विन्नायडे परि वसंति । जइ ऊणगा पवसिया अब्भहिया पाहुणा आया ॥ १ ॥" ततः स भिक्षुः ततः प्रत्युत्तरं दातुं अशक्नुवन् लकुटाहतशिरस्क इव शिरः कंडूयन् मौनमाधाय गतः । क्षुल्लकस्य औत्पत्तिकी बुद्धिः । अथवाऽपरो वायसदृष्टांतः—कोऽपि क्षुल्लकः केनापि भागवतेन दुष्टबुद्ध्या पृष्टो—भोः क्षुल्लक ! किं एष काको विष्ठां इतः ततो विक्षिपति ?, क्षुल्लकोऽपि तस्य दुष्टबुद्धितां अवगम्य तत् मर्मवित् प्रत्युत्तरं दत्तवान्—युष्मत्सिद्धांते हि जले च स्थले च सर्वत्र व्यापी विष्णुः अभ्युपगम्यते । ततो यौष्माकीणं सिद्धांतं उपश्रुत्य एषोऽपि वायसोऽचिंतयत्—किं अस्मिन् पुरीषे समस्ति विष्णुः किं वा न इति ?, ततः स एवं उक्तो बाणाहतमर्मप्रदेश इव घूर्णितचेतसो मौनं अवलंब्य रुषा धूमायमानो गतः, क्षुल्लकस्य औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ ७ ॥ 'उच्चारे' त्ति, उच्चारोदाहरणं, तत् भावना—कचित् पुरे कोऽपि धिग्जातीयः, तस्य भार्याऽभिनवयौवनोद्भेदरमणीया लोचनयुगलवक्रिमावलोकनमहाभल्लीनिपातताडितसकलकामिकुरंगहृदया प्रबलकामोन्मत्तमानसा, सोऽन्यदा धिग्जातीयः तया भार्यया सह देशांतरं गंतुं प्रवृत्तोऽपांतराले च धूर्त्तः कोऽपि पथिको मिलितः, सा च धिग्जातीयभार्या तस्मिन् रतिं बद्धवती, ततो धूर्त्तः प्राह—मदीया एषा भार्या, धिग्जातीयः प्राह—मदीया इति, ततो राजकुले व्यवहारो जातः, ततः

कारणिकैः द्वयोरपि पृथक् २ कृत्य ह्यस्तनदिनभुक्तआहारः पृष्टो, धिग्जातीयेन उक्तं—मया ह्यस्तनदिने तिलमोदका भक्षिता मद्भार्यया च, धूर्त्तेन अन्यत्किं अपि उक्तं, ततो दत्तं तस्याः कारणिकैः विरेकौषधं, जातो विरेको, दृष्टाः पुरीषांतर्गताः तिलाः, दत्ता सा धिग्जातीयाय, निर्घाटितो धूर्त्तः, कारणिकानां औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ ८ ॥ 'गय'त्ति गजोदाहरणं, तद्भावना—वसंतपुरे नगरे कोऽपि राजा बुद्ध्यतिशयसंपन्नं मंत्रिणमेकमन्वेषमाणश्चतुःपथे हस्तिनमालानस्तंभे बंधयित्वा घोषणामचीकरत् । यो इमं हस्तिनं तोलयति तस्मै राजा महतीं वृत्तिं प्रयच्छति इति । इमां च घोषणां श्रुत्वा कश्चिदेकः पुमान् हस्तिनं महासरसि नावं आरोहयामास । अस्मिंश्च आरूढे यावत् प्रमाणा नौः मले निमग्ना तावत् प्रमाणां रेखामदात्ततः समुत्तारितो हस्ती तटे, प्रक्षिप्ता गंडशैलकल्पा नावि ग्रावाणः, ते च तावत् प्रक्षिप्ता यावद् रेखां मर्यादीकृत्य जले निमग्ना नौः, ततः तोलिताः सर्वे पाषाणाः, कृतं एकत्र पलप्रमाणं निवेदितं च राज्ञो—देव! एतावत् पलपरिमाणो हस्ती वर्त्तते । ततस्तुतोष राजा, कृतो मंत्रिमंडलमूर्द्धाभिषिक्तः परममंत्री, तस्य औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ ९ ॥ 'घयण'त्ति भांडः, तत् उदाहरणं—विटो नाम कोऽपि पुरुषो राज्ञः प्रत्यासन्नवर्त्ती, तं प्रति राजा निजदेवीं प्रशंसति—अहो निरामया मे देवी या न कदाचित् अपि वातनिसर्गं विदधाति । विटः प्राह—देव! न भवति इदं जातुचित्, राजाऽवादीत्—कथं ?, विट आह—देव! धूर्त्ता देवी, ततो यदा सुगंधीनि पुष्पाणि चूर्णयित्वा वासात् समर्प्पयति नासिकाग्रे तदा ज्ञातव्यं—वातं मुंचति इति । ततोऽन्यदा राज्ञा तथैव परिभावितं । सम्यग् अवगते च हसितं, ततो देवीहसननिमित्तकथनाय निर्बंधं कृतवती, ततो राजाऽतिनिर्बंधे कृते पूर्ववृत्तांतं अचीकथत् । ततश्चुकोप देवी तस्मै विटाय, आज्ञप्तो देशत्यागेन, तेनापि जज्ञे—नूनं अकथयत् पूर्ववृत्तांतं देवो देव्यास्तेन मे चुकोप देवी । ततो महांतं उपानहां भरमादाय गतो देवीसकाशं, विज्ञापयामास

देव्युपानहां भरं पार्श्वे स्थितं दृष्ट्वा पृष्टवती—रे किं एष उपानहांभरः ?, सोऽवादीत्—देवि ! यावंति
देवीं—देवि ! यामो देशांतराणि, देव्युपानहां भरं पार्श्वे स्थितं दृष्ट्वा पृष्टवती—रे किं एष उपानहांभरः ?, तत एवं उक्ते मा मे सर्वत्र अपकीर्त्तिर्जायेत
देशांतराणि एतावतीभिः उपानद्भिः गंतुं शक्यानि तावत् सुदेव्याः कीर्त्तिर्विस्तारणीया। तत एवं उक्ते मा मे सर्वत्र अपकीर्त्तिर्जायेत
इति परिभाव्य देवी बलात्तं धारयामास विटस्य औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥१०॥ 'गोलो' त्ति गोलकोदाहरणं, तद्भावना—लाक्षागोलकः
कस्यापि बालकस्य कथमपि नासिकामध्ये प्रविष्टः, ततस्तन्मातापितरौ अतीव आर्त्तौ बभूवतुर्दर्शितो बालकः सुवर्णकारस्य, तेन
सुवर्णकारेण प्रतप्ताग्रभागया लोहशलाकया शनैः शनैः यततो लाक्षागोलको मनाक् प्रताप्य सर्वोऽपि समाकृष्टः। सुवर्णकारस्य
औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ ११ ॥ 'खंभ' त्ति स्तंभोदाहरणं, तद्भावना—राजा मंत्रिणं एकं गवेषयन् महाविस्तीर्णतटाकमध्ये स्तंभं एकं
निक्षेपयामास। तत एवं घोषणां कारितवान्—यो नाम तटे स्थितोऽमुं स्तंभं दवरकेण बध्नाति तस्मै राजा शतसहस्रं प्रयच्छति इति,
तत एवं घोषणां श्रुत्वा कोऽपि पुमान् एकस्मिन् तटप्रदेशे कीलकं भूमौ निक्षिप्य दवरकेण बद्ध्वा तेन दवरकेण सह सर्वतः तटे
परिभ्रमन् मध्यस्थितं स्तंभं तं बद्धवान्, लोकेन च बुद्धिअतिशयसंपन्नतया प्रशंसितो, निवेदितश्च राज्ञो राजनियुक्तैः पुरुषैस्तुतोष
राजा, ततस्तं मंत्रिणं अकार्षीत्। तस्य पुरुषस्य औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ १२ ॥ 'खुड्डग'त्ति क्षुल्लकोदाहरणं, तद्भावना—कस्मिन्चित्
पुरे काचित् परिव्राजिका, यो यत् करोति तदहं कुशलकर्म्मा सर्वं करोमि इति राज्ञः समक्षं प्रतिज्ञां कृतवती, राजा च
तत् प्रतिज्ञासूचकं पटहं उद्घोषयामास, तत्र च कोऽपि क्षुल्लको भिक्षार्थं अटन् पटहशब्दं श्रुतवान्, श्रुतश्च प्रतिज्ञार्थः। ततो
धृतवान् पटहं, प्रतिपन्नो राजसमक्षं व्यवहारो, गतो राजकुलं क्षुल्लकस्ततः तं लघुं दृष्ट्वा सा परिव्राजिकाऽऽत्मीयं मुखं विकृत्य
अवज्ञयाऽभिधत्ते—कथय कुतो मिलामि? तत एवमुक्ते क्षुल्लकः स्वं मेंढ्रं दर्शितवान्, ततो हसितं सर्वैः अपि जनैः, उद्घुष्टं च—

जिता परिव्राजिका । तस्या एवं कर्त्तुं अशक्यत्वात्, ततः क्षुल्लकः कायिक्या पद्ममाऽऽलिखितवान्, सा कर्त्तुं न शक्नोति, ततो जिता परिव्राजिका । क्षुल्लकस्य औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ १३ ॥ 'मग्ग' त्ति मार्गोदाहरणं, तद्भावना—कोऽपि पुरुषो निजभार्यां गृहीत्वा वाहनेन ग्रामांतरं व्रजति, अपांतराले च क्वचित् प्रदेशे शरीरचिंतानिमित्तं तद्भार्या वाहनात् उत्तीर्णवती, तस्यां च शरीरचिंतानिमित्तं कियत् भूभागं गतायां तत्प्रदेशवर्तिनी काचित् व्यंतरी पुरुषस्य रूपसौभाग्यादिकं अवलोक्य कामानुऽरागतः तद्रूपेण आगत्य वाहनं विलग्ना, सा च तत् भार्या शरीरचिंतां विधाय यावत् वाहनसमीपं आगच्छति तावदन्यां स्त्रियं आत्मसमानरूपां वाहनमधिरूढां पश्यति । सा च व्यंतरी पुरुषं प्रत्याह—एषा काचित् व्यंतरी मदीयं रूपं आरचय्य तव सकाशं अभिलषति । ततः खेटय २ सत्वरं सौरभेयाविति, ततः पुरुषस्तथैव कृतवान् । सा च आरटंती पश्चाल्लग्ना समागच्छति । पुरुषोऽपि तां आरटंतीं दृष्ट्वा मूढचेता मंदं मंदं खेटयामास, ततः प्रावर्तत तयोस्तद्भार्याव्यंतर्योर्निष्ठुरभाषणादिकः परस्परं कलहः, ग्रामे च प्राप्ते जातः तयो राजकुले व्यवहारः, पुरुषश्च निर्णयं अकुर्वन् उदासीनो वर्तते, ततः कारणिकैः पुरुषो दूरे व्यवस्थापितो भणिते च ते द्वे अपि स्त्रियौ—युवयोः मध्ये या काचिदमुं प्रथमं हस्तेन संस्पृक्ष्यति तस्याः पति एष न शेषायाः, ततो व्यंतरी हस्तं दूरतः प्रसार्य प्रथमं स्पृष्टवती, ततो ज्ञातं कारणिकैरेषा व्यंतरीति, ततो निर्घटिता, द्वितीया च समर्पिता स्वपतेः । कारणिकानां औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ १४ ॥ 'इत्थि'त्ति स्त्रीउदाहरणं, तद्भावना—मूलदेव-कंडरिकौ सहपन्थानं गच्छतः, इतश्च कोऽपि सभार्यकः पुरुषः तेन एव पथा गंतु प्रावर्तत, कंडरीकश्च दूरस्थितस्तद्भार्यागतं अतिशायिरूपं दृष्ट्वा साभिलाषो जातः, कथितं च तेन मूलदेवस्य—यदि इमां मे संपादयसि तदहं जीवामि, न अन्यथा इति, ततो मूलदेवोऽवादीत्, माऽऽतुरी भूः, अहं ते नियमतः संपादयिष्यामि । ततस्तौ द्वौ अपि अलक्षितौ सत्वरं दूरतो गतौ, ततो मूलदेवः

कंडरीकं एकस्मिन् वननिकुंजे संस्थाप्य पथि ऊर्द्धस्थितो वर्तते । ततः पश्चादायातः सभार्यकः स पुरुषो भणितो मूलदेवेन–भो महापुरुष! मम महिलायां अस्मिन् वननिकुंजे प्रसवो वर्तते, ततः क्षणमात्रं निजमहिलां विसर्जय, विसर्जिता तेन, गता सा पुंडरीकपार्श्वं, ततः क्षणमात्रं स्थित्वा समागता । आगंतूण य तयो पडयं घेत्तूण मूलदेवस्स । धुत्ती भणइ हसंती पियं खुणे दारओ जाओ ॥ १ ॥ "द्वयोरपि तयोः औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ १५ ॥ 'पइ'त्ति पतिदृष्टान्तः, तद्भावना–द्वयोर्भ्रात्रोः एका भार्या, लोके च महान् कौतुकं–अहो द्वयोरपि एषा समानुरागा इति, एतच्च श्रुतिपरंपरया राज्ञा श्रुतं, परं विस्मयं उपगतो राजा, मंत्री ब्रूते । देव! न भवति कदाचिदपि एतत् । अवश्यं विशेषः कोऽपि भविष्यति, राज्ञा उक्तं कथं एतदवसेयं ?। मंत्री ब्रूते–देव! अचिरात् एव यथा ज्ञास्यते तथा यतिष्यते । ततो मंत्रिणा तस्याः स्त्रिया लेखः प्रेषितो यथा–तौ द्वौ अपि निजपती ग्रामद्वये प्रेषणीयौ–एकः पूर्वस्यां दिशि विवक्षिते ग्रामे अपरो अपरस्यां दिशि, तस्मिन् एव च दिने द्वाभ्यां अपि स्वगृहे समागंतव्यं, ततस्तयोर्यो मंदवल्लभः स पूर्वस्यां दिशि प्रेषितो अपरोऽपरस्यां दिशि, पूर्वस्यां च दिशि यो गतः तस्य गच्छत आगच्छतश्च संमुखः सूर्यः, यः पुनः अपरस्यां गतः तस्य गच्छत आगच्छत पृष्ठतः, एवं च कृते मंत्रिणा ज्ञातं–अयं मंदवल्लभोऽपरोऽत्यंतवल्लभः, ततो निवेदितं राज्ञे, राज्ञा च न प्रतिपन्नं, यतोऽवश्यं एकः पूर्वस्यां दिशि प्रेषणीयोऽपरोऽपरस्यां, ततः कथं एषो विशेषोऽवगम्यते ?, ततः पुनरपि मंत्रिणा लेखप्रदानेन सा महिला उक्ता–द्वौ अपि निजपती तयोः एव ग्रामयोः समकं प्रेषणीयौ, तया च तौ तथैव प्रेषितौ, मंत्रिणा च द्वौ पुरुषौ तस्याः समीपे समकं तयोः शरीरापाटवनिवेदकौ प्रेषितौ, द्वाभ्यां अपि च सा समकमाकारिता, ततो यो मंदवल्लभशरीरापाटवनिवेदकः पुरुषस्तं प्रत्याह–सदैव मंदशरीरो द्वितीयो अद्वितीयो

अतिआतुरश्च वर्त्तते ततस्तं प्रति अहं गमिष्यामि, तथैव कृतं, ततो निवेदितं राज्ञे मंत्रिणा, प्रतिपन्नं राज्ञा तथा इति । मंत्रिण औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥१६॥ 'पुत्त' त्ति पुत्रदृष्टांतः, तद्भावना—कोऽपि वणिक्, तस्य द्वे पत्न्यौ, एकस्याः पुत्रोऽपरा वंध्या, परं सापि तं पुत्रं सम्यग् पालयति, ततः स पुत्रो विशेषं न जानीते—इयं मे जननी इयं न इति, सोऽपि वणिक् सभार्यापुत्रो देशांतरं गतो, गतमात्र एव च परासुरभूत् । ततो द्वयोः अपि तयोः कलहोऽजायत, एका भणति—एष मम पुत्रस्ततः अहं गृहस्वामिनी, द्वितीया तु ब्रूते—का त्वं ?, मम एष पुत्रः ततः अहं एव गृहस्वामिनीति, एवं च तयोः परस्परं कलहे जाते राजकुले व्यवहारो बभूव, ततोऽमात्यः प्रतिपादयामास निजपुरुषान्—भोः ! पूर्वं द्रव्यं समस्तं विभजत; विभज्य ततो दारकं द्वौ भागौ करपत्रेण कुरुत, कृत्वा च एकं खंडं एकस्यै समर्पयत द्वितीयं द्वितीयस्यै, तत एतत् अमात्यवाक्यं शिरसि महाज्वाला सहस्रावलीढवज्रोपनिपातकल्पं पुत्रमाता श्रुत्वा सोत्कंपहृदयाहृदयांतःप्रविष्टतिर्यक्शल्येव सदुःखं वक्तुं प्रवृत्ता-हा स्वामिन् ! महामात्य ! न मम एष पुत्रो, न मे किंचित् अर्थेन प्रयोजनं, एतस्या एव पुत्रो भवतु गृहस्वामिनी च । अहं पुनः अमुं पुत्रं दूरस्थितापि परगृहेषु दारिद्र्यं अपि कुर्वती जीवंतं द्रक्ष्यामि, तावता च कृतकृत्यं आत्मानं प्रपत्स्ये, पुत्रेण विना पुनः अधुनापि मे जीवलोको अस्तं उपयाति, । इतरा च न किं अपि वक्ति, ततोऽमात्येन तां सदुःखां परिभाव्य उक्तं, एतस्याः पुत्रो न अस्या इति, सा एव सर्वस्वस्वामिनी कृता, द्वितीया तु निर्धाटिता, अमात्यस्य औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ १७ ॥

'भरहसिलमिंढे' इत्यादिका च गाथा रोहकसंविधानकसूचिका, सा च प्राग् उक्तकथानकानुसारेण स्वयमेव व्याख्येया । 'महुसित्थि' त्यादि, मधुयुक्तं सिक्थं मधुसिक्थं, तत् दृष्टान्तभावना—कश्चित् कोलिकः तस्य भार्या स्वैरिणी, सा च अन्यदा केनापि

पुरुषेण सह कस्मिंश्चित् प्रदेशे जालिमध्ये मैथुनं सेवितवती, मैथुनस्थितया च तया उपरि भ्रामरं समुत्पन्नं दृष्टं, क्षणमात्रानंतरं च समागता गृहे, द्वितीये च दिवसे स्वभर्ता मदनं क्रीणंस्तया निवारितो-मा क्रीणीहि मदनं, अहं ते भ्रामरं उत्पन्नं दर्शयिष्यामि । ततः स क्रयात् विनिवृत्तो, गतौ च तौ द्वौ अपि तां जालिं, न पश्यति सा कथं अपि कोलिकी भ्रामरं, ततो येन संस्थानेन मैथुनं सेवितवती तेन एव संस्थाने स्थिता, ततो दृष्टवती भ्रामरं, दर्शयामास, च कोलिकाय, कोलिकोऽपि तथारूपं संस्थानं अवलोक्य ज्ञातवान् नूनं एषा दुश्चारिणी इति । कोलिकस्य औत्पात्तिकी बुद्धिः ॥ १८ ॥ 'मुद्दिय'त्ति मुद्रिका उदाहरणं, तत् भावना-क्वचित् पुरे कोऽपि पुरोधाः सर्वत्र ख्यातसत्यवृत्तिः-यथा परकीयान् निक्षेपान् आदाय आदाय प्रभूतकालातिक्रमेऽपि तथा स्थितानेव समर्प्पयति इति । एतच्च ज्ञात्वा कोऽपि द्रमकः तस्मै स्वनिक्षेपं समर्प्य देशांतरं अगमत् । प्रभूतकालातिक्रमे च भूयोऽपि तत्रागतो याचते स्वं निक्षेपं पुरोधसं, पुरोधाश्च मूलत एव अपलपति कस्त्वं कीदृशो वा तव निक्षेप इति ? । ततः स रंको वराकः स्वं निक्षेपं अलभमानः शून्यचित्तो बभूव । अन्यदा च तेन अमात्यो गच्छन् दृष्टो याचितश्च-देहि मे पुरोहित ! सुवर्णसहस्रप्रमाणं निक्षेपं इति, तदेतत् आकर्ण्य अमात्यः तद्विषयकृपापरीतचेता बभूव । ततो गत्वा निवेदितं राज्ञः, कारितश्च दर्शनं द्रमको, राज्ञापि भणितः पुरोधाः-देहि तस्मै द्रमकाय स्वं निक्षेपं इति, पुरोहितोऽवादीत्-देव ! न किं अपि तस्याहं गृह्णामि, ततो राजा मौनं अधात्, पुरोधसि च स्वगृहं गते राजा विजने तं द्रमकं आकार्य पृष्टवान्-रे ! कथय सत्यमिति, ततस्तेन सर्वं दिवसमुहूर्त्तस्थानपार्श्ववर्त्तिमानुषादिकं कथेयं कथितं, ततोऽन्यदा राजा पुरोधसा समं रंतुं प्रावर्त्तत, परस्परं नाममुद्रा च संचारिता, ततो राजा यथा पुरोधा न वेत्ति तथा कस्यापि मानुषस्य हस्ते नाममुद्रां समर्प्य तं प्रति बभाण,-रे ! पुरोधसो गृहं गत्वा तद्भार्यां एवं ब्रूहि-यथाहं पुरोधसा प्रेषितः, इयं च नाममुद्राऽभिज्ञानं, तस्मिन् दिने

तस्यां वेलायां यः सुवर्णसहस्रनवलको द्रमकसत्कस्त्वत्समक्षं अमुकप्रदेशे मुक्तोऽस्ति। तं झटति मे समर्पय, तेन पुरुषेण तथैव कृतं। सापि च पुरोधसो भार्या नाममुद्रां दृष्ट्वाभिज्ञानमिलनतश्च सत्यं एष पुरोधसा प्रेषित इति प्रतिपन्नवती, ततः समर्पयामास तं द्रमकनिक्षेपं, तेन च पुरुषेण आनीय राज्ञः समर्पितो, राज्ञा च अन्येषां बहूनां नवलकानां मध्ये स द्रमकनवलकः प्रक्षिप्तः, आकारितो द्रमकः पार्श्वे च उपवेशितः पुरोधाः, द्रमकोऽपि तं आत्मीयं नवलकं दृष्ट्वा प्रमुदितहृदयो विकसितलोचनो अपगतचित्तशून्यताभावः सहर्षो राजानं विज्ञपयितुं प्रवृत्तः–देव! देवपादानां पुरतः एवमाकारो मदीयो नवलकः। ततो राजा तं तस्मै समर्प्पयामास। पुरोधसश्च जिह्वाच्छेदं अचीकरत्, राज्ञ औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ १९ ॥ 'अंके' त्ति अंकदृष्टांतभावना–कोऽपि कस्यापि पार्श्वे रूपकसहस्रनवलकं निक्षिप्तवान्, तेन च निक्षेपग्राहिणा तं नवलकमधःप्रदेशे छित्वा कूटरूपकाणां सहस्रेण स भृतः, तथैव सीवितः, ततः कालांतरे तस्य पार्श्वात् निक्षेपस्वामिना स्वनिक्षेपो गृहीतः, परिभावितः, सर्वतः तथैव दृश्यते मुद्रादिकं, तत उद्घाटिता मुद्रा यावद्रूपकान् परिभावयति तावत्सर्वान् अपि कूटान् पश्यति, ततो जातो राजकुले [तयोः] व्यवहारः, पृष्टः कारणिकैः निक्षेपस्वामी–भोः कतिसंख्याः तव नवलके रूपका आसीरन्? स प्राह–सहस्रं, ततो गणयित्वा रूपकाणां सहस्रं तेन भृतः स नवलकः, स च परिपूर्णं भृतः, केवलं यावत् मात्रं अधस्ताच्छिन्नः तावता न्यून इति उपरि सीवितुं न शक्यते। ततो ज्ञातं कारणिकैः नूनं अस्यापहृता रूपकास्ततो दापितो रूपकसहस्रं इतरो नवलकस्वामिनः। कारणिकानां औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ २० ॥ 'नाण' त्ति कोऽपि कस्यापि पार्श्वे सुवर्णपणभृतं नवलकं निक्षिप्तवान्। ततो देशांतरं, प्रभूते च कालेऽतिक्रांते निक्षेपग्राही तस्मात् नवलकात् जात्यसुवर्णमयान् पणान् गृहीत्वा हीनवर्णकसुवर्णपणान् तावत् संख्याकान् तत्र प्रक्षिप्तवान्। तथैव च स नवलकः तेन सीवितः, ततः कतिपयदिनानंतरं स नवलकस्वामी देशांतरादागतः,

स्वं च नवलकं तस्य पार्श्वे याचितवान्, सोऽपि तं समर्पयामास, परिभावितं तेन मुद्रादिकं, तथैव दृष्टं, ततो मुद्रां स्फोटयित्वा यावत्
पणान् परिभावयति तावत् हीनवर्णकसुवर्णमयान् पश्यति, ततो बभूव राजकुले व्यवहारः, पृष्टः कारणिकैः—कः कालः स आसीत् ?,
यत्र त्वया नवलको मुक्त इति। नवलकस्वामी प्राह—अमुक इति, ततः कारणिकैः उक्तं—स चिरंतनकालोऽधुनातनकालकृताश्च दृश्यंतेऽमी
पणाः, ततो मिथ्याभाषी नूनं एष निक्षेपग्राही इति दंडितो, दापितश्च इतरस्य तावतः पणान् इति । कारणिकानां औत्पत्तिकी बुद्धिः
॥ २१ ॥ 'भिक्खु'त्ति भिक्षूदाहरणं, तद्भावना—कोऽपि कस्यापि भिक्षोः पार्श्वे सुवर्णसहस्रं निक्षिप्तवान्, कालांतरे च याचते, स
च भिक्षुर्न प्रयच्छति, केवलं अद्य कल्ये वाददामि इति प्रतारयति । ततः तेन द्यूतकारा अवलगिताः, तैः प्रतिपन्नं—निश्चितं तव दाप-
यिष्यामः, ततो द्यूतकारा रक्तपटवेषेण सुवर्णखुट्टिकां गृहीत्वा भिक्षुसकाशं गता वदंति च-वयं चैत्यवंदनाय देशांतरं यियासवो यूयं
च परमसत्यतापात्रं अत एव सुवर्णखोटिका युष्मत्पार्श्वे स्थास्यंति, एतावति च अवसरे पूर्वसंकेतितः स पुरुषः आगतो, याचते स्म च—
भिक्षो! समर्पय मदीयां स्थापनिकां इति । ततो भिक्षुणा अभिनवमुच्यमानसुवर्णखुट्टिकालंपटतया समर्पिता तस्य स्थापनिका
तस्मै मा एतासामहमनाभागी जायेयेति बुद्ध्या, तेऽपि च द्यूतकाराः किमपि मिषांतरं कृत्वा स्वसुवर्णखुट्टिकां गृहीत्वा गताः । द्यूत-
काराणां औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ २२ ॥ 'चेडग निहाणे'त्ति चेटका-बालका निधानं-प्रतीतं, तत् दृष्टान्तभावना—द्वौ पुरुषौ परस्परं प्रति-
पन्नसखिभावौ, अन्यदा कचित् प्रदेशे ताभ्यां निधानं उपलेभे । तत एको मायावी ब्रूते श्वस्तनदिवसे शुभे नक्षत्रे गृहीष्यामो, द्वितीयेन च
सरलमनस्कतया तथैव प्रतिपन्नं, ततः तेन मायाविना तस्मिन् प्रदेशे रात्रौ आगत्य निधानं हृत्वा तत्र अंगारकाः प्रक्षिप्ताः । ततो द्वितीय-
दिने तौ द्वौ अपि सह भूत्वा गतौ, दृष्टवंता तत्र अंगारकान्, ततो मायावी मायया स्वोरस्ताडमाक्रंदितुं प्रावर्त्तत, वदति च हा हीनपुण्या

वयं दैवेन चक्षुषी दत्वाऽस्माकं स..त्पादिते यत् निधानमुपदिश्य अंगारकाः दर्शिताः, पुनः पुनश्च द्वितीयस्य मुखं अवलोकते, ततो द्वितीयेन जज्ञे–नूनमनेन हृतं निधानमिति, ततः तेनापि आकारसंवरणं कृत्वा तस्यानुशासनार्थं ऊचे–मा वयस्य ! खेदं कार्षीः न खलु खेदं विधान-प्रत्यागमनहेतुः, ततो गतौ द्वौ अपि स्वं स्वं गृहं, ततो द्वितीयेन तस्य मायाविनो लेप्यमयी सजीवा इव प्रतिमाकारि, द्वौ च गृहीतौ मर्कटकौ, प्रतिमायाश्च उत्संगे हस्ते शिरसि स्कंधे च अन्यत्र च यथायोगं तयोर्मर्कटकयोर्योग्यं भक्ष्यं मुक्तवान्, तौ च मर्कटकौ क्षुधापीडितौ तत्र आगत्य प्रतिमाया उत्संगादौ भक्ष्यं भक्षितवंतौ, एवं च प्रतिदिनं करणे तयोः तादृश्यैव शैली समजनि, ततोऽन्यदा किं अपि पर्वाधिकृत्य मायाविनो द्वौ अपि पुत्रौ भोजनाय निमंत्रितौ, समागतौ च भोजनवेलायां तद्गृहे, भोजितौ च तौ तेन महागौरवेण, भोजनानंतरं च तौ महता सुखेन अन्यत्र संगोपितौ, ततः स्तोकदिनावसाने मायावी स्वपुत्रसाराकरणाय तद्गृहमागतः, ततो द्वितीयः तं प्रति ब्रूते–मित्र ! तौ तव पुत्रौ मर्कटौ अभूतां, ततः सखेदं विस्मितचेता गृहमध्यं प्राविशत्, ततो लेप्यमयीं प्रतिमां उत्सार्य्य तत् स्थाने समुपवेशितः, मुक्तौ स्वस्थानात् मर्कटौ, तौ च किलकिलायमानौ तस्य उत्संगे शिरसि स्कंधे हस्ते च आगत्य विलग्नौ, ततो मित्रं अवादीत्–भो ! वयस्य ! तौ एतौ तव पुत्रौ, तथा च पश्य तव स्नेहं आत्मीयं दर्शयतः, स मायावी प्राह–वयस्य ! किं मानुषौ अकस्मात् मर्कटौ भवतः ? वयस्य आह–भवतः कर्म्मप्रातिकूल्यवशात्, तथा हि–किं सुवर्णं अंगारी भवति ? परमावयोः कर्म्मप्रातिकूल्यात् एतदपि जातं, तथा पुत्रौ अपि तव मर्कटौ अभूतां इति, ततो मायावी चिंतयामास–नूनं अहं ज्ञातोऽनेन, ततो यदि उच्चैः शब्दं करिष्ये ततोऽहं राजग्राह्यो भविष्यामि, पुत्रौ च अन्यथा मे न भवतस्ततः तेन सर्वं यथावस्थितं तस्मै निवेदितं, दत्तश्च भागः, इतरेण च समर्पितौ पुत्रौ । तस्य औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ २२ ॥ 'सिखु'त्ति शिक्षा धनुर्वेदः, तदुदाहरणभावना–कोऽपि पुमान् अतीव धनुर्वेद–

कुशलः, स परिभ्रमन् एकत्र ईश्वरपुत्रान् शिक्षयितुं प्रावर्त्तत, तेभ्यश्च ईश्वरपुत्रेभ्यः प्रभूतं द्रव्यं प्राप्तवान्, ततः पित्रादयस्तेषां चिंतयामासुः, प्रभूतं एतस्मै कुमारा दत्तवंतः, ततो यदासौ यास्यति तदा एनं मारयित्वा सर्वं गृहीष्यामः, एतच्च कथमपि तेन ज्ञातं, ततः स्वबंधूनां ग्रामांतरवासिनां कथं अपि ज्ञापितं भणितं च-यथाहं अमुकस्यां रात्रौ नद्यां गोमयपिंडान् प्रक्षेप्स्यामि भवद्भिः ते ग्राह्या इति, ततस्तैः तथैव प्रतिपन्नं, ततो द्रव्येण संवलिता गोमयपिंडास्तेन कृताः, आतपे च शोषिताः, तत ईश्वरपुत्रानिति उवाच-यथा एषोऽस्माकं विधिर्विवक्षिततिथिपर्वणि स्नानमंत्रपुरस्सरं गोमयपिंडा नद्यां प्रक्षिप्यंते इति, तैः अपि यथा गुरवो व्याचक्षते तथा इति प्रतिपन्नं, ततो विवक्षिततिथिरात्रौ तैः ईश्वरपुत्रैः समं स्नानमंत्रपुरस्सरं ते सर्वेऽपि गोमयपिंडा नद्यां प्रक्षिप्ताः, ततः समागतो गृहं, तेऽपि गोमयपिंडा नीता बंधुभिः स्वग्रामे, ततः कतिपयदिनातिक्रमे तान् ईश्वरपुत्रान् तेषां च पित्रादीन् प्रत्येकं मुत्कलय्यात्मानं च वस्त्रमात्रपरिग्रहोपेतं दर्शयन् जनसमक्षं स्वग्रामं जगाम । पित्रादिभिश्च परिभावितो न अस्य पार्श्वे किं अपि अस्ति इति न मारितः । तस्य औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ २४ ॥ 'अत्थसत्थे'त्ति, अर्थशास्त्रे-अर्थविषयं नीतिशास्त्रं, तत् दृष्टान्तभावना-कोऽपि वणिक्, तस्य द्वे पत्न्यौ, एकस्याः पुत्रो अपरा वंध्या, परं सापि तं पुत्रं सम्यक् पालयति, ततः स पुत्रो विशेषं नावबुध्यते-यथा-इयं मे जननी न इयं इति, सोऽपि वणिक् सभार्यापुत्रो देशांतरं अगमत्, यत्र सुमतिस्वामिनस्तीर्थकृतो जन्मभूमिः, तत्र च गतमात्र एव दिवं गतः, सपत्न्योश्च परस्परं कलहोऽभूत् । एका ब्रूते-मम एष पुत्रः ततः अहं गृहस्वामिनी, द्वितीया ब्रूते-ऽहं इति, ततो राजकुले व्यवहारो जातः, तथापि न निर्व्वलति, एतच्च भगवति तीर्थंकरे सुमतिस्वामिनि गर्भे स्थिते तत् जनन्या मंगलादेव्या जज्ञे, तत आकारिते द्वे अपि ते सपत्न्यौ, ततो देव्या प्रत्यपादि कतिपयदिनानंतरं मे पुत्रो भविष्यति ?, स च वृद्धिं अधिरूढोऽस्य अशोकपादपस्य अधास्तात् उपविष्टो युष्माकं व्यवहारं छेत्स्यति,

तत एतावंतं कालं यावत् अ शेषेण खादतां पिबतां इति, ततो न यस्याः पुत्रः साऽचिंतयत्—लब्धः तावत् एतावान् कालः, पश्चात् किं अपि यद्भविष्यति तन्न जानीमः । ततो हृष्टवदनया प्रतिपन्नं, ततो देव्या जज्ञे—न एषा पुत्रस्य माता इति निर्भर्त्सिता, द्वितीया च गृहस्वामिनी कृता देव्या औत्पत्तिकी बुद्धिः ।। २५ ।। 'इच्छाय महे'त्ति काचित् स्त्री, तस्या भर्त्ता पंचत्वमधिगतः, सा च वृद्धिप्रयुक्तं द्रव्यं लोकेभ्यो न लभते, ततः पतिमित्रं भणितवती—मम दापय लोकेभ्यो धनं इति, ततस्तेन उक्तं—यदि मम भागं प्रयच्छसि, तयोक्तं—यदिच्छसि तत् मह्यं दद्यादिति, ततः तेन लोकेभ्यः सर्वं द्रव्यं उद्ग्राहितं, तस्यै स्तोकं प्रयच्छति । ततो जातो राजकुले व्यवहारः, कारणिकैः यदुद्ग्राहितं द्रव्यं तत् सर्वं आनायितं, कृतौ द्वौ भागौ, एको महान् द्वितीयोऽल्प इति । ततः पृष्टः कारणिकैः स पुरुषः—किं भागं त्वं इच्छसि ?, स प्राह—महांतं इति, ततः कारणिकैः अक्षरार्थो विचारितो यदिच्छसि तत् मह्यं दद्यादिति, त्वं च इच्छसि महांतं भागं ततो महान् भाग एतस्याः, द्वितीयस्तु तव इति । कारणिकानां औत्पत्तिकी बुद्धिः ।। २६ ।। 'सयसहस्से'त्ति कोऽपि परिव्राजकः, तस्य रूप्यमयं महाप्रमाणं भाजनं खोरयसंज्ञं, स च यत् एकवारं शृणोति तत्सर्वं तथैव अवधारयति । स निजप्रज्ञा-गर्वं उद्वहन् सर्वसमक्षं प्रतिज्ञां कृतवान्—यो नाम मां अपूर्वं श्रावयति तस्मै ददामि इदं निजभाजनं इति, न च कोऽपि अपूर्वं श्रावयितुं शक्तो, स हि यत् किं अपि शृणोति तत्सर्वं अस्खलितं तथैव अनुवदति, वदति च अग्रेऽपि इदं मया श्रुतं, कथमन्यथाऽहमस्खलितं भणामि इति । एतत्सर्वत्र ख्यातिं अगमत्ततः केनापि सिद्धपुत्रकेण ज्ञाततत्प्रतिज्ञेन तं प्रति उक्तं—अहमपूर्वं श्रावयिष्यामि ततो मिलितो भूयान् लोको राजसमक्षं व्यवहारो बभूव, ततः सिद्धपुत्रोऽपाठीत् । "तुज्झ पिया मह पिउणो धारेइ अणूणगं सयसहस्सं । जइ सुयपुव्वं दिज्जउ अह न सुयं खोरयं देसु ।। १ ।।" जितः परिव्राजकः । सिद्धपुत्रस्य औत्पत्तिकी बुद्धिः ।। २७ ।। तदेवं उक्ता बुद्धिः औत्पत्तिकी ।।

सम्प्रति वैनयिक्या लक्षणं प्रतिपादयति—

भरनित्थरणसमत्था तिवग्गसुत्तत्थगहिअपेआला ॥
उभओ लोगफलवई विणयसमुत्था हवइ बुद्धी ॥ ६ ॥
निमित्ते[1] अत्थसत्थे[2] य लेहे[3] गणिए[4] अ कूवे[5] अस्से[6] य ॥
गद्दभ[7] लक्खणं[8] गंठी[9] अगए[10] रहिए[11] य गणिया[12] य ॥ ७ ॥
सीआ साढी दीहं च तणं अवसव्वयं च कुंचस्स[13] ॥
निव्वोदए[14] अ गोणे घोडगपडणं च रुक्खाओ[15] ॥ ८ ॥

भर इत्यादि, इहातिगुरु कार्यं दुर्निर्वहत्वात् भर इव भरः तत् विस्तरणे समर्था भरनिस्तरणसमर्थाः त्रयो वर्गाः त्रिवर्गाः लोकरूढ्या धर्म्मार्थकामाः तत् अर्जनोपायप्रतिपादकं यत्सूत्रं यश्च तत् अर्थः तौ त्रिवर्गसूत्रार्थौ तयोः गृहीतं 'पेयालं' प्रमाणं सारो वा यया सा तथा-विधा, अत्राह—ननु अश्रुतनिश्रिता बुद्धयो वक्तुं अभिप्रेताः, ततो यदि अस्याः त्रिवर्गसूत्रार्थगृहीतसारत्वं ततोऽश्रुतनिश्रितत्वं न उपपद्यते, न हि श्रुताभ्यासमंतरेण त्रिवर्गसूत्रार्थगृहीतसारत्वं संभवति, अत्र उच्यते; इह प्रायो वृत्तिं आश्रित्य अश्रुतनिश्रितत्वं उक्तं, ततः स्वल्प-श्रुतभावेऽपि न कश्चित् दोषः । तथा उभयलोकफलवतीं ऐहिके आमुष्मिके च लोके फलदायिनी विनयसमुत्था भवति बुद्धिः ॥ १ ॥ संप्रति अस्या एव विनेयजनानुग्रहार्थं उदाहरणैः स्वरूपं दर्शयति—'निमित्ते' गाहा, 'सीया' गाहा, गाथाद्वयार्थः कथानकेभ्योऽवसेयः, तानि च ग्रंथगौरवभयात् संक्षेपेण उच्यंते—तत्र 'निमित्ते इति, कचित् पुरे कोऽपि सिद्धपुत्रकः, तस्य द्वौ शिष्यौ निमित्तशास्त्रं अधीतवंतौ, एको

बहुमानपुरस्सरं गुरोः विनयपरायणो यत् किं अपि गुरुः उपदिशति तत्सर्वं तथा इति प्रतिपद्य स्वचेतसि निरंतरं विमृशति। विमृशतश्च यत्र क्वापि संदेह उपजायते तत्र भूयोऽपि विनयेन गुरुपादमूलं आगत्य पृच्छति, एवं निरंतरं विमर्शपूर्वं शास्त्रार्थं तस्य चिंतयतः प्रज्ञापकर्षं उपजगाम, द्वितीयस्तु एतद्गुणविकलः, तौ च अन्यदा गुरुर्निर्देशात् कचित् प्रत्यासन्ने ग्रामे गंतुं प्रवृत्तौ, पथि च कानिचित् महांति पदानि तौ अदर्शताम्, तत्र विमृश्यकारिणा पृष्टं—भोः! कस्य अमूनि पदानि? तेन उक्तं—किं अत्र पृष्टव्यं हस्तिनोऽमूनि पदानि? ततो विमृश्यकारी प्राह—नैवं भाषिष्ठाः, हस्तिन्या अमूनि पदानि, सा च हस्तिनी वामेन चक्षुषा काणा, तां अधिरूढा गच्छति काचित् राज्ञी, सा च सभर्तृका गुर्व्विणी च प्रजने च कल्या, अद्य श्वो वा प्रसविष्यते। पुनश्च तस्या भविष्यति, तत एवं उक्ते सोऽविमृश्यकारी ब्रूते—कथं एतदवसीयते?, विमृश्यकारी प्राह—'ज्ञानं प्रत्ययसारं' इति अग्रे प्रत्ययतो व्यक्तं भविष्यति, ततः प्राप्तौ तौ विवक्षितं ग्रामं, दृष्टा चावासिता तस्य ग्रामस्य बहिःप्रदेशे महासरस्तटे राज्ञी, परिभाविता च हस्तिनी वामेन च चक्षुषा काणा। अत्रांतरे च काचित् दासचेडी महत्तमं प्रत्याह—वर्द्धाप्यसे राज्याः पुत्रलाभेन इति, ततः शब्दितो विमृश्यकारिणा द्वितीयः—परिभावय दासचेडीवचनं इति, तेन उक्तं—परिभावितं मया सर्वं, न अन्यथा तव ज्ञानं इति, ततस्तौ हस्तपादान् प्रक्षाल्य तस्मिन् महासरस्तटे न्यग्रोधतरोः अधो विश्रामाय स्थितौ, दृष्टौ च कयाचित् शिरोन्यस्तजलभृतघटया वृद्धास्त्रिया, परिभाविता च तयोः आकृतिस्ततः चिंतयामास—नूनं एतौ विद्वांसौ, ततः पृच्छामि देशांतरं गतनिजपुत्रागमनं इति, पृष्टं तया, प्रश्नसमकालं एव च शिरसो निपत्य भूमौ घटः शतखंडशो भग्नः। ततो झटिति एव अविमृश्यकारिणा प्रोचे—गतस्ते पुत्रो घट इव व्यापत्तिं इति, विमृश्यकारी ब्रूते स्म—मा वयस्य एवं वादीः, पुत्रोऽस्या गृहे समागतो वर्त्तते, याहि मातः! वृद्धे! स्वपुत्रमुखं अवलोकय, तत एवमुक्ता सा प्रत्युज्जीवितेवाशीर्वादशतानि विमृश्यकारिणः प्रयुंजाना स्वगृहं

जगाम, दृष्टश्च उद्धूलितजंघः स्वपुत्रो गृहं आगतः, ततः प्रणता स्वपुत्रेण, सा च आशीर्वादं निजपुत्राय प्रायुंक्त, कथयामास च नैमि-
त्तिकवृत्तांतं, ततः पुत्रं आपृच्छच वस्त्रयुगलं रूपकान् च कतिपयानादाय विमृश्यकारिणः समर्पयामास। अविमृश्यकारी च खेदं
आवहन् स्वचेतसि अचिंतयत्—नूनं अहं गुरुणा न सम्यक् पाठितः, कथमन्यथाहं न जानामि ?, एष जानातीति, गुरुप्रयोजनं कृत्वा
समागतौ द्वौ गुरोः पार्श्वे, तत्र विमृश्यकारी दर्शनमात्र एव शिरो नमयित्वा कृतांजलिपुटः सबहुमानं आनंदाश्रुप्लावितलोचनो गुरोः
पादौ अंतरा शिरः प्रक्षिप्य प्रणिपपात। द्वितीयोऽपि शैलस्तंभ इव मनाग् अपि अनमितगात्रयष्टिः मात्सर्यवह्निसंपर्कतो धूमायमानो-
ऽवतिष्ठते, ततो गुरुः तं प्रत्याह—रे ! किं इति पादयोर्न पतसि ?, स प्राह—य एव सम्यक् पाठितः स एव पतिष्यति, न अहं इति, गुरुः
आह—कथं त्वं सम्यक् न पाठितः ?, ततः स प्राचीनं वृत्तांतं सकलं अचकथत्, यावदेतस्य ज्ञानं सर्वं सत्यं न मम इति, ततो गुरुणा
विमृश्यकारी पृष्टः—कथय वत्स ! कथं त्वया इदं ज्ञातं इति ?, ततः स प्राह—मया युष्मत्पादादेशेन विमर्शः कर्तुं आरब्धो—यथा एतानि
हस्तिरूपस्य पदानि सुप्रतीतानि एव, विशेषचिंतायां तु किं हस्तिन उत हस्तिन्याः ?, तत्र कायिकीं दृष्ट्वा हस्तिन्या इति निश्चितं, दक्षिणे
च पार्श्वे वृतिसमारूढवल्लीवितान आलूनविशीर्णो हस्तिनीकृतो कुदृष्टः न वामपार्श्वे ततो नूनं निश्चिक्ये—वामेन चक्षुषा काणा इति।
तथा न अन्य एवंविधपरिकरोपेतो हस्तिन्यां अधिरूढो गंतुं अर्हति, ततोऽवश्यं राजकीयं किं अपि मानुषं याति इति निश्चितं, तच्च
मानुषं कचित् प्रदेशे हस्तिन्या उत्तीर्य शरीरचिंतां कृतवान्, कायिकीं दृष्ट्वा राज्ञी इति निश्चितं, वृक्षावलग्नरक्तवस्त्रदशालेशदर्शनात्
सभर्तृका, भूमौ हस्तं निवेश्य उत्थानाकारदर्शनात् गुर्वी, दक्षिणचरणनिस्सहमोचननिवेशदर्शनात् प्रजने कल्येति। वृद्धस्त्रियाः प्रश्नानंतरं
घटनिपाते च एवं विमर्शः कृतः—यथा एष घटो यत उत्पन्नः तत्र एव मिलितः तथा पुत्रोऽपि इति, तत एवमुक्ते गुरुणा स विमृश्यकारी

चक्षुपा सानन्दमीक्षितः प्रशंसितश्च, द्वितीयं प्रत्युवाच–तव दोपा यत् न विमर्शं करोपि, न मम, वयं हि शास्त्रार्थमात्रोपदेशेऽधिकृता विमर्शे तु यूयं इति विमृश्यकारिणो वैनयिकी बुद्धिः ॥ १ ॥ 'अत्थसत्थे'त्ति, अर्थशास्त्रे कल्पको मंत्री दृष्टांतो, 'दहिकुंडगउत्थुकलावउय इति संविधानके ॥ २ ॥ 'लेहे'त्ति लिपिपरिज्ञानं ॥ ३ ॥ 'गणिए'त्ति गणितपरिज्ञानं, एते च द्वे अपि वैनयिक्यौ बुद्धी ॥ ४ ॥ 'कूवे' त्ति खातपरिज्ञानकुशलेन केनापि उक्तं–यथा एतत् दूरे जलमिति, ततः तावत् प्रमाणं खातं परं न उत्पन्नं जलं, ततस्ते खातपरिज्ञाननिष्णाताय निवेदयामासुः–न उत्पन्नं जलमिति, तस्तेन उक्तं–यथा पार्ष्णिप्रहारेण पार्श्वान्याहत, आहतानि तैः, ततः पार्ष्णिप्रहारसमकालं एव समुच्छलितं तत्र जलं, खातपरिज्ञानकुशलस्य पुंसो वैनयिकी बुद्धिः ॥ ५ ॥ 'अस्से'त्ति बहवोऽश्ववणिजो द्वारवतीं जग्मुः, तत्र सर्वे कुमाराः स्थूलान् बृहतश्च अश्वान् गृह्णंति, वासुदेवेन पुनः यो लघीयान् दुर्बलो लक्षणसंपन्नः स गृहीतः, स च कार्यनिर्वाही प्रभूताश्वावहश्च जातः। वासुदेवस्य वैनयिकी बुद्धिः ॥ ६ ॥ 'गद्दभे'त्ति कोऽपि राजा प्रथमयौवनिकां अधिरूढः तरुणिमानमेव रमणीयं सर्वकार्यक्षमं च मन्यमानः तरुणानेव निजकटके धारितवान्, वृद्धांस्तु सर्वान् अपि निपेधयामास, सोऽन्यदा कटकेन गच्छन् अपांतराले अटव्यां पतितवान्, तत्र च समस्तोऽपि जनः तृषा पीड्यते, ततः किंकर्तव्यतामूढचेता राजा केनापि उक्तो–देव! न वृद्धपुरुषशेमुषीपोतमंतरेणायमापत्समुद्रस्तरीतुं शक्यते, ततो गवेषयंतु देवपादाः क्वापि वृद्धं इति, ततो राजा सर्वस्मिन् अपि कटके पटहउद्घोषितः, तत्र च एकेन पितृभक्तेन प्रच्छन्नो निजपिता समानीतो वर्तते। ततस्तेन उक्तं मम पिता वृद्धोस्ति इति। ततो नीतो राज्ञः पार्श्वे, राजा च सगौरवं पृष्टः–कथय महापुरुष! कथं मे कटके पानीयं भविष्यति? तेन उक्तं–देव! रासभाः स्वैरं मुच्यंतां, ततो यत्र ते भुवं उजिघ्रंति तत्र पानीयं अतिप्रत्यासन्नं अवगंतव्यं, तथैव कारितं राज्ञा, समुत्पादितं पानीयं, स्वस्थीबभूव च समस्तं कटकं इति।

स्थविरस्य वैनयिकी बुद्धिः ॥ ७ ॥ 'लक्खण'त्ति पारसीकः कोऽपि अश्वस्वामी कस्यापि अश्वरक्षकस्य कालनियमनं कृत्वाऽश्वरक्षणमूल्यं द्वौ अश्वौ प्रतिपन्नवान् । सोऽपि च अश्वस्वामिनो दुहित्रा समं वर्तते, ततः सा तेन पृष्टा—कौ अश्वौ भव्यौ इति ?, तया उक्तं—अमीषां अश्वानां मध्ये यौ पाषाणभृतकुतुपानां वृक्षशिखरात् मुक्तानां अपि शब्दमाकर्ण्य नोत्रस्यतः तौ भव्यौ, तेन तथैव तौ परीक्षितौ, ततो वेतनप्रदानकाले सोऽभिधत्ते—मह्यं अमुकं अमुकं च अश्वं देहि, अश्वस्वामी प्राह—सर्वान् अपि अन्यान् अश्वान् गृहाण, किं एताभ्यां तव इति ? स न इच्छति, ततो अश्वस्वामिना स्वभार्यायै निवेदितं, भणितं च—गृहजामाता क्रियतां एष इति, अन्यथा प्रधानौ अश्वौ एष गृहीत्वा यास्यति, सा नैच्छत्, ततोऽश्वस्वामी प्राह—लक्षणयुक्तेन अश्वेन अन्येऽपि बहवोऽश्वाः संपद्यंते कुडुंबं च परिवर्द्धते, लक्षणयुक्तौ च इमौ अश्वौ, तस्मात् क्रियतां एतदिति, ततः प्रतिपन्नं तया, दत्ता तस्मै स्वदुहिता, कृतो गृहजामाता इति, अश्वस्वामिनो वैनयिकी बुद्धिः ॥ ८ ॥ 'गंठी'त्ति पाटलिपुरे नगरे मुरुंडो राजा, तत्र परराष्ट्रराजेन त्रीणि कौतुकनिमित्तं प्रेषितानि, तद्यथा—'मूढं सूत्रं समा यष्टिः अलक्षितद्वारः समुद्गको जतुना घोलितः' तानि च मुरुंडेन राज्ञा सर्वेषां अपि आत्मपुरुषाणां दर्शितानि, परं न केनापि ज्ञातानि, ततः आकारिताः पादलिप्ताचार्याः, पृष्टा राज्ञा भगवन् ! यूयं जानीत ?, सूरय उक्तवंतो—बाढं, ततः सूत्रं उष्णोदके क्षिप्तं उष्णोदकसंपर्कात् च विलीनं मदनं इति लब्धः सूत्रस्यांतः, यष्टिः अपि पानीये क्षिप्ता, ततो गुरुभागो मूलं इति ज्ञातं, समुद्गकेऽपि उष्णोदके क्षिप्ते जतु सर्वं गलितं इति द्वारं प्रकटं बभूव । ततो राजा सूरीन् प्रत्यवादीत्—भगवन् ! यूयं अपि दुर्विज्ञेयं किं अपि कौतुकं कुरुत येन तत्र प्रेषयामि । ततः सूरिभिः तुंबं एकस्मिन् प्रदेशे खंडं एकं अपहाय रत्नानां भृतं, ततस्तथा तत् खंडं सीवितं यथा न केनापि लक्ष्यते, भणिताश्च परराष्ट्रराजकीयाः पुरुषाः—एतत् अभंक्त्वा इतो रत्नानि गृहीतव्यानि, न शक्तं तैः एवं कर्तुम् ।

---

१ चर्ममयभाजनमित्यर्थः भाषायां 'कुल्लु' इत्युच्यते ।

पादलिप्तसूरीणां वैनयिकी बुद्धिः ॥ ९ ॥ 'अगए'त्ति क्वचित् पुरे कोऽपि राजा, स च परचक्रेण सर्वतो रोद्धुं आरब्धः, ततस्तेन राज्ञा सर्वाणि अपि पानीयानि विनाशयितव्यानि इति विषकरः सर्वत्र पातितस्ततः कोऽपि कियत् विषं आनयति, तत्र एको वैद्यो यवमात्रं विषं आनीय राज्ञः समर्पितवान्–देव ! गृहाण विषं इति, राजा च स्तोकं विषं दृष्ट्वा चुकोप तस्मै, वैद्यो विज्ञपयामास–देव ! सहस्रवेधि इदं विषम्, तस्मात् अप्रसादं मा कार्षीः, राजाऽवादीत्–कथं एतदवसेयम् ?, स उवाच–देव ! आनाय्यतां कोऽपि जीर्णो हस्ती, आनायितो राज्ञा हस्ती, ततो वैद्येन तस्य हस्तिनः पुच्छदेशे वालं एकं उत्पाट्य तदीये रंध्रे विषं संचारितं, विषं च प्रसरमाददानं यत्र यत्र प्रसरति तत्तत्सर्वं विपन्नं कुर्वन् दृश्यते, वैद्यश्च राजानं अभिधत्ते–देव ! सर्वोऽपि एष हस्ती विषमयो जातः, योऽपि एनं भक्षयति सोऽपि विषमयो भवति, एवमेतत् विषं सहस्रवेधि ततो राजा हस्तिहानिदूनचेताः तं प्रति उवाच–अस्ति कोऽपि हस्तिनः प्रतीकारविधिः ?, स अवादीत्–बाढं अस्ति, ततस्तस्मिन् एव वालरंध्रेऽगदः प्रदत्तः, ततः सर्वोऽपि झटिति एव प्रशांतो विषविकारः, प्रगुणीबभूव हस्ती, तुतोष राजा तस्मै वैद्याय । वैद्यस्य वैनयिकी बुद्धिः ॥ १० ॥ 'रहिए य गणिया' इति स्थूलभद्रकथानके रथिकस्य यत्सहकारफललुंबित्रोटनं यत् च गणिकायाः सर्षपराशेः उपरि नर्त्तनं ते द्वे अपि वैनयिकी बुद्धिफले ॥ ११ ॥ 'सीआ' इत्यादि, क्वचित् पुरे कोऽपि राजा, तत्पुत्राः केनापि आचार्येण शिक्षयितुं आरब्धाः, ते च तस्मै आचार्याय प्रभूतं द्रव्यं दत्तवंतः, राजा च द्रव्यलोभी तं मारयितुं इच्छति, तैश्च पुत्रैः कथंचिदेतत् ज्ञात्वा चिंतितं–अस्माकं एष विद्यादायी परमार्थपिता, ततः कथं अपि एनं आपदो निस्तारयामः, ततो यदा भोजनाय समागतः स्नानशाटिकां याचते तदा ते कुमाराः शुष्कां अपि शाटीं वदंति–"अहो सीया साडी" द्वारसंमुखं च तृणं कृत्वा वदंति–अहो दीर्घं तृणं, पूर्वं च क्रौंचकेन सदैव प्रदक्षिणीक्रियते, संप्रति तु स तस्यापसव्यं भ्रमितः, तत

आचार्येण ज्ञातं-सर्वं मम विरक्तं, केवलं एते कुमारा मम भक्तिवशात् ज्ञापयंति, ततो यथा न लक्ष्यते तथा पलायामास, कुमाराणां आचार्यस्य च वैनयिकी बुद्धिः ॥ १२ ॥ 'निव्वोदएणं'ति कापि वणिग्भार्या, चिरं प्रोषिते भर्तरि दास्या निजसद्भावं निवेदयति-आनय कमपि पुरुषं इति, ततस्तया समानीतो, नखप्रक्षालनादिकं च सर्वं तस्य कारितं, रात्रौ च तौ द्वौ अपि संभोगाय द्वितीयभूमिकां आरूढौ, मेघश्च वृष्टिं कर्तुं आरब्धवान्, ततस्तेन तृषापीडितेन पुरुषेण नीव्रोदकं पीतं, तदपि च त्वग्-विषभुजंगसंस्पृष्टं इति तत्पानेन पंचत्वं[1] उपगतः, ततस्तया वणिग्भार्यया निशापश्चिमयाम एव शून्यदेवकुलिकायां मोचितः, प्रभाते दृष्टो दंडपाशिकैः, परिभावितं सद्यः कृतं तस्य नखादिकर्म्म, ततः पृष्टाः सर्वेऽपि नापिताः-केन इदं भो कृतं अस्य नखादिकं कर्म इति ?, तत एकेन नापितेन उक्तं-मया कृतं अमुकाभिधवणिग्भार्यादासचेट्यादेशेन, ततः सा पृष्टा-सापि च पूर्वं न कथितवती, ततो हन्यमाना यथावस्थितं कथयामास दंडपाशिकानां वैनयिकी बुद्धिः ॥२॥ 'गोणे घोडगपडणं च रुक्खाओ' कोऽपि अकृतपुण्यो यद्यत्करोति तत्तत्सर्वं आपदे प्रभवति, ततोऽन्यदा मित्रबलीवर्दौ याचित्वा हलं वाहयति, अन्यदा च विकालवेलायां तौ आनीय वाटके क्षिप्तौ, स च वयस्यो भोजनं कुर्वन् आस्ते, ततः स तस्य पार्श्वे न गतः केवलं तेनापि तौ दृष्ट्यावलोकितौ इति स स्वगृहं गतः। तौ च बलीवर्दौ वाटकात् निःसृत्य अन्यत्र गतौ, ततोऽपहृतौ तस्करैः, स च बलीवर्दस्वामीतं अकृतपुण्यं वराकं बलीवर्दौ याचते। स च दातुं न शक्नोति, ततो नीयते राजकुलं, पथि गच्छतः तस्य कोऽपि अश्वारूढः पुरुषः संमुखं आगच्छति, स च अश्वेन पातितोऽश्वश्च पलायमानो वर्तते, ततः तेन उक्तं-आहन्यतां एष दंडेन अश्व इति, तेन च अकृतपुण्येन सोऽश्वो मर्मण्याहतः, ततो मृत्युं उपागमत्, ततस्तेनापि पुरुषेण वराको गृहीतस्ते च यावत् नगरमायाताः तावत्करणमुत्थितं इति कृत्वा ते नगरबहिःप्रदेशे एवोषिताः, तत्र च बहवो नटाः सुप्ता वर्तन्ते, स

१ पंच इति भाषायाम्।

चाकृतपुण्योऽचिंतयद्यथा नास्मात् आपत्समुद्रात् मे निस्तारोऽस्तीति वृक्षे गलपाशेनात्मानं बद्ध्वा म्रियेयेति तेन तथैव कर्तुमारब्धं, परं जीर्णदंडिवस्त्रखंडेन गले पाशो बद्धः, तच्च दंडिवस्त्रखंडं अतिदुर्बलमिति त्रुटितं, ततः स वराकोऽधस्तात्सुप्तनटमहत्तरस्योपरि पपात, सोऽपि च नटमहत्तरः तद्भाराक्रांतगलप्रदेशः पंचत्वमगमत्, ततो नटैरपि स प्रतिगृहीतः, गताः प्रातः सर्वेऽपि राजकुले, कथितः सर्वैः अपि स्वस्वव्यतिकरः, ततः कुमारामात्येन स वराकः पृष्टः, सोऽपि दीनवदनोऽवादीत्–देव ! यत् एते ब्रुवते, तत् सर्वं सत्यमिति ततस्तस्य उपरि संजाततकृपः कुमारामात्योऽवादीत्–एष बलीवर्दौ तुभ्यं दास्यति, तव पुनः अक्षिणी उत्पाटयिष्यति, एष हि तदैवानृणो बभूव यदा त्वया चक्षुर्भ्यामवलोकितौ बलिवर्दौ, यदि पुनः त्वया चक्षुर्भ्यां नावलोकितौ स्यातां तदा एषोऽपि स्वगृहं न यायात्, नहि यो यस्मै यस्य समर्पणायागतः, स तस्यानिवेदने समर्पणीयं एवमेव मुक्त्वा स्वगृहं याति, तथा द्वितीयोऽश्वस्वामी शब्दितः, एषोऽश्वं तुभ्यं दास्यतिं, तव पुनः एष जिह्वां छेत्स्यति, यदा हि त्वदीय जिह्वया उक्तं–एनं अश्वं दंडेन ताडय इति, तदाऽनेन दंडेन आहतोऽश्वो, न अन्यदा, तत एष दंडेन आहंता दंड्यते तव पुनः न जिह्वा इति कोऽयं नीतिपथः ?, तथा नटान् प्रत्याह–अस्य पार्श्वे न किमपि अस्ति ततः किं दापयामः ?, एतावत् पुनः कारयामः–एषोऽधस्तात् स्थास्यति, त्वदीयः पुनः कोऽपि प्रधानो यथा एष वृक्षे गलपाशेन आत्मानं बद्ध्वा मुक्तवान् तथात्मानं मुंचतु इति, ततः सर्वैः अपि स मुक्तः । कुमारामात्यस्य वैनयिकी बुद्धिः ॥ २ ॥ उक्ता वैनयिकी बुद्धिः ॥ ८ ॥ कर्म्मजाया बुद्धेः लक्षणं आह–

उवओगदिट्ठसारा कम्मपसंगपरिघोलणविसाला ॥
साहुक्कारफलवई कम्मसमुत्था हवइ बुद्धि ॥ ८ ॥

हेरण्णिए करिसए कोलिय डोवे यँ मुत्ति घयँ पवएँ ॥
तुण्णाएँ वड्ढई यँ पूयइँ घडँ चित्तकारे य ॥ ९ ॥

'उवओग' इत्यादि उपयोजनं उपयोगो–विवक्षितकर्म्मणि मनसोऽभिनिवेशः सारः–तस्य एव विवक्षितकर्म्मणः परमार्थः, उपयोगेन दृष्टः सारो यया सा उपयोगदृष्टसारा, अभिनिवेशोपलब्धकर्म्मपरमार्थ इत्यर्थः, तथा कर्म्मणि प्रसंगोऽभ्यासः परिघोलनं– विचारस्ताभ्यां विशाला–विस्तारं उपगता कर्म्मप्रसंगपरिघोलनविशाला, तथा साधुकृतं–सुष्ठुकृतं इति विचक्षणः (विद्वद्भिः) प्रशंसा साधुकारः तेन युक्तं फलं साधुकारफलं तत्–वती, साधुकारपुरस्सरं [illegible] फलं [illegible], सा तथा कर्म्म समुत्था [illegible] बुद्धिः ॥ ९ ॥ अस्या अपि विनेयजनानुग्रहार्थं उदाहरणैः स्वरूपं दर्शयति–'हेरण्णिए' इत्यादौ [illegible] हैरण्यकस्य कर्म्मजा बुद्धिः, एवं सर्वत्रापि योजना कार्या, हैरण्यको हि [illegible] वस्थितं परीक्ष्यते ॥ १ ॥ 'करिसग'त्ति अत्र उदाहरणं, कोऽपि तस्करो रात्रौ [illegible] तस्मिन् एव गृहे समागत्य अनेकशः प्रशंसा आकर्णयति, तत्र एकः कर्षको [illegible] अभ्यस्तं कर्म्म स तत् प्रकर्षेण करोति, न अत्र विस्मयः, ततः स तस्करः [illegible] कोपेन, ततः प्रत्यावृत् कमपि पुरुषं–कोऽयं [illegible] [illegible] तस्मिन् कर्म्मणि [illegible]

जीवच्छशरीरं, प्राणादिमत्त्वा[illegible] दृष्टांतः, तथा च उक्त– [illegible] दृष्टांतस्य उपादानं, तत्र साध्यस्य उपमाभूतो दृष्टांतः, तथा कालकृतो देहावस्थाविशेषो वयस्तत् विपाके परिणामः–पुष्टता हेतुदृष्टांतैः साध्यं–अर्थं साधयति इति अनुमानहेतुदृष्टांतसाधिका, तथा हितं–अभ्युदयो निःश्रेयसं–मोक्षः ताभ्यां फलवती. [तौ] द्वे अपि तस्याः फले इत्यर्थः, बुद्धिः पारि- यस्याः सा वयोविपाकपरिणामा, तथा

भणसि तर्हि सर्वान् अपि अधोमुखान् पातयामि यद्वा ऊर्ध्वमुखान् अथवा पार्श्वस्थितानिति, ततः सोऽधिकतरं विस्मितचेताः प्राह—पातय सर्वानपि अधोमुखानिति, विस्तारितो भूमौ पटः, पातिताः सर्वेऽपि अधोमुखाः मुद्गाः, जातो महान् विस्मयः चौरस्य, प्रशंसितं भूयो-भूयः तस्य कौशलं अहो विज्ञानमिति, वदति चौरो—यदि न अधोमुखाः पातिता अभविष्यन् ततो नियमात् त्वां अहं अमारयिष्यमिति। कर्षकस्य चौरस्य च कर्म्मजा बुद्धिः ॥ २ ॥ 'कोलिय'त्ति कौलिकः—तंतुवायः, स मुष्ट्या तंतूनादाय जानाति—एतावद्भिः कंडकैः पटो भविष्यति ॥ ३ ॥ 'डोवे'त्ति दर्व्वी वर्द्धकिः जानाति—एतावत् अत्र मास्यति इति ॥ ४ ॥ 'मुत्ति'त्ति मणिकारो मौक्तिकं आकाशे प्रक्षिप्य शूकरवालं तथा धारयति यथा पततो मौक्तिकस्य रंध्रे स प्रविशति इति ॥ ५ ॥ 'घय'त्ति घृतविक्रयी स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तो यदि रोचते तर्हि शकटे स्थितोऽधस्तात् कुंडिकानालेऽपि घृतं प्रक्षिपति ॥ ६ ॥ 'पवय'त्ति प्लवकः, स च आकाशस्थितानि करणानि करोति ॥ ७ ॥ 'तुण्णाए'त्ति सीवनकर्म्मकर्त्ता, स च स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तः तथा सीवति यथा प्रायः केनापि न लक्ष्यते ॥ ८ ॥ 'वड्ढइ'ति वर्द्धकिः, स च स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तो अमित्वापि देवकुलरथादीनां प्रमाणं जानाति ॥ ९ ॥ 'पूयइ'ति आपूपिकः, स च अमित्वापि आपूपानां दलस्य मानं जानाति ॥ १० ॥ 'घड'त्ति घटकारः स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तः प्रथमत एव प्रमाणयुक्तां मृदं गृह्णाति ॥ ११ ॥ 'चित्तकरे'त्ति चित्रकारः, स च रूपकभूमिकां अमित्वापि रूपकप्रमाणं जानाति तावन्मात्रं वा वर्णं कुंचिकया गृह्णाति यावन्मात्रेण प्रयोजनं इति ॥ १२ ॥ उक्ता कर्म्मजा बुद्धिः। संप्रति पारिणामिक्या लक्षणं आह—

अणुमाणहेउदिट्ठंतसाहिआ वयविवागपरिणामा ॥
हिअनिस्सेअसफलवई बुद्धी परिणामिआ नाम ॥ ११ ॥

अभए सिद्धि कुमारे देवी उदिओदए हवइ राया ॥
साहू य नंदिसेणे धणदत्ते सावगं अमच्चे ॥ १२ ॥
खमएं अमच्चे पुत्ते चाणके चेव थूलभद्दे अ ॥
नासिकसुंदरिनंदे वइरे परिणामबुद्धीए ॥ १३ ॥
चलणाहणं आमंडे मणीअ सप्पे य खग्गि थूभिंदे ॥
परिणामियबुद्धीए एवमाई उदाहरणा ॥ १४ ॥

से त्तं असुअनिस्सियं ।

'अणुमाण' इत्यादि, लिंगात् लिंगिनि ज्ञानं अनुमानं, तच्च स्वार्थं अनुमानं इह द्रष्टव्यं, अन्यथा हेतुग्रहणस्य नैरर्थक्यापत्तेः, अनुमानप्रतिपादकं वचो हेतुः, परार्थानुमानं इत्यर्थः, अथवा ज्ञापकं अनुमानं, कारकं हेतुः, दृष्टांतः प्रतीतः, आह—अनुमानग्रहणेन दृष्टान्तस्य गतत्वादलमस्य उपन्यासेन, उच्यते, अनुमानस्य क्वचित् दृष्टांतमंतरेण अन्यथानुपपत्तिग्राहकप्रमाणबलेन प्रवृत्तेः, यथा सात्मकं यावत् जीवच्छरीरं, प्राणादिमत्त्वाऽन्यथानुपपत्तेः, न च दृष्टांतोऽनुमानांगं, यत उक्तं "अन्यथानुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किं ?" ततः पृथक् दृष्टांतस्य उपादानं, तत्र साध्यस्य उपमाभूतो दृष्टांतः, त·
ाध्यस्य उपमानभूतः, स दृष्टांत इति कथ्यते ।" अनुमान-
हेतुदृष्टांतैः साध्यं—अर्थं ......
तो देहावस्थाविशेषो वयस्तन् विपाके परिणामः—पुष्टता
यस्याः सा वयो·
फलवती, [नि] द्वे अपि तस्याः फले इत्यर्थः, बुद्धिः पारि-

भणसि तर्हि सर्वान् अपि अधोमुखान् पातयामि यद्वा ऊर्ध्वमुखान् अथवा पार्श्वस्थितानिति, ततः सोऽधिकतरं विस्मितचेताः प्राह—पातय सर्वानपि अधोमुखानिति, विस्तारितो भूमौ पटः, पातिताः सर्वेऽपि अधोमुखाः मुद्गाः, जातो महान् विस्मयः चौरस्य, प्रशंसितं भूयो-भूयः तस्य कौशलं अहो विज्ञानमिति, वदति चौरो—यदि न अधोमुखाः पातिता अभविष्यन् ततो नियमात् त्वां अहं अमारयिष्यमिति। कर्षकस्य चौरस्य च कर्म्मजा बुद्धिः ॥ २ ॥ 'कोलिय'त्ति कौलिकः—तंतुवायः, स मुष्ट्या तंतूनादाय जानाति—एतावद्भिः कंडकैः पटो भविष्यति ॥ ३ ॥ 'डोवे'त्ति दर्व्वी वर्द्धकिः जानाति—एतावत् अत्र मास्यति इति ॥ ४ ॥ 'मुत्ति'त्ति मणिकारो मौक्तिकं आकाशे प्रक्षिप्य शूकरवालं तथा धारयति यथा पततो मौक्तिकस्य रंध्रे स प्रविशति इति ॥ ५ ॥ 'घय'त्ति घृतविक्रयी स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तो यदि रोचते तर्हि शकटे स्थितोऽधस्तात् कुंडिकानालेऽपि घृतं प्रक्षिपति ॥ ६ ॥ 'पवय'त्ति प्लवकः, स च आकाशस्थितानि करणानि करोति ॥ ७ ॥ 'तुण्णाए'त्ति सीवनकर्म्मकर्त्ता, स च स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तः तथा सीवति यथा प्रायः केनापि न लक्ष्यते ॥ ८ ॥ 'वड्ढइ'ति वर्द्धकिः, स च स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तो अमित्वापि देवकुलरथादीनां प्रमाणं जानाति ॥ ९ ॥ 'पूयइ'ति आपूपिकः, स च अमित्वापि आपूपानां दलस्य मानं जानाति ॥ १० ॥ 'घड'त्ति घटकारः स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तः प्रथमत एव प्रमाणयुक्तां मृदं गृह्णाति ॥ ११ ॥ 'चित्तकरे'त्ति चित्रकारः, स च रूपकभूमिकां अमित्वापि रूपकप्रमाणं जानाति तावन्मात्रं वा वर्णं कुंचिकया गृह्णाति यावन्मात्रेण प्रयोजनं इति ॥ १२ ॥ उक्ता कर्म्मजा बुद्धिः। संप्रति पारिणामिक्या लक्षणं आह—

अणुमाणहेउदिट्ठंतसाहिआ वयविवागपरिणामा ॥
हिअनिस्सेअसफलवई बुद्धी परिणामिआ नाम ॥ ११ ॥

अभए[1] सिट्ठि[2] कुमारे[3] देवी[4] उदिओदए हवइ राया ॥
साहू य नंदिसेणे[6] धणदत्ते सावग[7] अमच्चे[8] ॥ १२ ॥
खमए[10] अमच्च[11] पुत्ते चाणक्के[12] चेव थूलभद्दे[13] अ ॥
नासिक्कसुंदरीनंदे[14] वइरे[15] परिणामबुद्धीए ॥ १३ ॥
चलणाहण[16] आमंडे[17] मणी[18] सप्पे य खग्गि[20] थूभिंदे[21] ॥
परिणामियबुद्धीए एवमाई उदाहरणा ॥ १४ ॥
से त्तं असुअनिस्सियं।

'अणुमाण' इत्यादि, लिंगात् लिंगिनि ज्ञानं अनुमानं, तच्च स्वार्थं अनुमानं इह द्रष्टव्यं, अन्यथा हेतुग्रहणस्य नैरर्थक्यापत्तेः, अनुमानप्रतिपादकं वचो हेतुः, परार्थानुमानं इत्यर्थः, अथवा ज्ञापकं अनुमानं, कारकं हेतुः, दृष्टांतः प्रतीतः, आह–अनुमानग्रहणेन दृष्टान्तस्य गतत्वादलमस्य उपन्यासेन, उच्यते, अनुमानस्य कचित् दृष्टांतमंतरेण अन्यथानुपपत्तिग्राहकप्रमाणबलेन प्रवृत्तेः, यथा सात्मकं यावत् जीवच्छशरीरं, प्राणादिमत्त्वाऽन्यथानुपपत्तेः, न च दृष्टांतोऽनुमानांगं, यत उक्तं "अन्यथानुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किं ?" ततः पृथग् दृष्टांतस्य उपादानं, तत्र साध्यस्य उपमाभूतो दृष्टांतः, तथा च उक्तं–"यः साध्यस्य उपमानभूतः, स दृष्टांत इति कथ्यते।" अनुमानहेतुदृष्टांतैः साध्यं–अर्थं साधयति इति अनुमानहेतुदृष्टांतसाधिका, तथा कालकृतो देहावस्थाविशेषो वयस्तत् विपाके परिणामः–पुष्टता यस्याः सा वयोविपाकपरिणामा, तथा हितं–अभ्युदयो निःश्रेयसं–मोक्षः ताभ्यां फलवती, [ते] द्वे अपि तस्याः फले इत्यर्थः, बुद्धिः पारि-

णामिकी नाम ॥ ११ ॥ अस्या अपि शिष्यगणहिताय उदाहरणैः स्वरूपं प्रकटयति—'अभए' इत्यादि गाथात्रयं, अस्यार्थः कथानकेभ्योऽवसेयः, तानि च कथानकानि प्रायोऽतीव गुरूणि प्रसिद्धानि च ततो ग्रंथांतरेभ्योऽवसेयानि, इह तु अक्षरयोजनामात्रं एव केवलं करिष्यते। तत्र 'अभए'त्ति अभयकुमारस्य यत् चंडप्रद्योतात् वरचतुष्टयमार्ग्गणं यत् चंडप्रद्योतं बद्धा नगरमध्येन आरटंतं नीतवान् इत्यादि सा पारिणामिकी बुद्धिः ॥ १ ॥ 'सेट्ठि'त्ति, काष्ठश्रेष्ठी, तस्य यत् स्वभार्यादुश्चरितं अवलोक्य प्रव्रज्याप्रतिपत्तिकरणं, यच्च स्वपुत्रे राज्यं अनुशासति वर्षाचतुर्मासकानंतरं विहारक्रमं कुर्वतः पुत्रसमक्षं धिग्जातीयैः उपस्थापिताया क्षुल्लकक्षरिकाया आपन्नसत्त्वायाः त्वदीयोऽयं गर्भः त्वं च ग्रामांतरं प्रति चलितः ततः कथं अहं भविष्यामि इति वदंत्याः प्रवचनाऽयशोनिवारणाय यदि मदीयो गर्भः ततो योनेः विनिर्गच्छतु नो चेत् उदरं भित्त्वा विनिर्गच्छतु इति यत् शापप्रदानं, सा पारिणामिकी बुद्धिः ॥ २ ॥ 'कुमारे'त्ति, मोदकप्रियस्य कुमारस्य प्रथमे वयसि वर्त्तमानस्य कदाचित् गुणन्यां गतस्य प्रमदादिभिः सह यथेच्छं मोदकान् भक्षितवतोऽजीर्णरोगप्रादुर्भावात् अतिपूतिगंधिं वातकायं तत्सृजतो या उद्गता चिंता, यथा अहो ! तादृशानि अपि मनोहराणि कणिकादीनि द्रव्याणि शरीरसंपर्कवशात् पूतीगंधानि जातानि, तस्मात् धिग् इदं अशुचि शरीरं, धिग् व्यामोहो, यत् एतस्यापि शरीरस्य कृते जंतुः पापानि आरभते, इत्यादिरूपा सा पारिणामिकी बुद्धिः, तत उर्द्ध्वं तस्य शुभशुभतराध्यवसायभावतो अंतर्मुहूर्त्तेन केवलज्ञानोत्पत्तिः ॥ ३ ॥ 'देवी'त्ति देव्याः पुष्पवती—अभिधानायाः प्रव्रज्यां परिपाल्य देवत्वेन उत्पन्नाया यत् पुष्पचूलाभिधानायाः स्वपुत्र्याः स्वप्ने नरकदेवलोकप्रकटनेन प्रबोधकरणं सा पारिणामिकी बुद्धिः ॥ ४ ॥ 'उदिओदए'त्ति, उदितोदयस्य राज्ञः श्रीकांतापतेः पुरिमतालपुरे राज्यं अनुशासतः श्रीकांतानिमित्तं वाराणसीवास्तव्येन धर्म्मरुचिना राज्ञा सर्वबलेन समागत्य निरुद्धस्य प्रभूतजनपरिक्षयभयेन यत् वैश्रवणं उपवासं

कृत्वा समाहूय स नगरस्य आत्मनो अन्यत्र संक्रामणं सा पारिणामिकी बुद्धिः ॥ ५ ॥ 'साहू य नंदिसेणे'त्ति साधोः श्रेणिकपुत्रस्य नंदिषेणस्य स्वशिष्यस्य व्रतं उज्झितुकामस्य स्थिरीकरणाय भगवत् वर्द्धमानस्वामिवंदननिमित्तं चलितमुक्ताभरणश्वेतांबरपरिधानरूपराम-णीयकविनिर्जितामरसुंदरीकस्वांतःपुरदर्शनं कृतं सा पारिणामिकी बुद्धिः । स हि नंदिषेणस्य तादृशमंतःपुरं नंदिषेणपरित्यक्तं दृष्ट्वा दृढतरं संयमे स्थिरीबभूव, ॥ ६ ॥ 'धणदत्ते'त्ति धनदत्तस्य सुंसुमाया निजपुत्र्याः चिलातीपुत्रेण मारितायाः कालं अपेक्ष्य यत् पललभ-क्षणं सा पारिणामिकी बुद्धिः ॥ ७ ॥ 'सावगे'त्ति कोऽपि श्रावकः प्रत्याख्यातपरस्त्रीसंभोगः कदाचित् निजजायासखीं अवलोक्य तत्र अतीव अध्युपपन्नः, तं च तादृशं दृष्ट्वा तत् भार्या अचिंतयत् । नूनं एष यदि कथं अपि एतस्मिन्नध्यवसाये वर्त्तमानो म्रियते तर्हि नरकगतिं तिर्यग्गतिं वा याति तस्मात् करोमि कंचित् उपायमिति, तत एवं चिंतयित्वा स्वपतिं अभाणीत्–मा त्वं आतुरी भूः, अहं ते तां विकालवेलायां संपादयिष्यामि, तेन प्रतिपन्नं, ततो विकालवेलायां ईषदंधकारे जगति प्रसरति स्वसख्या वस्त्राणि आभरणानि परिधाय सा स्वसखीरूपेण रहसि तं उपासृपत् । स च सेयं मद्भार्यासखीति अवगम्य तां परिभुक्तवान्, परिभोगे च कृतेऽपगतका-माध्यवसायोऽस्मरत् च प्राग् गृहीतं व्रतं, ततो व्रतभंगो मे समुदपादि इति खेदं कर्त्तु प्रवृत्तः, ततस्तद्भार्या तस्मै यथावस्थितं निवेदया-मास । ततो मनाक् स्वस्थीबभूव, गुरुपादमूलं च गत्वा दुष्टमनःसंकल्पनिमित्तव्रतभंगविशुद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं प्रतिपन्नवान्, श्राविकायाः पारिणामिकी बुद्धिः ॥ ८ ॥ 'अमच्चे'त्ति वरधनुपितुः अमात्यस्य ब्रह्मदत्तकुमारविनिर्गमनाय यत् सुरंगाऽऽखननं, सा पारिणामिकी बुद्धिः ॥ ९ ॥ १२ ॥ 'खमए'त्ति क्षपकस्य कोपवशेन मृत्वा सर्पत्वेन उत्पन्नस्य ततोऽपि मृत्वा जातराजपुत्रस्य प्रव्रज्याप्रतिपत्तौ चतुरः क्षपकान् पर्युपासीनस्य यद्भोजनवेलायां तैः क्षपकैः पात्रे निष्ठ्यूतं निक्षेपेऽपि क्षमाकरणं आत्मनिंदनं क्षपकगुणप्रशंसा सा पारिणामिकी

बुद्धिः ॥१०॥ 'अमच्चपुत्ते'ति अमात्यपुत्रस्य वरधनुर्नाम्नो ब्रह्मदत्तकुमारविषये दीर्घपृष्ठस्वरूपज्ञापनादिषु तेषु तेषु प्रयोजनेषु पारिणामिकी बुद्धिः ॥ ११ ॥ 'चाणक्के'त्ति चाणक्यस्य चंद्रगुप्तराज्यं अनुशासतो भांडागारे निष्ठिते सति यदेकदिवसजाताऽश्वादियाचनं सा पारिणामिकी बुद्धिः ॥ १२ ॥ 'थूलभद्दे'त्ति स्थूलभद्रस्वामिनः पितरि मारिते नंदेन अमात्यपदपालनाय प्रार्थ्यमानस्यापि यत्प्रव्रज्याप्रतिपत्तिकरणं सा पारिणामिकी बुद्धिः ॥ १३ ॥ 'नासिकसुंदरी नंदे'त्ति नाशिक्यपुरे सुंदरीभर्त्तुः नंदस्य भ्रात्रा साधुना यत् मेरुशिरसि नयनं यच्च देवमिथुनकं दर्शितं सा पारिणामिकीबुद्धिः ॥ १४ ॥ 'वइरे'त्ति वज्रस्वामिनो बालभावेऽपि वर्त्तमानस्य मातरं अवगणय्य संघबहुमानकरणं सा पारिणामिकी बुद्धिः ॥ १५ ॥ 'चलणाहण'त्ति कोऽपि राजा तरुणैः व्युद्ग्राह्यते यथा देव! तरुणा एव पार्श्वे ध्रियंतां, किं स्थविरैः वलिपलितविशोभितशरीरैः?, ततो राजा तान् प्रति परीक्षानिमित्तं ब्रूते-यो मां शिरसि पादेन ताडयति तस्य को दंड इति?, ते प्राहुः-तिलमात्राणि खंडानि स विकृत्य मार्यते इति, ततः स्थविरान् प्रपच्छ-तेऽवोचन्-देव! परिभाव्य कथयामः, ततस्तैः एकांते गत्वा चिंतितं-को नाम हृदयवल्लभां देवीमतिरिच्य अन्यो देवं शिरसि ताडयितुं ईष्टे, हृदयवल्लभा च देवी विशेषतः सन्माननीया इति, ततस्ते समागत्य राजानं विज्ञपयामासुः-देव! स विशेषतः सत्कारणीय इति, ततो राजा परितोषं उपागतस्तान् प्रशंसितवान्-को नाम वृद्धान् विहाय अन्य एवंविधबुद्धिभाग् भवति?, ततः सदैव स्थविरान् पार्श्वे धारयामास न तरुणान् इति। राज्ञः स्थविराणां [च] पारिणामिकी बुद्धिः ॥ १६ ॥ 'आमंडे'त्ति कृत्रिममामलकमिति, कठिनत्वात् अकालत्वाच्च केनापि यथावस्थितं ज्ञातं तस्य पारिणामिकी बुद्धिः ॥ १७ ॥ 'मणी'त्ति कोऽपि सर्पो वृक्षं आरुह्य सदैव पक्षीणां अंडानि भक्षयति, अन्यदा च वृक्षस्थितो निपातितः, मणिश्च तस्य तत्र एव क्वचित् प्रदेशे स्थितः, तस्य च वृक्षस्य अधस्तात् कूपोऽस्ति, उपरिस्थितमणिप्रभाविच्छुरितं च सकल-

मपि कूपोदकं रक्तीभूतं उपलक्ष्यते, कूपात् आकृष्टं च स्वाभाविकं दृश्यते। एतच्च बालकेन केनापि निजपितुः स्थविरस्य निवेदितं, सोऽपि तत्र समागत्य सम्यक् परिभाव्य मणिं गृहीतवान्। तस्य पारिणामिकी बुद्धिः ॥ १८ ॥ 'सप्पे'त्ति सर्पस्य चंडकौशिकस्य भगवंतं प्रति या चिंताऽभूत्–ईदृग् अयं महात्मा इत्यादिका सा पारिणामिकी बुद्धिः ॥ १९ ॥ 'खग्गि'ति, कोऽपि श्रावकः प्रथमयौवनमदमोहितमना धर्म्मं अकृत्वा पंचत्वमुपगतः खड्गः समुत्पन्नः, यस्य गच्छतो द्वयोः अपि पार्श्वयोः चर्म्माणि लंबंते, स जीवविशेषखड्गः, स च अटव्यां चतुःपथे जनं मारयित्वा खादति, अन्यदा च तेन यथा गच्छतः साधून् दृष्टवान्, स च आक्रमितुं न शक्नोति। ततस्तस्य जातिस्मरणं भक्तप्रत्याख्यानं देवलोकगमनं, तस्य पारिणामिकी बुद्धिः ॥ २० ॥ 'थुभ'त्ति, विशालायां पुरि कूलवालकेन विशालाभंगाय यत् मुनिसुव्रतस्वामिपादुकास्तूपोत्खातनं सा पारिणामिकी बुद्धिः ॥ २१ ॥ पारिणामिक्या बुद्धेः एवं आदीनि उदाहरणानि 'सेत्त'मित्यादि तत् एतत् अश्रुतनिश्रितम्।

से किं तं सुअनिस्सियं ? सुअनिस्सियं चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा–
उग्गहे[1] इहा[2] अवाओ[3] धारणा[4]। से किं तं उग्गहे ?
उग्गहे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा–अत्थुग्गहे अ वंजणुग्गहे अ।

से किं तमित्यादि। अथ किं तत् श्रुतनिश्रितं मतिज्ञानं ?, गुरुः आह–श्रुतनिश्रितं मतिज्ञानं चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–अवग्रह-ईहा-अपायो-धारणा च, तत्र अवग्रहणं अवग्रहः, अनिर्देश्यसामान्यमात्ररूपार्थग्रहणं इत्यर्थः,। तथा ईहनं ईहा, सत्भूतार्थपर्यालोचनरूपा चेष्टा इत्यर्थः। किं उक्तं भवति ? अवग्रहात् उत्तरकालं अवायात् पूर्वं सद्भूतार्थविशेपोपादानाभिमुखोऽसद्भूतार्थविशेपपरि-

त्यागाभिमुखः—प्रायो अत्र मधुरत्वादयः शंखादिधर्मा दृश्यंते न खरकर्कशनिष्ठुरतादयः शार्ङ्गादिशब्दधर्म्मा इति एवंरूपो मतिविशेष ईहा, तथा तस्य एव अवगृहीतस्येहितस्यार्थस्य निर्णयरूपोऽध्यवसायोऽवायः शांख एव अयं, शार्ङ्ग एव अयं इत्यादिरूपोऽवधारणात्मकः प्रत्ययोऽवाय इत्यर्थः। तस्य एव अर्थस्य निर्णीतस्य धारणं धारणा, सा च त्रिधा—अविच्युतिः वासना स्मृतिश्च, तत्र तदुपयोगात् अविच्यवनं अविच्युतिः, सा च अंतर्मुहूर्त्तप्रमाणा, ततः तया आहितो यः संस्कारः सा वासना, सा च संख्येयमसंख्येयं वा कालं यावत् भवति। ततः कालांतरे कुतश्चित्तादृशार्थदर्शनादिकारणात् संस्कारस्य प्रबोधे यत् ज्ञानं उदयते—तत् एव इदं यन्मया प्राग् उपलब्धं इत्यादिरूपं सा स्मृतिः। उक्तं च—"तदनंतरं तदत्थाविच्चवणं जो उ वासणाजोगो। कालांतरे जं पुण अणुसरणं धारणा सा उ॥ १॥" एताश्च अविच्युतिवासनास्मृतयो धरणलक्षणसामान्यादन्वर्थयोगाद्धारणाशब्दवाच्याः॥

अथ कोऽयं अवग्रहः ?, सूरिराह—अवग्रहो द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—अर्थावग्रहश्च व्यंजनावग्रहश्च, तत्र अर्थ्यते इत्यर्थः अर्थस्यावग्रहणं अर्थावग्रहः—सकलरूपादिविशेषनिरपेक्षानिर्देश्यसामान्यमात्ररूपार्थग्रहणं एकसामयिकं इत्यर्थः, तथा व्यज्यतेऽनेन अर्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यंजनं, तच्च उपकरणेन्द्रियस्य श्रोत्रादेः शब्दादिपरिणतद्रव्याणां च परस्परं संबंधः, संबंधे सति सोऽर्थः शब्दादिरूपः श्रोत्रादिइंद्रियेण व्यंजितुं शक्यते, न अन्यथा, ततः संबंधो व्यंजनं, व्यंजनेन—संबंधेन अवग्रहणं संबध्यमानस्य शब्दादिरूपस्यार्थस्य अव्यक्तरूपः परिच्छेदो व्यंजनावग्रहः। अथवा व्यज्यंते इति व्यंजनानि, 'कृत् बहुलं' इति वचनात् कर्म्मण्यनट्, संप्रति तु व्यंजनावग्रहात् ऊर्द्धं अर्थावग्रह इति क्रमं आश्रित्य प्रथमं व्यंजनावग्रहस्वरूपं प्रतिपिपादयिषुः शिष्यः प्रश्नं करोति—

से किं तं वंजणुग्गहे ? वंजणुग्गहे चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा—

सोइंदियवंजणुग्गहे, घाणेंदियवंजणुग्गहे, जिब्भिंदियवंजणुग्गहे, फासिंदियवंजणुग्गहे । सेत्तं वंजणुग्गहे ।

अथ कोऽयं व्यंजनावग्रहः ?, आचार्य आह—व्यंजनावग्रहः चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'श्रोत्रेंद्रियव्यंजनावग्रह' इत्यादि, अत्र आह—सत्सु पंचसु इंद्रियेषु षष्ठे च मनसि कस्मात् अयं चतुर्विधो व्यावर्ण्यते ?, उच्यते, इह व्यंजनं उपकरणेन्द्रियस्य शब्दादिद्रव्याणां च परस्परं संबंध उच्यते, संबंधश्चतुर्णां एव श्रोत्रेंद्रियादीनां, न नयनमनसोः, तयोः अप्राप्यकारित्वात्, आह—कथं अप्राप्यकारित्वं तयोः अवसीयते ?, उच्यते, विषयकृतानुग्रहोपघाताभावात्, तथाहि—यदि प्राप्तं अर्थं चक्षुः मनो वा गृह्णीयात् तर्हि यथा स्पर्शनेंद्रियं स्रक्चंदनादिकं अंगारादिकं च प्राप्तमर्थं परिच्छिंदन् तत्कृतानुग्रहोपघातभाग् भवति । तथा चक्षुः मनसी अपि भवेतां, विशेषाभावात्, न च भवतः तस्मादप्राप्यकारिणी ते, ननु दृश्यते एव चक्षुषो विषयकृतौ अनुग्रहोपघातौ, तथाहि—घनपटलविनिर्मुक्ते नभसि सर्वतो निबिडजरठिमोपेतं करप्रसरमभिसर्प्पयन्तमंशुमालिनमनवरतं अवलोकमानस्य भवति चक्षुषो विघातः, शशांककरकदंबकं यदि वा तरंगमालोपशोभितं जलं तरुमंडलं च शाड्वलं निरंतरं निरीक्ष्यमाणस्य च अनुग्रहः, तदेतदपरिभावितभाषितं, यतो न —सर्वथा विषयकृतानुग्रहोपघातौ न भवतः, किं त्वेतावदेव वदामो—यदा विषयं विषयतया चक्षुरवलंबते तदा तत्कृतावनुग्रहोपघातौ तस्य न भवत इति तदप्राप्यकारि, शेषकालं तु प्राप्तेनोपघातकेनोपघातो भविष्यत्यनुग्राहकेण चानुग्रहः ।

हः ?, सूरिराह—

से किं तं अत्थुग्गहे ? अत्थुग्गहे छिव्वहे पन्नत्ते तं जहा—सोइंदिय-

त्यागाभिमुखः–प्रायो अत्र मधुरत्वादयः शंखादिधर्मा दृश्यंते न खरकर्कशनिष्ठुरतादयः शार्ङ्गादिशब्दधर्म्मा इति एवंरूपो मतिविशेष ईहा, तथा तस्य एव अवगृहीतस्येहितस्यार्थस्य निर्णयरूपोऽध्यवसायोऽवायः शांख एव अयं, शार्ङ्ग एव अयं इत्यादिरूपोऽवधारणात्मकः प्रत्ययोऽवाय इत्यर्थः। तस्य एव अर्थस्य निर्णीतस्य धारणं धारणा, सा च त्रिधा–अविच्युतिः वासना स्मृतिश्च, तत्र तदुपयोगात् अविच्यवनं अविच्युतिः, सा च अंतर्मुहूर्त्तप्रमाणा, ततः तया आहितो यः संस्कारः सा वासना, सा च संख्येयमसंख्येयं वा कालं यावत् भवति। ततः कालांतरे कुतश्चित्तादृशार्थदर्शनादिकारणात् संस्कारस्य प्रबोधे यत् ज्ञानं उदयते–तत् एव इदं यन्मया प्राग् उपलब्धं इत्यादिरूपं सा स्मृतिः। उक्तं च–"तदनंतरं तदत्थाविच्चवणं जो उ वासणाजोगो। कालांतरे जं पुण अणुसरणं धारणा सा उ॥ १ ॥" एताश्च अविच्युतिवासनास्मृतयो धरणलक्षणसामान्याऽन्वर्थयोगाद्धारणाशब्दवाच्याः॥

अथ कोऽयं अवग्रहः ?, सूरिराह–अवग्रहो द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा–अर्थावग्रहश्च व्यंजनावग्रहश्च, तत्र अर्य्यते इत्यर्थः अर्थस्यावग्रहणं अर्थावग्रहः–सकलरूपादिविशेषनिरपेक्षानिर्देश्यसामान्यमात्ररूपार्थग्रहणं एकसामयिकं इत्यर्थः, तथा व्यज्यतेऽनेन अर्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यंजनं, तच्च उपकरणेन्द्रियस्य श्रोत्रादेः शब्दादिपरिणतद्रव्याणां च परस्परं संवंधः, संवंधे सति सोऽर्थः शब्दादिरूपः श्रोत्रादिइंद्रियेण व्यंजितुं शक्यते, न अन्यथा, ततः संवंधो व्यंजनं, व्यंजनेन–संवंधेन अवग्रहणं संवध्यमानस्य शब्दादिरूपस्यार्थस्य अव्यक्तरूपः परिच्छेदो व्यंजनावग्रहः। अथवा व्यज्यंते इति व्यंजनानि, 'कृत् वहुलं' इति वचनात् कर्म्मण्यनट्, संप्रति तु व्यंजनावग्रहात् ऊर्द्धं अर्थावग्रह इति क्रमं आश्रित्य प्रथमं व्यंजनावग्रहस्वरूपं प्रतिपिपादयिषुः शिष्यः प्रश्नं करोति—

से किं तं वंजणुग्गहे ? वंजणुग्गहे चउविहे पन्नत्ते, तं जहा–

सोइंदियवंजणुग्गहे, घाणेंदियवंजणुग्गहे, जिब्भिदियवंजणुग्गहे, फासिंदियवंजणुग्गहे। सेत्तं वंजणुग्गहे।

अथ कोऽयं व्यंजनावग्रहः ?, आचार्य आह—व्यंजनावग्रहः चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'श्रोत्रेंद्रियव्यंजनावग्रह' इत्यादि, अत्र आह—सत्सु पंचसु इंद्रियेषु षष्ठे च मनसि कस्मात् अयं चतुर्विधो व्यावर्ण्यते ?, उच्यते, इह व्यंजनं उपकरणेन्द्रियस्य शब्दादिद्रव्याणां च परस्परं संबंध उच्यते, संबंधश्चतुर्णां एव श्रोत्रेंद्रियादीनां, न नयनमनसोः, तयोः अप्राप्यकारित्वात्, आह—कथं अप्राप्यकारित्वं तयोः अवसीयते ?, उच्यते, विषयकृतानुग्रहोपघाताभावात्, तथाहि—यदि प्राप्तं अर्थं चक्षुः मनो वा गृह्णीयात् तर्हि यथा स्पर्शनेंद्रियं स्रक्चंदनादिकं अंगारादिकं च प्राप्तमर्थं परिच्छिदन् तत्कृतानुग्रहोपघातभाग् भवति। तथा चक्षुः मनसी अपि भवेतां, विशेषाभावात्, न च भवतः तस्मादप्राप्यकारिणी ते, ननु दृश्यते एव चक्षुषो विषयकृतौ अनुग्रहोपघातौ, तथाहि—घनपटलविनिर्मुक्ते नभसि सर्वतो निविडजरठिमोपेतं करप्रसरमभिसर्प्पयन्तमंशुमालिनमनवरतं अवलोकमानस्य भवति चक्षुषो विघातः, शशांककरकदंबकं यदि वा तरंगमालोपशोभितं जलं तरुमंडलं च शाड्वलं निरंतरं निरीक्ष्यमाणस्य च अनुग्रहः, तदेतदपरिभावितभाषितं, यतो न ब्रूमः—सर्वथा विषयकृतानुग्रहोपघातौ न भवतः, किं त्वेतावदेव वदामो—यदा विषयं विषयतया चक्षुरवलंबते तदा तत्कृतावनुग्रहोपघातौ तस्य न भवत इति तदप्राप्यकारि, शेषकालं तु प्राप्तेनोपघातकेनोपघातो भविष्यत्यनुग्राहकेण चानुग्रहः।

अथ कतिविधोऽयमर्थावग्रहः ?, सूरिराह—

से किं तं अत्थुग्गहे ? अत्थुग्गहे छव्विहे पन्नत्ते तं जहा—सोइंदिय-

अत्थुग्गहे। चक्खिंदियअत्थुग्गहे। घाणिंदियअत्थुग्गहे।
जिब्भिंदियअत्थुग्गहे। फासिंदियअत्थुग्गहे। नोइंदियअत्थुग्गहे।
तस्स णं इमं एगट्ठिआ नाणाघोसा नाणावंजणा पंच नामधिज्जा
भवति, तं जहा–ओगेण्हणया[1] उवधारणया[2] सवणया[3] अवलंबणया[4]
मेहा। से त्तं उग्गहे।

अर्थावग्रहः षड्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा–श्रोत्रेंद्रियार्थावग्रह इत्यादि, श्रोत्रेंद्रियार्थावग्रहो व्यंजनावग्रहोत्तरकालं एकसामयिकं अनिर्देश्यसामान्यरूपार्थोऽवग्रहणं श्रोत्रेंद्रियार्थावग्रहः, एवं घ्राणजिह्वास्पर्शनेंद्रियार्थावग्रहेष्वपि वाच्यं, चक्षुर्मनसोस्तु व्यंजनावग्रहो न भवति, ततस्तयोः प्रथमं एव स्वरूपं द्रव्यगुणाक्रियाविकल्पनाऽतीतं अनिर्देश्यसामान्यमात्ररूपार्थोऽवग्रहणं अर्थावग्रहोऽवसेयः ॥ तत्र नोइंद्रियं-मनः, तच्च द्विधा-द्रव्यरूपं भावरूपं च, तत्र मनःपर्याप्तिनामकर्मोदयतो यत् मनः प्रायोग्यवर्गणादलिकं आदाय मनस्त्वेन परिणामितं तत् द्रव्यरूपं मनः, तथा द्रव्यमनोऽवष्टंभेन जीवस्य यो मननपरिणामः स भावमनः, तत्र इह भावमनसा प्रयोजनं, तत्ग्रहणे हि अवश्यं द्रव्यमनसोऽपि ग्रहणं भवति, द्रव्यमनोंतरेण भावमनसोऽसंभवात्, भावमनो विनापि च द्रव्यमनो भवति, यथा भवस्थकेवलिनः, तत उच्यते–भावमनसा इह प्रयोजनं, तत्र नोइंद्रियेण–भावमनसाऽर्थावग्रहो द्रव्येंद्रियव्यापारनिरपेक्षो घटाद्यर्थस्वरूपपरिभावनाऽभिमुखः प्रथमं एकसामयिको रूपाद्यूर्ध्वाऽऽकारादिविशेषचिंताविकलोऽनिर्देश्यसामान्यमात्रचिंतात्मको बोधो नोइंद्रियार्थावग्रहः ॥ 'तस्य' सामान्येन अवग्रहस्य 'णं' इति वाक्यालंकारे 'अमूनि' वक्ष्यमाणानि एकार्थिकानि नानाघोषा–उदा-

त्तादयः स्वरविशेषाः, येषां तानि नानाघोषाणि, तथा नानाव्यंजनानि–कादीनि येषां तानि नानाव्यंजनानि, पंच नामानि एव नामधेयानि भवंति। 'तद्यथा' इति तेषां एव उपप्रदर्शने 'ओगेण्हणया' इत्यादि, इह अवग्रहः त्रिधा, तद्यथा–व्यंजनावग्रहः सामान्यार्थावग्रहो विशेषसामान्यार्थावग्रहश्च, तत्र विशेषसामान्यार्थावग्रह औपचारिकः, स च अनंतरमेव अग्रे दर्शयिष्यते, अवगृह्यते अनेन इत्यवग्रहणं,' करणेऽनट्' व्यंजनावग्रहः–प्रथमसमयप्रविष्टशब्दादिपुद्गलाऽऽदानपरिणामः, तत् भावोऽवग्रहणता। तथा धार्यते-ऽनेन इति धारणं, उप सामीप्येन धारणं [उपधारणं] व्यंजनावग्रहे द्वितीयादिसमयेषु प्रतिसमयं अपूर्वापूर्वप्रविशच्छब्दादिपुद्गला-ऽऽदानपुरस्सरं प्राक्तनप्राक्तनसमयगृहीतशब्दादिपुद्गलधारणपरिणामः तद्भाव उपधारणता, तथा श्रूयतेऽनेन इति श्रवणं एकसामयिकः सामान्यार्थावग्रहरूपो बोधपरिणामः तद्भावः श्रवणता, तथाऽवलंब्यते इति अवलंबनं, 'कुद्दहुल'मिति वचनात् कर्म्मण्यनट्, विशेष-सामान्यार्थावग्रहः। मेधा प्रथमं विशेषसामान्यार्थावग्रह–मतिरिच्य उत्तरः सर्वोऽपि विशेषसामान्यार्थावग्रहः। तदेवमुक्तानि पंचापि नामधेयानि भिन्नार्थानि। 'से त्तं' इत्यादि निगमनं॥

से किं तं ईहा ? ईहा छव्विहा पन्नत्ता, तं जहा–सोइंदियईहा, चक्खिंदिय-
ईहा, घाणिंदियईहा, जिब्भिंदियईहा, फासिंदियईहा, नोइंदियईहा।
तीसे णं इमे एगट्ठिआ नाणाघोसा नाणावंजणा पंच नामधिज्जा भवंति,
तं जहा आभोगणया[1] मग्गणया[2] गवेसणया[3] चिंता विमंसा। सेत्तं ईहा।

अथ का इयं ईहा ? षड्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा–श्रोत्रेंद्रियईहा इत्यादि, तत्र श्रोत्रेंद्रियेण ईहा श्रोत्रेंद्रियईहा श्रोत्रेंद्रियार्थावग्रहं

स्थिरतया पुनः, पुनः स्पष्टतरं अवबुध्यमानस्य या बोधपरिणतिः सा बुद्धिः। तथा विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानं—क्षयोपशमविशेषात् एव अवधारितार्थविषय एव तीव्रतरधारणाहेतुः बोधविशेषः। 'से त्तं अवाए' इति निगमनम् ॥

से किं तं धारणा? धारणा छव्विहा पन्नत्ता, तं जहा सोइंदियधारणा, चक्खिंदियधारणा, घाणिंदियधारणा, जिब्भिंदियधारणा, फासिंदियधारणा, नोइंदियधारणा। तस्स णं इमे एगट्ठिआ नाणाघोसा नाणावंजणा पंच नामधिज्जा पन्नत्तं, तं जहा धारणा[1] साधारणा[2] ठवणा[3] पइट्ठा[4] कोट्ठे। सेत्तं धारणा।

'से किं तं' इत्यादि सुगमं, यावत् धारणा इत्यादि, अत्रापि सामान्यत एकार्थानि विशेषार्थचिंतायां पुनः भिन्नार्थानि, तत्र अपायानंतरं अवगतस्य अर्थस्य अविच्युत्याऽन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् धरणं धारणा, ततस्तं एव अर्थं उपयोगात् च्युतं जघन्यतः अंतर्मुहूर्त्तात् उत्कर्षतोऽसंख्येयकालात् परतो यत्स्मरणं सा धारणा, तथा स्थापनं स्थापना, अपायावधारितस्य अर्थस्य हृदि स्थापनं, वासना इत्यर्थः, अन्ये तु धारणास्थापनयोः व्यत्यासेन स्वरूपं आचक्षते। तथा प्रतिष्ठा [प] नं प्रतिष्ठा—अपायावधारितस्य एव अर्थस्य हृदि प्रभेदेन प्रतिष्ठापनं इत्यर्थः। कोष्ठ इव कोष्ठोऽविनष्टसूत्रार्थधारणं इत्यर्थः। सा इयं धारणा ॥

सम्प्रति अवग्रहादेः कालप्रमाणप्रतिपादनार्थं आह—

उग्गहे इक्कसमइए, अन्तोमुहुत्तिआ ईहा, अन्तोमुहुत्तिए अवाए, धारणा संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं। एवं अट्ठावीसइविहस्स आभिणिबोहियनाणस्स वंजणुग्गहस्स परूवणं करिस्सामि। पडिबोहगदिट्ठंतेण। मल्लग दिट्ठंतेण य। से किं तं पडिबोहगदिट्ठंतेण? पडिबोहगदिट्ठंतेण-से जहा नामए केइ पुरिसे कंचि पुरिसं सुत्तं पडिबोहिज्जा अमुगा अमुगत्ति, तत्थ चोअगे

पन्नवगं एवं वयासी किं एगसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति दुसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति तिसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति जाव दससमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति संखिज्जसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति असंखिज्जसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति ? एवं वदंतं चोअगं पन्नवए एवं वयासी–नो एगसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति, नो दुसमयपोग्गला गहणमागच्छंति, नो तिसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति, जाव नो दससमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति, नो संखिज्जसमयपविट्ठा गहणमागच्छंति, असंखिज्जसमयपविट्ठा पोग्गला गहणमागच्छंति । से त्तं पडिबोहगदिट्ठंतेण ।

उग्गह इत्यादि, अवग्रहः अर्थावग्रह एकसामयिकः, आंतर्मुहूर्त्तिकी ईहा, आंतर्मुहूर्त्तिकोऽवायः, धारणा संख्येयं वा कालं असंख्येयं वा कालं, तत्र संख्येयवर्षायुषां संख्येयकालं असंख्येयवर्षायुषां असंख्येयकालं, सा च धारणा संख्येयं असंख्येयं वा कालं यावत् वासनारूपा द्रष्टव्या, अविच्युतिस्मृत्योः अजघन्य उत्कर्षेण अंतर्मुहूर्त्तप्रमाणत्वात्, एवं उक्तेन प्रकारेण [कथं] अष्टाविंशतिविधता इति, उच्यते, चतुर्द्धा व्यंजनावग्रहः, षोढार्थावग्रहः, षोढा ईहा, षड्विधोऽपायः, षोढा धारणा इति अष्टाविंशतिविधता, एवं अष्टाविंशतिविधस्य आभिनिबोधिकज्ञानस्य संबंधी यो व्यंजनावग्रहः, तस्य स्पष्टतरस्वरूपपरिज्ञापनाय प्ररूपणां करिष्यामि । कथमित्याह–प्रतिबोधकदृष्टांतेन मल्लकदृष्टांतेन च, तत्र प्रतिबोधयति इति प्रतिबोधकः–सुप्तस्य उत्थापकः स एव दृष्टांतः प्रतिबोधकदृष्टांतः तेन, मल्लकं–शरावं तदेव दृष्टांतो मल्लकदृष्टांतः तेन, अथ केयं प्रतिबोधकदृष्टांतेन, इयं व्यंजनावग्रहस्य प्ररूपणा इति शेषः । आचार्य आह–प्रतिबोधक-

दृष्टांतेन इयं व्यंजनावग्रहप्ररूपणा, स यथानामको–यथासंभवनामधेयकः कोऽपि पुरुषः, अत्र सर्वत्रापि एकारो मागधिकभाषा-
लक्षणानुसरणात्, तच्च प्रागेव अनेकश उक्तं, किंचिदनिर्दिष्टनामानं यथासंभवनामकं पुरुषं प्रतिबोधयेत्। कथमित्याह–'अमुकामुक'
इति, तत्र एवं उक्ते सति चोदको ज्ञानावरणकर्म्मोदयतः कथितमपि सूत्रार्थं अनवगच्छन् प्रश्नं चोदयति इति चोदकः, यथावस्थितं
सूत्रार्थं प्रज्ञापयति इति प्रज्ञापको–गुरुः, तं 'एवं' वक्ष्यमाणेन प्रकारेण अवादीत्। भूतकालनिर्देशोऽनादिमानागम इति ख्यापनार्थः,
वदनप्रकारं एव दर्शयति–किं एकसमयप्रविष्टाः संख्येयसमयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छंति, नवरमयं प्रतिषेधः स्फुटप्रतिभासरूपार्था-
वग्रहलक्षणविज्ञानग्राह्यतां अधिकृत्य वेदितव्यो, यावता पुनः प्रथमसमयादपि आरभ्य किंचित् किंचिदव्यक्तग्रहणमागच्छंति इति
प्रतिपत्तव्यं ?, 'जं च वंजणोग्गहणमिति भणियं विन्नाणमव्वत्तं इति वचनप्रामाण्यात्। असंखेज्जेत्यादि, आदित आरभ्य प्रतिसमय-
प्रवेशेन असंख्येयान् समयान् यावत् ये प्रविष्टास्ते असंख्येयसमयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छंति–अर्थावग्रहरूपविज्ञानग्राह्यतां उप-
यांते ।। असंख्येयसमयप्रविष्टेषु तेषु चरमसमये अर्थावग्रहविज्ञानं उपजायते इत्यर्थः। अर्थावग्रहविज्ञानात् च प्राक् सर्वोऽपि व्यंजना-
वग्रहः, एषा प्रतिबोधकदृष्टांतेन व्यंजनावग्रहस्य प्ररूपणा। व्यंजनावग्रहस्य च कालो जघन्यत आवलिकाऽसंख्येयभागः, उत्कर्षतः
संख्येया आवलिकाः, ता अपि च संख्येया आवलिका प्राणापानपृथक्त्वकालमाना वेदितव्याः, यत उक्तं–"वंजणावग्गहकालो
आवलिया असंखभागतुल्लो उ। थोवोउक्कोसो पुण आणापाणूपुहुत्तंत्ति। १।" 'सेत्तं' इत्यादि निगमनम्। सा इयं प्रतिबोधक-
दृष्टांतेन व्यंजनावग्रहस्य प्ररूपणा।

से किं तं मल्लगदिट्ठंतेण। मल्लगदिट्ठंतेण से जहानामए केइ पुरिसे आवागसीसाओ मल्लगं गहाय

तत्थेगं उदगबिंदुं पक्खेविज्जा से नट्ठे। अन्नेऽवि पक्खित्ते सेऽवि नट्ठे। एवं पक्खिप्पमाणेसु पक्खिप्पमाणेसु होही से उदगबिंदू जे णं तं मल्लगं रावेहिइत्ति, होही से उदगबिंदू जे णं तंसि मल्लगंसि ठाहिति, होही से उदगबिंदू जे णं तं मल्लगं भरिहिति, होही से उदगबिंदू जे णं तं मल्लगं पवाहेहिति एवामेव पक्खिप्पमाणेहिं पक्खिप्पमाणेहिं अणंतेहिं पोग्गलेहिं जाहे त्तं वंजणं पूरिअं होइ ताहे हुंति करेइ। नो चेव णं जाणइ केवि एस सद्दाइ तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ अमुगे एस सद्दाइ। तओ अवायं पविसइ तओ से उवगयं हवइ, तओ णं धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं, असंखिज्जं वा कालं। से जहा नामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणिज्जा तेणं सद्दोत्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ के वेस सद्दाइ तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ अमुगे एस सद्दे। तओ णं अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं। से जहा नामए केई पुरिसे अव्वत्तं रूवं पासेज्जा तेणं रूवत्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ के वेस रूवत्ति, तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुगे एस रूवेत्ति, तओ अवायं पविसइ, तओ से उगवयं हवइ। तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं। से जहा नामए केई पुरिसे अव्वत्तं गंधं अग्घाइज्जा तेणं गंधेत्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ के वेस गंधत्ति। तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ अमुगे एस गंधे, तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ।

तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं। से जहा नामए केई पुरिसे अव्वत्तं रसं आसाइज्जा तेणं रसोत्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ, के वेस रसेत्ति, तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ अमुगे एस रसे, तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं। से जहा नामए पुरिसे अव्वत्तं फासं पडिसंवेइज्जा, तेणं फासेत्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ, के वेस फासओत्ति, तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ अमुगे एस फासे, तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं। से जहा नामए केई पुरिसे अव्वत्तं सुमिणं पासिज्जा, तेणं सुमिणोत्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ, के वेस सुमिणोत्ति, तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ अमुगे एस सुमिणे, तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं। सेत्तं मल्लगदिट्ठंतेण।

अथ केयं मल्लकदृष्टांतेन व्यंजनावग्रहस्य प्ररूपणा ?, सूरिराह—मल्लकदृष्टांतेन व्यंजनावग्रहस्य प्ररूपणा। सो निर्दिष्टस्वरूपो यथानामकः कश्चित् पुरुषः 'आपाकशिरसः' आपाकः प्रतीतः तस्य शिरसो मल्लकं–शरावं गृहीत्वा, इदं हि किल रूक्षं भवति। ततोऽस्योपादानं, तत्र मल्लके एकं उदकबिंदुं प्रक्षिपेत् स नष्टः, तत्र एव तत् भावपरिणतिं आपन्न इत्यर्थः। ततो द्वितीयं प्रक्षिपेत् सोऽपि विनष्टः, एवं प्रक्षिप्यमाणेषु २ भविष्यति स उदकबिंदुः यः तत् मल्लकं 'रावेहिइ' इति देश्योऽयं शब्दः, आर्द्रतां नेष्यति, शेषं

सुगमं 'यावत्' एवमेव इत्यादि, एवमेव उदकबिंदुभिः इव निरंतरं प्रक्षिप्यमाणैः २ अनंतैः शब्दरूपतापरिणतैः पुद्गलैः यदा तद् व्यंजनं पूरितं भवति तदा हुं करोति-हुंकारं मुंचति। तदा तान् पुद्गलान् अनिर्देश्यरूपतया परिच्छिनत्ति इति भावार्थः। अत्र व्यंजनशब्देन उपकरणेंद्रियं शब्दादिपरिणतं वा द्रव्यं तयोः संबंधो वा गृह्यते, न कश्चिद्विरोधः। तत्र यदा व्यंजनं उपकरणेंद्रियं अधिक्रियते तदा पूरितं इति कोऽर्थः? परिपूर्णभूतं व्याप्तं इत्यर्थः। यदा व्यंजनं द्रव्यं अभिगृह्यते तदा पूरितं इति-प्रभूतीकृतं स्वप्रमाणमानीतं स्वव्यक्तौ समर्थीकृतं इत्यर्थः, यदा तु व्यंजनं द्वयोरपि संबंधो गृह्यते तदा पूरितं इति किं उक्तं भवति?-तावत् संबंधोऽभूत्। यावति सति ते शब्दादिपुद्गला ग्रहणं आगच्छंति, अर्थावग्रहरूपेण ज्ञानेन तं अर्थं गृह्णंति, तं च, नामजात्यादि-कल्पनारहितं, तथा च आह-न पुनः एवं जानाति क एप शब्दादिः अर्थ इति, स्वरूपद्रव्यगुणक्रियाविशेषकल्पनारहितं अनिर्देश्यं सामान्यमात्रं गृह्णाति इत्यर्थः, एवं रूपसामान्यमात्रग्रहणकारणत्वात् अर्थावग्रहस्य, एतस्माच्च पूर्वः सर्वोऽपि व्यंजनावग्रहः, एपा मल्लक-दृष्टांतेन व्यंजनावग्रहस्य प्ररूपणा, हुंकारकरणं चार्थावग्रहबलप्रवर्त्तितम्। तत ईहां प्रविशति-किं इदमिदं इति विमर्शं कर्त्तुं आरभते, 'ततः' ईहानंतरं क्षयोपशमविशेषभावात् जानाति-अमुक एप शब्दादिः इति, ततः एवंरूपे ज्ञानपरिणामे प्रादुर्भवति सति सोऽपायं प्रविशति। ततोऽपायानंतरं अंतर्मुहूर्त्तकालं यावत् उपगतं भवति-सामीप्येन आत्मनि शब्दादिज्ञानं परिणतं भवति। अविच्युतिः अंतर्मुहूर्त्तकालं यावत् प्रवर्त्तते इत्यर्थः, ततो धारणां प्रविशति, सा च धारणा वासनारूपा द्रष्टव्या, यत आह-ततो धारणायां प्रवेशात् 'णं' इति वाक्यालंकारे संख्येयं वा असंख्येयं वा कालं हृदि धारयति, तत्र संख्येयवर्षायुष्कः संख्येयं कालं, असंख्येयवर्षायुष्कस्तु असंख्येयकालं। अत्राह-सुप्तमंगीकृत्य पूर्वोक्तप्रकारः सर्वोऽपि घटते, जाग्रतस्तु शब्दश्रवणसमनंतरं एव अवग्रहः-ईहाव्यतिरेकेण

तत् निषेधार्थं आह–स यथानामकः कश्चित् जाग्रत् अपि पुरुषोऽव्यक्तं शब्दं अवायज्ञानं उपजायते, तथाप्रतिप्राणिसंवेदनात् । तत् निषेधार्थं आह–स यथानामकः कश्चित् जाग्रत् अपि पुरुषोऽव्यक्तं शब्दं
श्रृणुयात्, अव्यक्तमेव प्रथमं शब्दं श्रृणोति, अव्यक्तं नाम अनिर्देश्यस्वरूपं नामजात्यादिकल्पनारहितं, अनेन अवग्रहं आह–अर्थाव-
ग्रहश्च श्रोत्रेंद्रियस्य संबंधी व्यंजनावग्रहमंतरेण न भवति ततो व्यंजनावग्रहोऽपि उक्तो वेदितव्यः । अत्राह–ननु एवं क्रमो न कोऽपि
उपलभ्यते, किंतु प्रथमत एव शब्दापायज्ञानं उपजायते, सूत्रेऽपि च अव्यक्तं इति शब्दविशेषणं कृतं, ततः अयं अर्थो व्याख्येयः–
अव्यक्तं-अनवधारितशांखशार्ङ्गादिविशेषं शब्दं श्रृणुयादिति, इदं च व्याख्यानं उत्तरसूत्रं अपि संवादयति,–तेन-प्रमात्रा शब्द इति
अवगृहीतं, न पुनरेवं जानाति–क एषः शब्दः शांखः शार्ङ्ग इति वा?, सद्दाइ इति, अत्र आदिशब्दात् रसादिषु अपि अयमेव न्याय
इति ज्ञापयति, तत ईहां प्रविशति इत्यादि सर्वं संबद्धमेव, तदेतदयुक्तं, सम्यग् वस्तुतत्वापरिज्ञानात्, इह हि यत् किमपि वस्तु
निश्चीयते तत्सर्वं ईहापूर्वकमनीहितस्य सम्यग्निश्चितत्वायोगात्, न खलु प्रथमाक्षिसन्निपाते सति धूमदर्शनेऽपि यावत् किं अयं
धूमः? किं वा मशकवर्तिः इति विमृश्य धूमगतकंठक्षणनकालीकरणसोष्मतादिधर्म्मदर्शनात् सम्यक् धूमं धूमत्वेन विनिश्चिनोति
तावत् स धूमो निश्चितो भवति । अनिवर्त्तितशंकतया तस्य सम्यक्निश्चितत्वायोगात्तस्मात् अवश्यं यो वस्तुविशेषनिश्चयः स
ईहापूर्वकः, शब्दोऽयं इति च निश्चयो रूपादिव्यवच्छेदात्, ततोऽवश्यं इतः पूर्वं ईहया भवितव्यम् । ईहा च प्रथमतः सामान्यरूपेण
अवगृहीते भवति, न अनवगृहीते, न खलु सर्वथा निरालंबनं ईहनं क्वापि भवत् उपलभ्यते, न चानुपलभ्यमानं प्रतिपत्तुं शक्नुमः ।
सर्वस्यापि प्रेक्षावतां प्रतिपत्तेः प्रमाणमूलत्वात्, अन्यथा प्रेक्षावत्ताक्षतिप्रसक्तेः, तस्मात् ईहायाः प्रागवग्रहोऽपि नियमात् प्रतिपत्तव्यः ।
अवग्रहश्च शब्दोऽयं इति ज्ञानात् पूर्वं प्रवर्त्तमानोऽनिर्देश्यसामान्यमात्रग्रहणरूप एव उपपद्यते, न अन्यः, अत एव उक्तं सूत्रकृता–'अव्यक्तं

सुगमं 'यावत्' एवमेव इत्यादि, एवमेव उदकबिंदुभिः इव निरंतरं प्रक्षिप्यमाणैः २ अनंतैः शब्दरूपतापरिणतैः पुद्गलैः यदा तद् व्यंजनं पूरितं भवति तदा हुं करोति-हुंकारं मुंचति। तदा तान् पुद्गलान् अनिर्देश्यरूपतया परिच्छिनत्ति इति भावार्थः। अत्र व्यंजनशब्देन उपकरणेंद्रियं शब्दादिपरिणतं वा द्रव्यं तयोः संबंधो वा गृह्यते, न कश्चिद्विरोधः। तत्र यदा व्यंजनं उपकरणेंद्रियं अधिक्रियते तदा पूरितं इति कोऽर्थः? परिपूर्णभूतं व्याप्तं इत्यर्थः। यदा व्यंजनं द्रव्यं अभिगृह्यते तदा पूरितं इति-प्रभूतीकृतं स्वप्रमाणमानीतं स्वव्यक्तौ समर्थीकृतं इत्यर्थः, यदा तु व्यंजनं द्वयोरपि संबंधो गृह्यते तदा पूरितं इति किं उक्तं भवति?-तावत् संबंधोऽभूत्। यावति सति ते शब्दादिपुद्गला ग्रहणं आगच्छंति, अर्थावग्रहरूपेण ज्ञानेन तं अर्थं गृह्णंति, तं च, नामजात्यादि-कल्पनारहितं, तथा च आह-न पुनः एवं जानाति क एष शब्दादिः अर्थ इति, स्वरूपद्रव्यगुणक्रियाविशेषकल्पनारहितं अनिर्देश्यं सामान्यमात्रं गृह्णाति इत्यर्थः, एवं रूपसामान्यमात्रग्रहणकारणत्वात् अर्थावग्रहस्य, एतस्माच्च पूर्वः सर्वोऽपि व्यंजनावग्रहः, एषा मल्लक-दृष्टांतेन व्यंजनावग्रहस्य प्ररूपणा, हुंकारकरणं चार्थावग्रहबलप्रवर्त्तितम्। तत ईहां प्रविशति-किं इदमिदं इति विमर्शं कर्तुं आरभते, 'ततः' ईहानंतरं क्षयोपशमविशेषभावात् जानाति-अमुक एष शब्दादिः इति, ततः एवंरूपे ज्ञानपरिणामे प्रादुर्भवति सति सोऽपायं प्रविशति। ततोऽपायानंतरं अंतर्मुहूर्त्तकालं यावत् उपगतं भवति-सामीप्येन आत्मनि शब्दादिज्ञानं परिणतं भवति। अविच्युतिः अंतर्मुहूर्त्तकालं यावत् प्रवर्त्तते इत्यर्थः, ततो धारणां प्रविशति, सा च धारणा वासनारूपा द्रष्टव्या, यत आह-ततो धारणायां प्रवेशात् 'णं' इति वाक्यालंकारे संख्येयं वा असंख्येयं वा कालं हृदि धारयति, तत्र संख्येयवर्षायुष्कः संख्येयं कालं, असंख्येयवर्षायुष्कस्तु असंख्येयकालं। अत्राह-सुप्तमंगीकृत्य पूर्वोक्तप्रकारः सर्वोऽपि घटते, जाग्रतस्तु शब्दश्रवणसमनंतरं एव अवग्रहः-इहाव्यतिरेकेण

अवायज्ञानं उपजायते, तथाप्रतिप्राणिसंवेदनात् । तत् निषेधार्थं आह–स यथानामकः कश्चित् जाग्रत् अपि पुरुषोऽव्यक्तं शब्दं शृणुयात्, अव्यक्तमेव प्रथमं शब्दं शृणोति, अव्यक्तं नाम अनिर्देश्यस्वरूपं नामजात्यादिकल्पनारहितं, अनेन अवग्रहं आह–अर्थाव-ग्रहश्च श्रोत्रेंद्रियस्य संबंधी व्यंजनावग्रहमंतरेण न भवति ततो व्यंजनावग्रहोऽपि उक्तो वेदितव्यः । अत्राह–ननु एवं क्रमो न कोऽपि उपलभ्यते, किंतु प्रथमत एव शब्दापायज्ञानं उपजायते, सूत्रेऽपि च अव्यक्तं इति शब्दविशेषणं कृतं, ततः अयं अर्थो व्याख्येयः–अव्यक्तं-अनवधारितशांखशार्ङ्गादिविशेषं शब्दं शृणुयादिति, इदं च व्याख्यानं उत्तरसूत्रं अपि संवादयति,–तेन-प्रमात्रा शब्द इति अवगृहीतं, न पुनरेवं जानाति–क एषः शब्दः शांखः शार्ङ्ग इति वा ?, सद्दाइ इति, अत्र आदिशब्दात् रसादिषु अपि अयमेव न्याय इति ज्ञापयति, तत ईहां प्रविशति इत्यादि सत्रं संबद्धमेव, तदेतदयुक्तं, सम्यग् वस्तुतत्वापरिज्ञानात्, इह हि यत् किमपि वस्तु निश्चीयते तत्सर्वं ईहापूर्वकमनीहितस्य सम्यग्निश्चितत्वायोगात्, न खलु प्रथमाक्षिसन्निपाते सति धूमदर्शनेऽपि यावत् किं अयं धूमः ? किं वा मशकवर्तिः इति विमृश्य धूमगतकंठक्षणनकालीकरणसोष्मतादिधर्म्मदर्शनात् सम्यक् धूमं धूमत्वेन विनिश्चिनोति तावत् स धूमो निश्चितो भवति । अनिवर्त्तितशंकतया तस्य सम्यक्निश्चितत्वायोगात्तस्मात् अवश्यं यो वस्तुविशेषनिश्चयः स ईहापूर्वकः, शब्दोऽयं इति च निश्चयो रूपादिव्यवच्छेदात्, ततोऽवश्यं इतः पूर्वं ईहया भवितव्यम् । ईहा च प्रथमतः सामान्यरूपेण अवगृहीते भवति, न अनवगृहीते, न खलु सर्वथा निरालंबनं ईहनं क्वापि भवत् उपलभ्यते, न चानुपलभ्यमानं प्रतिपत्तुं शक्नुमः । संसारिणि प्रेक्षावतां प्रतिपत्तेः प्रमाणमूलत्वात्, अन्यथा प्रेक्षावत्ताक्षतिप्रसक्तेः, तस्मात् ईहायाः प्रागवग्रहोऽपि नियमात् प्रतिपत्तव्यः । अवग्रहश्च शब्दोऽयं इति ज्ञानात् पूर्वं प्रवर्त्तमानोऽनिर्देश्यसामान्यमात्रग्रहणरूप एव उपपद्यते, न अन्यः, अत एव उक्तं सूत्रकृता–'अव्यक्तं

शब्दं शृणुयादि'ति, किं उक्तं भवति?—शब्दव्यक्त्यापि व्यक्तं न शृणोति, किंतु सामान्यमात्रं अनिर्देश्यं गृह्णाति इत्यर्थः। इह यदि वस्तु सुबोधं भवति विशिष्टश्च मतिज्ञानावरणक्षयोपशमो वर्त्तते। ततोऽन्तर्मुहूर्त्तकालेन नियमात् तद्वस्तु विनिश्चिनोति, यदि पुनः वस्तु दुर्बोधं न च तथाविधो विशिष्टो मतिज्ञानावरणक्षयोपशमः तत ईहोपयोगात् अच्युतः पुनः अंतर्मुहूर्त्तं कालं ईहते। एवं ईहोपयोगाविच्छेदेन प्रभूतानि अंतर्मुहूर्त्तानि यावत् ईहते। तत ईहानंतरं जानाति—अमुक एषोऽर्थः इति। इदं च ज्ञानं अवायरूपं, ततोऽस्मिन् ज्ञाने प्रादुर्भवति 'णं' इति वाक्यालंकारेऽपायं प्रविशति। ततः 'से' तस्य उपगतं—अविच्युत्या सामीप्येन आत्मनि परिणतं भवति, ततो धारणं—वासनारूपां प्रविशति। संख्येयं असंख्येयं वा कालं। 'एवं' अनेन क्रमप्रकारेण एतेन पूर्वदर्शितेन अभिलापेन शेषेषु अपि चक्षुः आदिषु इंद्रियेषु अवग्रहादयो वाच्याः। नवरं अभिलापविषये 'अव्वत्तं सद्दं सुणिज्जा' इति अस्य स्थाने 'अव्वत्तं रूपं पासेज्जा' इति वक्तव्यम्। उपलक्षणं एतत्तेन सर्वत्रापि शब्दस्थाने रूपं इति वक्तव्यं, तद्यथा—'तेणं रूवेत्ति उग्गहिए' इत्यादि तदवस्थं एव, नवरं इह व्यंजनावग्रहो न व्याख्येयः, अप्राप्यकारित्वात् चक्षुपो, घ्राणेंद्रियादिषु तु व्याख्येयः, एवं घ्राणेंद्रियविषये—'अव्वत्तं गंधं अग्घाइज्जा' इत्यादि वक्तव्यं, जिह्वेंद्रियविषये, अव्वत्तं रसं आसाएज्जा' इत्यादि, स्पर्शनेंद्रियविषये 'अव्वत्तं फासं पडिसंवेइज्जा' इत्यादि, यथा च शब्द इति निश्चिते तत् उत्तरकालं उत्तरधर्म्मजिज्ञासायां किं शांखः? किं वा शार्ङ्गः? इत्येवंरूपा ईहा प्रवर्त्तते तथा रूपं इति निश्चिते तदुत्तरकालं उत्तरधर्म्मजिज्ञासायां किं अयं स्थाणुः किं वा पुरुषः? इत्यादिरूपा प्रवर्त्तते, एवं घ्राणेंद्रियादिषु अपि समानगंधादीनि वस्तूनि ईहाऽऽलंबनानि वेदितव्यानि। स यथानामकः कोऽपि पुरुषोऽव्यक्तं स्वप्नं प्रतिसंवेदयेत्। अव्यक्तं नाम सकलविशेषविकलं अनिर्देश्यं इति प्रज्ञापकः सूत्रकारो वदति, स तु प्रतिपत्ता स्वप्नादिव्यक्तिविकलं किंचित् अनिर्देश्य एव तदानीं गृह्णाति, तथा तेन

प्रतिपत्ता 'सुविणोत्ति उग्गहिए' इति स्वप्नमिति अवगृहीतम्, अत्रापि स्वप्न इति प्रज्ञापको वदति। स तु प्रतिपत्ता अशेषविशेषवियुक्त एव
अवगृहीतवान्, तथा च आह–न पुनः एव जानाति–[क] एष स्वप्न इति? स्वप्न इति अपि तं अर्थं न जानाति इति भावः, ततः ईहां प्रवि-
शति इत्यादि प्राग्वत्। एवं स्वप्नं अधिकृत्य नोइंद्रियस्य अर्थावग्रहादयः प्रतिपादिताः। अनेन च उल्लेखेनान्यत्रापि विषये वेदितव्याः,
तदेवं मल्लकदृष्टांतेन व्यंजनावग्रहप्ररूपणां कुर्वता प्रसंगतो अष्टाविंशतिसंख्या अपि–मतिज्ञानस्य भेदाः सप्रपंचं उक्ताः। संप्रति मल्लक-
दृष्टांतं उपसंहरति। 'सा इयं' मल्लकदृष्टांतेन व्यंजनावग्रहस्य प्ररूपणा। एते च अवग्रहादयो अष्टाविंशतिभेदाः प्रत्येकं बह्वादिभिः
सेतरैः सर्वं संख्यया दशसंख्यैर्भेदैः भिद्यमाना यदा विवक्ष्यंते तदा षट्त्रिंशत् अधिकं भेदानां शतत्रयं भवति।

संप्रति पुनः द्रव्यादिभेदतः चतुःप्रकारतां आह–

तं समासओ चउविहं पन्नतं तं जहा–दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ। तत्थ दव्वओ णं
आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं जाणइ न पासइ। खेत्तओ णं आभिणिबोहिय
नाणी आएसेणं सव्वं खेत्तं जाणइ न पासइ। कालओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वं कालं
जाणइ न पासइ। भावओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वे भावे जाणइ न पासइ।
उग्गहईहाऽवाओ य धारणा एव हुंति चत्तारि॥ आभिणिबोहियनाणस्स भेयवत्थू समासेणं॥ १॥
अत्थाणं उग्गहणंमि उग्गहे, तह विआलणे ईहा॥ ववसायंमि अवाओ, धरणं पुण धारणं बिंति॥ २॥
उग्गह इक्कं समयं, ईहावाया मुहुत्तमद्धं तु॥ कालमसंखं संखं च, धारणा होइ नायव्वा॥ ३॥

शब्दं शृणुयादि'ति, किं उक्तं भवति?—शब्दव्यक्त्यापि व्यक्तं न शृणोति, किंतु सामान्यमात्रं अनिर्देश्यं गृह्णाति इत्यर्थः। इह यदि वस्तु सुबोधं भवति विशिष्टश्च मतिज्ञानावरणक्षयोपशमो वर्त्तते। ततोऽन्तर्मुहूर्त्तकालेन नियमात् तद्वस्तु विनिश्चिनोति, यदि पुनः वस्तु दुर्बोधं न च तथाविधो विशिष्टो मतिज्ञानावरणक्षयोपशमः तत ईहोपयोगात् अच्युतः पुनः अंतर्मुहूर्त्तं कालं ईहते। एवं ईहोपयोगाविच्छेदेन प्रभूतानि अंतर्मुहूर्त्तानि यावत् ईहते। तत ईहानंतरं जानाति—अमुक एषोऽर्थः इति। इदं च ज्ञानं अवायरूपं, ततोऽस्मिन् ज्ञाने प्रादुर्भवति 'णं' इति वाक्यालंकारेऽपायं प्रविशति। ततः 'से' तस्य उपगतं—अविच्युत्या सामीप्येन आत्मनि परिणतं भवति, ततो धारणं—वासनारूपां प्रविशति। संख्येयं असंख्येयं वा कालं। 'एवं' अनेन क्रमप्रकारेण एतेन पूर्वदर्शितेन अभिलापेन शेषेषु अपि चक्षुः आदिषु इंद्रियेषु अवग्रहादयो वाच्याः। नवरं अभिलापविषये 'अव्वत्तं सद्दं सुणिज्जा' इति अस्य स्थाने 'अव्वत्तं रूवं पासेज्जा' इति वक्तव्यम्। उपलक्षणं एतत्तेन सर्वत्रापि शब्दस्थाने रूपं इति वक्तव्यं, तद्यथा—'तेणं रूवेत्ति उग्गहिए' इत्यादि तदवस्थं एव, नवरं इह व्यंजनावग्रहो न व्याख्येयः, अप्राप्यकारित्वात् चक्षुषो, घ्राणेंद्रियादिषु तु व्याख्येयः, एवं घ्राणेंद्रियविषये—'अव्वत्तं गंधं अग्घाइज्जा' इत्यादि वक्तव्यं, जिह्वेंद्रियविषये, अव्वत्तं रसं आसाएज्जा' इत्यादि, स्पर्शनेंद्रियविषये 'अव्वत्तं फासं पडिसंवेइज्जा' इत्यादि, यथा च शब्द इति निश्चिते तत् उत्तरकालं उत्तरधर्म्मजिज्ञासायां किं शांखः? किं वा शार्ङ्गः? इत्येवंरूपा ईहा प्रवर्त्तते तथा रूपं इति निश्चिते तदुत्तरकालं उत्तरधर्म्मजिज्ञासायां किं अयं स्थाणुः किं वा पुरुषः? इत्यादिरूपा प्रवर्त्तते, एवं घ्राणेंद्रियादिषु अपि समानगंधादीनि वस्तूनि ईहाऽऽलंबनानि वेदितव्यानि। स यथानामकः कोऽपि पुरुषोऽव्यक्तं स्वप्नं प्रतिसंवेदयेत्। अव्यक्तं नाम सकलविशेषविकलं अनिर्देश्यं इति प्रज्ञापकः सूत्रकारो वदति, स तु प्रतिपत्ता स्वप्नादिव्यक्तिविकलं किंचित् अनिर्देश्य एव तदानीं गृह्णाति, तथा तेन

प्रतिपत्ता 'सुविणोत्ति उग्गहिए' इति स्वप्नमिति अवगृहीतम्, अत्रापि स्वप्न इति प्रज्ञापको वदति। स तु प्रतिपत्ता अशेषविशेषवियुक्त एव
अवगृहीतवान्, तथा च आह—न पुनः एव जानाति—[क] एष स्वप्न इति ? स्वप्न इति अपि तं अर्थं न जानाति इति भावः, ततः ईहां प्रवि-
शति इत्यादि प्राग्वत्। एवं स्वप्नं अधिकृत्य नोइंद्रियस्य अर्थावग्रहादयः प्रतिपादिताः। अनेन च उल्लेखेनान्यत्रापि विषये वेदितव्याः,
तदेवं मल्लकदृष्टांतेन व्यंजनावग्रहप्ररूपणां कुर्वता प्रसंगतो अष्टाविंशतिसंख्या अपि-मतिज्ञानस्य भेदाः सप्रपंचं उक्ताः। संप्रति मल्लक-
दृष्टांतं उपसंहरति। 'सा इयं' मल्लकदृष्टांतेन व्यंजनावग्रहस्य प्ररूपणा। एते च अवग्रहादयो अष्टाविंशतिभेदाः प्रत्येकं बह्वादिभिः
सेतरैः सर्वं संख्यया दशसंख्यैर्भेदैः भिद्यमाना यदा विवक्ष्यंते तदा षट्त्रिंशत् अधिकं भेदानां शतत्रयं भवति।

संप्रति पुनः द्रव्यादिभेदतः चतुःप्रकारतां आह—

तं समासओ चउव्विहं पन्नत्तं तं जहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ। तत्थ दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं जाणइ न पासइ। खेत्तओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वं खेत्तं जाणइ न पासइ। कालओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वं कालं जाणइ न पासइ। भावओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वे भावे जाणइ न पासइ।

आभिणिबोहियनाणस्स भेयवत्थू समासेणं ॥ उग्गहईहाऽवाओ य धारणा एव हुंति चत्तारि ॥ १ ॥
अत्थाणं उग्गहणंमि उग्गहे, तह विआलणे ईहा ॥ ववसायंमि अवाओ, धरणं पुण धारणं बिंति ॥ २ ॥
उग्गह इक्कं समयं, ईहावाया मुहुत्तमद्धं तु ॥ कालमसंखं संखं च, धारणा होइ नायव्वा ॥ ३ ॥

पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासइ अपुट्ठं तु ॥ गंधं रसं च फासं च, बद्धपुट्ठं वियागरे ॥ ४ ॥
भासासमसेढीओ, सद्दं जं सुणइ मीसियं सुणइ ॥ वीसेढी पुण सद्दं, सुणइ नियमा पराघाए ॥ ५ ॥
ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा ॥ सन्ना सई मई पन्ना, सव्वं आभिणिबोहिअं ॥ ६ ॥

सेत्तं आभिणिबोहियनाणपरोक्खं । (सेत्तं मइनाणं)

'तन्मतिज्ञानं' 'समासतः' चतुर्विधं, प्रज्ञप्तं, तद्यथा द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो'णं' इति वाक्यालंकारे, आभिनिबोधिकज्ञानी 'आदेसेणं'ति आदेशः-प्रकारः, स च द्विधा-सामान्यरूपो विशेषरूपश्च' तत्र इह सामान्यरूपो ग्राह्यः, तत आदेशेन-द्रव्यजातिरूपसामान्योद्देशेन सर्वद्रव्याणि-धर्म्मास्तिकायदीनि जानाति किंचित् विशेषतोऽपि, यथा धर्म्मास्तिकायो धर्म्मास्तिकायस्य प्रदेशाः तथा धर्मास्तिकायो गतिउपष्टंभहेतुः अमूर्त्तो लोकाकाशप्रमाण इत्यादि, न पश्यति——सर्वात्मना धर्म्मास्तिकायादीन् न पश्यति, । घटादींस्तु योग्यदेशावस्थितान् पश्यति अपि, अथवा आदेश इति-सूत्रादेशः । तस्मात् सूत्रादेशात् सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि जानाति, न तु साक्षात्सर्वाणि पश्यति । ननु यत्सूत्रादेशतो ज्ञानं उपजायते तत् श्रुतज्ञानं भवति, शब्दार्थपरिज्ञानरूपत्वात् अथ च मतिज्ञानं अभिधीयमानं वर्त्तते तत्कथं आदेश इति सूत्रादेशो व्याख्यातः ? तदयुक्तं, सम्यक् वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । इह हि श्रुतभावितमतेः श्रुतोपलब्धेषु सूत्रानुसारमात्रेण येऽवग्रहेहापायादयो बुद्धिविशेषाः प्रादुःपंति ते मतिज्ञानं एव, न श्रुतज्ञानं, सूत्रानुसारनिरपेक्षत्वात्, एवं क्षेत्रादिपु वाच्यं, नवरं तान् सर्वथा न पश्यति, तत्र क्षेत्रं लोकालोकात्मकम् । कालः सर्वाद्धारूपोऽतीतानागतवर्त्तमानरूपो वा, भावाश्च पंच संख्या औदयिकादयः, संप्रति संग्रहगाथां प्रतिपादयति-'उग्गहो' इत्यादि, अवग्रहः-प्राग्निरूपित-

शब्दार्थः । तथा ईहा अपायश्च, चशब्दः पृथगवग्रहादिस्वरूपस्वातंत्र्यप्रदर्शनार्थः, अवग्रहादयः परस्परं पर्याया न भवंति इति भावार्थः,
१ अथवा चशब्दः समुच्चये, तस्य च व्यवहितः प्रयोगो धारणा च इत्येवं द्रष्टव्यम्। एवकारः क्रमप्रदर्शनार्थः, एवमनेन क्रमेण 'समासेन'
संक्षेपेण चत्वारि आभिनिबोधिकज्ञानस्य भिद्यंते इति भेदा विकल्पा अंशा इत्यर्थः। त एव वस्तूनि भवंति, तथाहि–न अनवगृहीतं ईह्यते
न अनीहितं निश्चीयते न अनिश्चितं धार्यते इति ॥ १ ॥ इदानीं एतेषां एव अवग्रहादीनां स्वरूपं प्रतिपिपादयिषुराह–अर्थानां–रूपादीनां
अवग्रहणं चशब्दो अवग्रहणस्य अव्यक्तत्वसामान्यमात्रसामान्यविशेषविषयत्वापेक्षया स्वगतभेदबाहुल्यसूचकः, अवग्रहं ब्रुवते इति योगः,
'तथा' इति आनंतर्यविचारणं–पर्यालोचनं अर्थानां इति वर्त्तते, ईहां ब्रुवते, तथा विविधोऽवसायो [व्यवसायो]–निर्णयः तं च अर्थानामिति
वर्त्तते। अपायं ब्रुवते इति संसर्गः, धरणं पुनः अर्थानां अविच्युतिस्मृतिवासनारूपां धारणां ब्रुवते तीर्थंकरगणधराः, ॥ २ ॥ इदानीं
अभिहितस्वरूपाणां अवग्रहादीनां कालप्रमाणं अभिधित्सुराह–अवग्रहोऽर्थावग्रहो नैश्चयिक एकं समयं यावत् भवति, समयः परमनिकृष्टः
कालविभागः, स च प्रवचनप्रतिपादितात् उत्पलपत्रशतव्यतिभेदोदाहरणात् जरत्पट्टशाटिकापाटनदृष्टान्तात् च अवसेयः, व्यंजनाव-
ग्रहविशेषसामान्यार्थावग्रहौ तु पृथग् २ अंतर्मुहूर्तप्रमाणौ ज्ञातव्यौ, ईहा च अपायश्च ईहापायौ, मुहूर्तो घटिकाद्वयप्रमाणः,–कालविशेषः
तस्यार्द्धं मुहूर्तार्द्धं, तुशब्दो विशेषणार्थः, स च एतद्विशिनष्टि–व्यवहारापेक्षया एतद्मुहूर्तार्द्धं इति उच्यते, परमार्थतः पुनः अंतर्मुहूर्त्तम-
वसेयं, अन्ये पुनः एवं पठंति–"मुहुत्तमंतं तु" अत्र मकारोऽलाक्षणिकः, तत एवं द्रष्टव्यं–मुहूर्तांतः–मुहूर्तस्य अंतर्मध्यं मुहूर्तांतः,
अंतर्मुहूर्तमित्यर्थः । इह 'पारे मध्येऽग्रेऽतः पष्ठ्या वा' इति विकल्पेन अंतःशब्दस्य प्राग् निपातो भवति, ततः सूत्रे अंतःशब्दस्य
प्राग्निपातो न विहितः । तथा धारणा कालं-असंख्येयं–पल्योपमादिलक्षणं, संख्येयं च–वर्षादिरूपं यावत् भवति ज्ञातव्या, धारणा च

इह वासनारूपा द्रष्टव्या, अविच्युतिस्मृती तु प्रत्येकं अंतमुहूर्त्तप्रमाणे वेदितव्ये । ३ । तत एवं अवग्रहादीनां स्वरूपं अभिधाय श्रोत्रेंद्रियादीनां प्राप्ताप्राप्तविषयतां प्रतिपिपादयिषुराह–इह श्रोत्रेंद्रियेण शब्दं शृणोति स्पृष्टं–स्पृष्टमात्रं, स्पृष्टं नाम आलिंगितं यथा तनौ रेणुसंघातः, अथ कथं स्पृष्टमात्रं एव शब्दं शृणोति ?, उच्यते । इह शेषेंद्रियगणापेक्षया श्रोत्रेंद्रियं अतिशयेन पटु, तथा गंधादिद्रव्यापेक्षया शब्दद्रव्याणि सूक्ष्माणि प्रभूतानि भावुकानि च, अत एव सर्वतः तदिंद्रियं व्याप्नुवंति । ततस्तानि स्पृष्टमात्राणि अपि श्रोत्रेंद्रियेण ग्रहीतु शक्यंते, रूपं पुनः पश्यति । अस्पष्टं तु अस्पृष्टं एव, तुः एवकारार्थः, अप्राप्यकारित्वात् चक्षुषः, तथा गंधं रसं च स्पर्शं च, चशब्दौ समुच्चयार्थौ, बद्धस्पृष्टं घ्राणादिभिः इंद्रियैः विनिश्चिनोति इति व्यागृणीयात् । इह बद्धस्पृष्टं इति स्पृष्टबद्धं इति विज्ञेयं, प्राकृतशैल्या च अन्यथा सूत्रे उपन्यासः, तत्र स्पृष्टं इति आलिंगितं बद्धं–तोयवत् आत्मप्रदेशैः आत्मीकृतं आलिंगितानंतरं आत्मप्रदेशैः आगृहीतं इत्यर्थः । इह शब्दं उत्कर्षतो द्वादशयोजनेभ्यः आगतं शृणोति, न परतः, शेषाणि तु गंधादिद्रव्याणि प्रत्येकं नवभ्यो २ योजनेभ्यः आगतानि घ्राणादिभिः इंद्रियैः गृह्णाति जीवो न परतः, परतः समागतानां द्रव्याणां मंदपरिणामतया इंद्रियग्राह्यत्वासंभवात् । जघन्यतस्तु शब्दादिद्रव्याणि अंगुलासंख्येयभागात् आगतानि, चक्षुषस्तु जघन्यतो योग्यो विषयोऽगुलासंख्येयभागवर्ती वेदितव्यः, उत्कर्षतस्तु आत्मांगुलेन सातिरेको योजनलक्षः, एतदपि चाभासुरद्रव्यं अधिकृत्य उच्यते । भासुरं द्रव्यं एकविंशतियोजनलक्षेभ्योऽपि परतः पश्यंति । यथा पुष्करवरद्वीपार्द्धे मानुषोत्तरनगप्रत्यासन्नवर्त्तिनः कर्कसंक्रातौ सूर्यबिंबं, तथा च उक्तं–"लक्खेहि एक्वीसाए साइरेगेहि पुक्खरद्धम्मि । उदये पेछंति नरा सूरं उकोसए दिवसे ॥ १ ॥" अत्राह–ननु स्पृष्टं शृणोति शब्दं इत्युक्तं, तत्र शब्दप्रयोगोत्सृष्टानि एव केवलानि शब्दद्रव्याणि, शृणोति उत अन्यानि एव तत्र भावितानि आहोश्वित मिश्राणि इति, ? उच्यते, न

तावत् केवलानि, यतो वासकानि शब्दद्रव्याणि शब्दयोग्यानि च द्रव्याणि सकललोकव्यापीनि ततोऽवश्यं तत् वासितानि शृणोति
मिश्राणि वा, न केवलानि एव उत्सृष्टानि ।४।, तथा च आह—भाषत इति भाषा—वाक्शब्दरूपतया उत्सृज्यमाना द्रव्यसंततिः सा च
वर्णात्मिका भेरीभांकारादिरूपा वा द्रष्टव्या तस्याः समश्रेणयः, श्रेणयो नाम क्षेत्रप्रदेशपंक्तयोऽभिधीयंते । ताश्च सर्वस्य एव भाषमाणस्य
षट्सु दिक्षु विद्यंते यास्तूत्सृष्टा सती भाषा प्रथमसमय एव लोकांतं अनुधावति, भाषासमश्रेणयः, समश्रेणिग्रहणं विश्रेणिव्यवच्छेदार्थं,
भाषासमश्रेणीः इतो—गतः प्राप्तो भाषासमश्रेणीतः, भाषासमश्रेणिव्यवस्थित इत्यर्थः, यं शब्दं पुरुषादिसंबंधिनं भेर्यादिसंबंधिनं वा
शृणोति । यत्तदोर्नित्याभिसंबंधात् तं मिश्रं शृणोति, उत्—सृष्टशब्दद्रव्यभावितापांतरालस्थशब्दद्रव्यमिश्रं शृणोति इति भावार्थः 'विसेढी'
त्यादि, अत्र इत इति वर्त्तते, ततोऽयमर्थः—विश्रेणिं पुनः इतः—प्राप्तो, विश्रेणिव्यवस्थितः पुनरित्यर्थः, अथवा विश्रेणिस्थितो विश्रेणिः
इति उच्यते, शब्दं शृणोति नियमात् पराघाते सति, न अन्यथा, किमुक्तं भवति ?—उत्सृष्टशब्दद्रव्याभिघातेन यानि वासितानि
शब्दद्रव्याणि तानि एव केवलानि शृणोति । न कदाचित् अपि उत्सृष्टानि, कुत इति चेदुच्यते, तेषां अनुश्रेणिगमनात् प्रतिघाता-
भावाच्च ।५।, संप्रति विनेयजनसुखप्रतिपत्तये मतिज्ञानस्य पर्यायशब्दान् अभिधित्सुराह—एते ईहादयः शब्दाः सर्वेऽपि परमार्थतो
मतिवाचकाः पर्यायशब्दाः, परं विनेयजनबुद्धिप्रकाशनाय किञ्चिद्भेदः अमीषां प्रदर्श्यते—ईहनं ईहा—सदर्थपर्यालोचनं अपोहनं अपोहो
निश्चय इत्यर्थः । विमर्शनं विमर्शः—अपायादर्वाक् ईहायाः परिणामविशेषः, मार्गणा—अन्वयधर्मान्वेषणं, चः समुच्चये । गवेषणं
गवेषणा—व्यतिरेकधर्म्मालोचनं, तथा संज्ञानं संज्ञा व्यंजनावग्रहोत्तरकालभावी मतिविशेष इत्यर्थः, तथा स्मरणं स्मृतिः—पूर्वानुभूतार्था-
लंबनः प्रत्ययविशेषः, मननं मतिः—कथंचित् अर्थपरिच्छित्तौ अपि सूक्ष्मधर्मालोचनरूपा बुद्धिः, प्रज्ञापनं प्रज्ञा—विशिष्टक्षयोपशमजन्या

प्रभूतवस्तुगतयथावस्थितधर्म्मालोचनरूपा संवित् । सर्वं इदं आभिनिबोधिकं, मतिज्ञानमित्यर्थः ।६। तदेतद् आभिनिबोधिकं ज्ञानं ॥

संप्रति प्रागुपन्यस्तसकलचरणकरणक्रियाधारश्रुतज्ञानस्वरूपजिज्ञासया शिष्यः प्रश्नयति—

अथ किं तत् श्रुतज्ञानं ?, आचार्य आह—

से किं तं सुयनाण परोक्खं ? सुयनाणपरोक्खं चोद्दसविहं पन्नतं, तं जहा–अक्खरसुयं[1], अणक्खरसुयं[2], सन्निसुयं[3], असन्निसुयं[4] सम्मसुयं[5], मिच्छसुयं[6], साइसुयं[7], अणाइसुयं[8] सपज्जवसिअसुयं[9], अपज्जवसिअसुयं[10], गमियसुयं[11], अगमियसुयं[12], अंगपविट्ठसुयं[13], अणंगपविट्ठसुयं[14] ।

श्रुतज्ञानं चतुर्दशविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–अक्षरश्रुतं १, अनक्षरश्रुतं २, संज्ञिश्रुतं ३, असंज्ञिश्रुतं ४, सम्यक्श्रुतं ५, मिथ्याश्रुतं ६-सादि ७, अनादि ८, सपर्यवसितं ९, अपर्यवसितं १०, गमिकं ११, अगमिकं १२, अंगप्रविष्टं १३, अनंगप्रविष्टं च १४ । ननु अक्षरश्रुताऽनक्षरश्रुतरूप एव भेदद्वये शेषभेदा अन्तर्भवंति तत्किमर्थं तेषां भेदानां उपन्यासः ?, उच्यते । इह अव्युत्पन्नमतीनां विशेषावगमसंपादनाय महात्मनां शास्त्रारंभप्रयासो न च अक्षरश्रुतानक्षरश्रुतरूपभेदद्वयोपन्यासमात्रात् अव्युत्पन्नमतयः शेषभेदान-वगंतुमीशते, ततो अव्युत्पन्नमतिविनेयजनानुग्रहाय शेषभेदोपन्यास इति । साम्प्रतं उपन्यस्तानां भेदानां स्वरूपं अनवगच्छन् आद्यं भेदं अधिकृत्य शिष्यः प्रश्नं करोति—

से किं तं अक्खरसुयं ? अक्खरसुयं तिविहं पन्नतं, तं जहा–सन्नक्खरं–वंजणक्खरं लद्धिअक्खरं ।

से किं तं सन्नक्खरं ? सन्नक्खरं अक्खरस्स संठाणगइ सेत्तं सन्नक्खरं । से किं तं वंजणक्खरं ?

[वंजणक्खरं] अक्खरस्स वंजणाभिलावो, सेत्तं वंजणक्खरं। से किं तं लद्धिअक्खरं? लद्धिअक्खरं अक्खरलद्धियस्स लद्धिअक्खरं समुप्पज्जइ, तंजहा—सोइंदियलद्धिअक्खरं चक्खिदियलद्धिअक्खरं, घाणिंदियलद्धिअक्खरं, जिब्भिदियलद्धिअक्खरं, फासिंदियलद्धिअक्खरं, नोइंदियलद्धिअक्खरं। सेत्तं अक्खरसुयं। से किं तं अणक्खरसुयं, अणक्खरसुयं अणेगविहं पन्नतं, तं जहा—

ऊससियं नीससियं निच्छूढं खासियं च छीअं च।
निस्सिंघिअमणुसारं अणक्खरं छेलिआइअं॥ १॥
सेत्तं अणक्खरसुयं।

अथ किं तत् अक्षरश्रुतं?, सूरिराह—अक्षरश्रुतं त्रिविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—संज्ञाक्षरं व्यञ्जनाक्षरं लब्ध्यक्षरं च। तत्र 'क्षर संचलने' न क्षरति—न चलति इति अक्षरं—ज्ञानं, तत् हि जीवस्वाभाव्यात् अनुपयोगेऽपि तत्त्वतो न प्रच्यवते। यद्यपि च सर्वं ज्ञानं एवं अविशेषेणाक्षरं प्राप्नोति तथापि इह श्रुतज्ञानस्य प्रस्तावादक्षरं श्रुतज्ञानमेव द्रष्टव्यं न शेषं, इत्थंभूतभावाक्षरकारणं च अकारादिवर्णजातमतः तदपि उपचारात् अक्षरं उच्यते। ततश्च अक्षरं च तत्, श्रुतं च श्रुतज्ञानं च अक्षरश्रुतं, भावश्रुतं इत्यर्थः। तच्च लब्ध्यक्षरं वेदितव्यं, तथा अक्षरात्मकं अकारादिवर्णात्मकं श्रुतं अक्षरश्रुतं द्रव्यश्रुतमित्यर्थः, तच्च संज्ञाक्षरं व्यंजनाक्षरं च द्रष्टव्यं, अथ किं तत् संज्ञाक्षरं?, अक्षरस्य अकारादेः संस्थानाकारः, तथा हि—संज्ञायते अनया इति संज्ञा—नाम तत् निबंधनं—तत् कारणं अक्षरं संज्ञाक्षरं संज्ञायाश्च निबंधनं आकृतिविशेषः, आकृतिविशेषे एव नाम्नः करणात् व्यवहरणात् च, ततोऽक्षरस्य पट्टिकादौ संस्थापितस्य संस्थानाकृतिः

संज्ञाक्षरं उच्यते। तच्च ब्राह्म्यादिलिपिभेदतो अनेकप्रकारं, तत्र नागरीं लिपिं अधिकृत्य किंचित् प्रदर्श्यते—मध्ये स्फाटितचुल्ली-सन्निवेशसदृशो रेखासंनिवेशविशेषो णकारो वक्रीभूतश्वपुच्छसन्निवेशसदृशो ढकार इत्यादि, तदेतत् संज्ञाक्षरं, अथ किं तत् व्यंजनाक्षरं? आचार्य आह—व्यंजनाक्षरं अक्षरस्य व्यंजनाभिलापः, तथा हि—व्यज्यतेऽनेन अर्थः प्रदीपेन इव घट इति व्यंजनं—भाष्यमाणं अकारादिकं वर्णजातं, तस्य विवक्षितार्थाभिव्यंजकत्वात्, व्यंजनं च तदक्षरं च व्यंजनाक्षरं, अथ किं तत् लब्ध्यअक्षरं?, लब्धि उपयोगः स च इह प्रस्तावात् शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी गृह्यते। लब्धिरूपं अक्षरं लब्ध्यक्षरं, भावश्रुतमित्यर्थः, अक्षरे—अक्षरस्य उच्चारणेऽवगमे वा लब्धिर्यस्य सोऽक्षरलब्धिकः तस्य, अकारादिअक्षरानुविद्धश्रुतलब्धिसमन्वितस्य इत्यर्थः। लब्ध्यक्षरं भावश्रुतं समुत्पद्यते, शब्दादिग्रहणसमनंतरं इंद्रियमनोनिमित्तं शब्दार्थपर्यालोचनानुसारिशांखोऽयं इत्यादि अक्षरानुविद्धं ज्ञानं उपजायते इत्यर्थः। ननु इदं लब्ध्यक्षरं संज्ञिनां एव पुरुषादीनां उपपद्यते न असंज्ञिनां एकेंद्रियादीनां, तेषां अकारादिवर्णानां अवगमे उच्चारणे वा लब्ध्यसंभवात् न हि तेषां परोपदेशश्रवणं संभवति। येन अकारादिवर्णानां अवगमादि भवेत् अथ च एकेंद्रियादीनां अपि लब्ध्यक्षरं इष्यते, तथा हि—पार्थिवादीनां अपि भावश्रुतं उपवर्ण्यते—'दव्वसुयाभावंमिवि भावसुयं पत्थिवाईणं' इति वचनप्रामाण्यात्। भावश्रुतं च शब्दार्थपर्यालोचनानुसारिविज्ञानं, शब्दार्थपर्यालोचनं च अक्षरमंतरेण न भवति इति, सत्यमेतत्, किंतु यद्यपि तेषां एकेंद्रियादीनां परोपदेशश्रवणासंभवः तथापि तेषां तथाविधक्षयोपशमभावतः कश्चित् अव्यक्तोऽक्षरलाभो भवति। यद्वशादक्षरानुषक्तं श्रुतज्ञानमुपजायते, इत्थं च एतदंगीकर्त्तव्यं, तथा हि—तेषां अपि आहारादि अभिलाष उपजायते। अभिलाषश्च प्रार्थना, सा च यदि इदं अहं प्राप्नोमि ततो भव्यं भवति इत्यादि अक्षरानुविद्धैव, ततः तेषां अपि काचित् अव्यक्ताक्षरलब्धिः अवश्यं

प्रतिपत्तव्या, ततस्तेषां अपि लब्ध्यक्षरं संभवति इति न कश्चित् दोषः । तच्च लब्ध्यक्षरं षोढा, तद्यथा–'श्रोत्रेंद्रियलब्धि
अक्षर'मित्यादि । इह यत् श्रोत्रेंद्रियेण शब्दश्रवणे सति शांखोऽयमित्यादि अक्षरानुविद्धं शब्दार्थपर्यालोचनानुसारि विज्ञानं तत्
श्रोत्रेंद्रियलब्ध्यक्षरं, तस्य श्रोत्रेंद्रियनिमित्तत्वात्, यत्पुनश्चक्षुषा आम्रफलादि उपलभ्य आम्रफलं इत्यादि अक्षरानुविद्धं शब्दार्थ-
पर्यालोचनात्मकं विज्ञानं तत् चक्षुरिंद्रियलब्ध्यक्षरं, एवं शेषेंद्रियलब्ध्यअक्षरमपि भावनीयं, तदेतत् लब्ध्यक्षरं । तदेतद-
क्षरश्रुतं । अथ किं तदनक्षरश्रुतं? अनक्षरात्मकं श्रुतं अनक्षरश्रुतं, आचार्य आह–अनक्षरश्रुतं अनेकविधं–अनेकप्रकारं प्रज्ञप्तं,
तद्यथा–उच्छ्वसनं उच्छ्वसितं, भावे निष्ठाप्रत्ययः, तथा निःश्वसितं निष्ठीवनं निष्ठ्यूतं काशनं काशितं, चशब्दः समुच्चयार्थः, क्षवणं
क्षुतं, एषोऽपि चशब्दः समुच्चयार्थः । परमस्य व्यवहितः प्रयोगः, सेंटितादिकं च इत्येवं द्रष्टव्यः, तथा 'निस्सिंघनं निस्सिंघितं,
अनुस्वारवत् अनुस्वारं, सानुस्वारमित्यर्थः, तथा सेंटितादिकं च अनक्षरश्रुतं, इह उच्छ्वसितादि द्रव्यश्रुतं द्रष्टव्यं, ध्वनिमात्रत्वात् भाव-
श्रुतकारणकार्यत्वाच्च । तथा हि–यदाभिसंधिपूर्वकं स विशेषतरं उच्छ्वसितादिकस्यापि पुंसः कस्यचिदर्थस्य ज्ञप्तये प्रयुंक्ते तदा तत् तत्
स्वसितादि प्रयोक्तुर्भावश्रुतस्य फलं श्रोतुश्च भावश्रुतस्य कारणं भवति । ततो द्रव्यश्रुतं इति उच्यते । अथ ब्रवीथाः–एवं तर्हि करादि-
चेष्टाया अपि द्रव्यश्रुतत्वप्रसंगः, सापि हि बुद्धिपूर्विका क्रियमाणा तत् कर्तुः भावश्रुतस्य फलं द्रष्टुश्च भावश्रुतस्य कारणं इति, नैष
दोषः । श्रुतमिति अन्वर्थाश्रयणात्, तथा हि–यत् श्रूयते तत् श्रुतं इति उच्यते, न च करादिचेष्टा श्रूयते ततो न तत्र द्रव्यश्रुतत्वप्रसंगः,
उच्छ्वसितादिकं तु श्रूयतेऽनक्षरात्मकं च ततस्तदनक्षरश्रुतमिति उक्तं, तदेतदनक्षरश्रुतं ।

से किं तं सन्निसुयं? सन्निसुयं तिविहं पन्नत्तं तं जहा–कालिओवएसेणं हेउवएसेणं दिट्ठिवाओवएसेणं ।

से किं तं कालिओवएसेणं ? कालिओवएसेणं जस्स णं अत्थि ईहा अवोहो मग्गणा गवेसणा चिंता विमंसा सेणं सन्नीति लब्भइ, जस्स णं नत्थि ईहा अवोहो मग्गणा वेसणा चिंता विमंसा सेणं असन्नीति लब्भइ। सेत्तं कालिओवएसेणं। से किं तं हेउवएसेणं? हेउवएसेणं जस्स णं अत्थि अभिसंधारणपुव्विआ करणसत्ती से णं सन्नीति लब्भइ। जस्स णं नत्थि अभिसंधारणपुव्विआ करणसत्ती से णं असन्नीति लब्भइ। सेत्तं हेउवएसेणं। से किं तं दिट्ठिवाओवएसेणं? दिट्ठिवा-ओवएसेणं सन्निसुयस्स खओवसमेणं सन्नी लब्भइ। असन्निसुयस्स खओवसमेणं असन्नी लब्भइ सेत्तं दिट्ठिवाओवएसेणं। सेत्तं सन्निसुयं। सेत्तं असन्निसुयं।

अथ किं तत् संज्ञिश्रुतं ?, संज्ञानं संज्ञा साऽस्यास्तीति संज्ञी तस्य श्रुतं संज्ञिश्रुतं, आचार्य आह–संज्ञिश्रुतं त्रिविधं प्रज्ञप्तं, संज्ञिनः त्रिभेदत्वात्तत् एव त्रिभेदत्वं संज्ञिनो दर्शयति, तद्यथा-कालिक्युपदेशेन १ हेतूपदेशेन २ दृष्टिवादोपदेशेन ३, तत्र कालिक्युपदेशेन इति अत्रादिपदलोपात् दीर्घकालिक्युपदेशेन इति द्रष्टव्यम्। अथ कोऽयं कालिक्युपदेशेन संज्ञी ?, इह दीर्घकालिकी संज्ञा कालिकी इति व्युपदिश्यते, आदिपदलोपात् उपदेशनं उपदेशः–कथनमित्यर्थः दीर्घकालिक्या उपदेशः दीर्घकालिक्युपदेशः तेन, आचार्य आह–कालिक्युपदेशेन संज्ञी स उच्यते, यस्य प्राणिनोऽस्ति विद्यते ईहा–सदर्थपर्यालोचनं अपोहो–निश्चयः मार्गणा–अन्वयधर्म्मान्वेषणरूपा गवेषणा–व्यतिरेकधर्म्मस्वरूपपर्यालोचनं चिंता–कथं इदं भूतं कथं च इदं संप्रति कर्त्तव्यं कथं च एतत् भविष्यति इति पर्यालोचनं विमर्शः–इदं इत्थं एव घटते इत्थं वा तत् अभूत् इत्थं एव वा तद्भावि इति यथावस्थितवस्तुस्वरूपनिर्णयः स प्राणी 'णं' इति

वाक्यालंकारे संज्ञी इति लभ्यते । स च गर्भव्युत्क्रांतिकः पुरुषादिः-औपपातिकश्च देवादिर्मनःपर्याप्तियुक्तो विज्ञेयः । तस्य एव त्रिकाल-
विषयचिन्ताविमर्शादिसंभवात्, एष च प्रायः सर्वमपि अर्थं स्फुटरूपं उपलभते, तथा हि-यथा चक्षुष्मान् प्रदीपादिप्रकाशेन स्फुटं अर्थं
उपलभते तथा एषोऽपि मनोलब्धिसंपन्नो मनोद्रव्यावष्टंभसमुत्थविमर्शवशतः पूर्वापरानुसंधानेन यथावस्थितं स्फुटं अर्थं उपलभते, यस्य
पुनः नास्ति ईहा अपोहो मार्गणा गवेषणा चिंता विमर्शः सोऽसंज्ञी इति लभ्यते । स च संमूर्च्छिमपंचेंद्रियविकलेंद्रियादिर्विज्ञेयः, स हि
स्वल्पस्वल्पतरमनोलब्धिसंपन्नत्वात् अस्फुटमस्फुटतरं अर्थं जानाति। तथा हि-संज्ञिपंचेंद्रियापेक्षया संमूर्छिमपंचेंद्रियोऽस्फुटं अर्थं जानाति।
ततोऽपि अस्फुटं चतुरिंद्रियः, ततोऽपि अस्फुटतरं त्रींद्रियः, ततोऽप्यस्फुटतमं द्वींद्रियः, ततोऽपि अस्फुटतमं एकेंद्रियः, तस्य प्रायो
मनोद्रव्यासंभवात्, केवलं अव्यक्तं एव किंचित् अतीव अल्पतरं मनो द्रष्टव्यम्, यद्वशात् आहारादिसंज्ञा अव्यक्तरूपाः प्रादुःषंति, सोऽयं
कालिक्युपदेशेन संज्ञी । अथ कोऽयं हेतूपदेशेन संज्ञी ?, हेतुः कारणं निमित्तं इति अनर्थांतरं, उपदेशनं उपदेशः हेतोः उपदेशनं
हेतूपदेशः तेन, किं उक्तं भवति ? । कोऽयं संज्ञित्वनिबंधनं हेतुं उपलभ्य कालिक्युपदेशेन असंज्ञ्यपि संज्ञी इति व्यवह्रियते ? ।
आचार्य आह-हेतूपदेशेन संज्ञी यस्य प्राणिनोऽस्ति-विद्यते अभिसंधारणं-अव्यक्तेन व्यक्तेन वा विज्ञानेन आलोचनं तत् पूर्विका-
तत् कारणिका 'करणशक्तिः' करणं क्रिया तस्यां शक्तिः-प्रवृत्तिः स प्राणी 'णं' इति वाक्यालंकारे हेतूपदेशेन संज्ञीति लभ्यते ।
एतदुक्तं भवति-यो बुद्धिपूर्वकं स्वदेहपरिपालनार्थं इष्टेषु आहारादिषु वस्तुषु प्रवर्त्तते अनिष्टेभ्यश्च निवर्त्तते स हेतूपदेशेन संज्ञी स च
द्वींद्रियादिः अपि वेदितव्यः, तथा हि-इष्टानिष्टविषयप्रवृत्तिनिवृत्तिसंचिंतनं न मनोव्यापारमंतरेण संभवति । मनसा च पर्यालोचनं
संज्ञा, सा च द्वींद्रियादेः अपि विद्यते, तस्यापि प्रतिनियत इष्टानिष्टविषयप्रवृत्तिनिवृत्तिदर्शनात् । ततो द्वींद्रियादिः अपि हेतूपदेशेन

संज्ञी लभ्यते, न वरं अस्य संचिंतनं प्रायो वर्त्तमानकालविषयं न भूतभविष्यद्विषयं इति न कालिक्युपदेशेन संज्ञी लभ्यते। यस्य पुनः नास्ति अभिसंधारणपूर्विका करणशक्तिः स प्राणी 'णं' इति वाक्यालंकारे हेतूपदेशेन अपि असंज्ञी लभ्यते, स च पृथिव्यादिः एकेंद्रियो वेदितव्यः, तस्याभिसंधिपूर्वकं इष्टानिष्टप्रवृत्तिनिवृत्त्यसंभवात्, या अपि च आहारादिसंज्ञा पृथिव्यादीनां वर्त्तन्ते ता अपि अत्यंतं अव्यक्तरूपा इति तत् अपेक्षयापि न तेषां संज्ञित्वव्यपदेशः, अन्यत्रापि हेतूपदेशेन संज्ञित्वं आश्रित्य उक्तं 'कृमिकीटपतंगाद्याः समनस्काः जंगमाश्चतुर्भेदाः। अमनस्काः पंचविधाः पृथिवीकायादयो जीवाः। सोऽयं हेतूपदेशेन संज्ञी। अथ कोऽयं दृष्टिवादोपदेशेन संज्ञी?, दृष्टिः दर्शनं—सम्यक्त्वादिवदनं वादः तदुपदेशेन, तदपेक्षया इत्यर्थः, आचार्य आह—दृष्टिवादोपदेशेन संज्ञिश्रुतस्य क्षयोपशमेन संज्ञी लभ्यते, संज्ञानं संज्ञा—सम्यग्ज्ञानं तत् अस्यास्ति स संज्ञी—सम्यग्दृष्टिः तस्य यत् श्रुतं तत् संज्ञिश्रुतं, सम्यग् श्रुतं इति भावार्थः। तस्य क्षयोपशमेन—तदावारकस्य कर्म्मणः क्षयोपशमभावे संज्ञी लभ्यते, किमुक्तं भवति?। सम्यग्दृष्टिः क्षायोपशमिकज्ञानयुक्तो दृष्टिवादोपदेशेन संज्ञी भवति। स च यथाशक्तिरागादिनिग्रहपरो वेदितव्यः, स हि सम्यग्दृष्टिः सम्यग् ज्ञानी वा यो रागादीन् निगृह्णाति, अन्यथा हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्ति अभावतः सम्यग्दृष्टित्वाद्ययोगात्। उक्तं च—तत् ज्ञानं एव न भवति यस्मिन् उदिते विभाति रागगणः। तमसः कुतोऽस्ति शक्तिः दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुं॥ अन्यस्तु मिथ्यादृष्टिः असंज्ञी, तथा च आह—'असंज्ञिश्रुतस्य' मिथ्याश्रुतस्य क्षयोपशमेन असंज्ञीति लभ्यते, सोऽयं दृष्टिवादोपदेशेन संज्ञी। तदेवं संज्ञिनः त्रिभेदत्वात् श्रुतमपि तत् उपाधिभेदात् त्रिविधं उपन्यस्तम्। अत्राह—ननु प्रथमं हेतूपदेशेन संज्ञी वक्तुं युज्यते, हेतूपदेशेन अल्पमनोलब्धिसंपन्नस्यापि द्वींद्रियादेः संज्ञित्वेन अभ्युपगमात् तस्य च अविशुद्धतरत्वात्। ततः कालिक्युपदेशेन हेतूपदेशसंज्ञापेक्षया कालिक्युप-

तत् किमर्थं उत्क्रमोपन्यासः ? उच्यते । इह सर्वत्र सूत्रे यत्र क्वचित् संज्ञी असंज्ञी देशेन संज्ञिनो मनःपर्याप्तियुक्ततया विशुद्धत्वात्, तत् किमर्थं उत्क्रमोपन्यासः ? ... तत एतत् सम्प्रत्ययार्थं प्रथमं कालिक्यु-
वा परिगृह्यते तत्र सर्वत्रापि प्रायः कालिक्युपदेशेन गृह्यते न हेतूपदेशेन नापि दृष्टिवादोपदेशेन, तत एतत् सम्प्रत्ययार्थं प्रथमं कालिक्यु-
पदेशेन संज्ञिनो ग्रहणं ततोऽनंतरं अप्रधानत्वात् हेतूपदेशेन संज्ञिनो ग्रहणं, ततः सर्वप्रधानत्वात् अंते दृष्टिवादोपदेशेन इति ।
तदेतत् संज्ञिश्रुतं, असंज्ञिश्रुतं अपि प्रतिपक्षाभिधानात् एव प्रतिपादितं, ततः आह–तदेतत् असंज्ञिश्रुतम् ।

से किं तं सम्मसुयं ? जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं उपन्ननाणदंसणधरेहिं तेलुक्कनिरिक्खिअ महियपूइएहिं तीयपडुप्पन्नमणागयजाणएहिं सव्वनूहिं सव्वदरिसीहिं पणीअं दुवालसंगं गणिपिडगं तं जहा–आयारो[1], सूयगडो[2], ठाणं[3], समवाओ[4], विवाहपन्नति[5], नायाधम्मकहाओ[6], उवासगदसाओ[7], अंतगडदसाओ[8], अणुत्तरोववाईदसाओ[9], पण्हावागरणाइं[10], विवागसुयं[11], दिट्ठिवाओ[12]। इच्चेअं दुवालसंगं गणिपिडगं चोद्दसपुव्विस्स सम्मसुयं अभिन्नदसपुव्विस्स सम्मसुयं तेण परं भिण्णेसु भयणा, से त्तं सम्मसुयं ।

अथ किं तत् सम्यक् श्रुतं ? आचार्य आह सम्यक् श्रुतं यदिदं अर्हद्भिः–अशोकादिअष्टमहाप्रातिहार्यरूपां पूजां अर्हंतीति अर्हंतः–तीर्थंकरास्तैरर्हद्भिः' भगवद्भिः भगः–समग्र ऐश्वर्यादिरूपः, उक्तं च–"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः । धर्म्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतींगना १, ॥" भगो विद्यते येषां ते भगवन्तः तैर्भगवद्भिः, उत्पन्नज्ञानदर्शनधरैः उत्पन्नं ज्ञानं–केवलज्ञानं दर्शनं–केवलदर्शनं धरंति इति उत्पन्नज्ञानदर्शनधराः, 'त्रैलोक्यनिरीक्षितमहितपूजितैः' त्रयो लोकाः त्रिलोकाः–भवनपतिव्यंतरविद्याधरज्योतिष्कवैमानिका

त्रिलोका एव त्रैलोक्यं, भेषजादित्वात् स्वार्थे ष्यण् प्रत्ययः, निरीक्षिताश्च ते महिताश्च ते पूजिताश्च ते निरीक्षितमहितपूजिताः। त्रैलोक्येन निरीक्षितमहितपूजिताः त्रैलोक्यनिरीक्षितमहितपूजिताः, । तत्र निरीक्षिताः—मनोरथपरंपरासंपत्तिसंभवविनिश्चयसमुत्थसम्मद-विकाशिलोचनैः आलोकिताः महिता—यथावस्थिताऽनन्यसाधारणगुणोत्कीर्तनलक्षणेन भावस्तवेन अर्चिताः पूजिताः—सुगन्धिपुष्पप्रचुर-प्रक्षेपादिना द्रव्यस्तवेन, 'अतीतप्रत्युत्पन्न अनागतज्ञैः' 'सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः' प्रणीतं—अर्थकथनद्वारेण प्ररूपितं, किं इत्याह—'द्वादशांगी' श्रुतरूपस्य परमपुरुषस्य अंगानि इव अंगानि द्वादशांगानि—आचारादीनि यस्मिन् तत् द्वादशांगं गणो—गच्छो गुणगणो वा अस्यास्ति इति गणी—आचार्यः तस्य पिटकं इव पिटकं, सर्वस्वं इत्यर्थः, गणिपिटकं, तद्यथा—'आयारो' इत्यादि पाठसिद्धं यावत् दृष्टिवादः। अनंगप्रविष्टं अपि आवश्यकादितत्त्वतोऽर्हत्प्रणीतत्वात् परमार्थतो द्वादशांगातिरिक्तार्थाभावात् च द्वादशांगग्रहणेन गृहीतं द्रष्टव्यम्। इदं च द्वाद-शांगादि सर्वं एव द्रव्यास्तिकनयमतापेक्षया तत् अभिधेयपंचास्तिकायभाववत् नित्यं, स्वाम्यसंबंधचिंतायां च स्वरूपेण चिंत्यमानं सम्यक् श्रुतं, स्वामिसंबंधचिंतायां तु सम्यग् दृष्टेः सम्यक् श्रुतं मिथ्यादृष्टेः मिथ्याश्रुतम्। एतदेव श्रुतं परिणामतो व्यक्तं दर्शयति—इत्येतत् द्वादशांगं गणिपिटकं यश्चतुर्दशपूर्वी तस्य सकलं अपि सामायिकादि बिंदुसारपर्यवसानं नियमात् सम्यक् श्रुतं, ततोऽधोमुखपरिहान्या नियमतः सर्वं सम्यक् श्रुतं तावत् वक्तव्यं यावत् अभिन्नदशपूर्विणः—संपूर्णदशपूर्वधरस्य, संपूर्णदशपूर्वधरत्वादिकं हि नियमतः सम्यग् दृष्टेः एव, न मिथ्यादृष्टेः, तथास्वाभाव्यात्, तथा हि—यथा अभव्यो ग्रंथिदेशं उपागतोऽपि तथा स्वभावत्वात् न ग्रंथेर्भेद-माधातुमलमेवं मिथ्यादृष्टिः अपि श्रुतं अवगाहमानः प्रकर्षतोऽपि तावत् अवगाहते यावत् किंचित् न्यूनानि दश पूर्वाणि भवंति। परिपूर्णानि तु तानि न अवगाढुं शक्नोति, तथास्वभावत्वात् इति, 'तेण परं भवइ भयणा' अत्र 'तेण' इति 'व्यत्ययो ऽप्यासां' इति

प्राकृतलक्षणवशात् पंचम्यर्थे तृतीया, ततोऽयमर्थः—ततः संपूर्णदशपूर्वधरत्वात् पश्चानुपूर्व्या परं भिन्नेषु दशसु पूर्वेषु भजना—विकल्पना कदाचित् सम्यक् श्रुतं कदाचित् मिथ्याश्रुतमित्यर्थः, इयमत्र भावना—सम्यग्दृष्टेः प्रशमादिगुणगणोपेतस्य सम्यक् श्रुतं, यथावस्थितार्थतया तस्य सम्यक् परिणमनात्, मिथ्यादृष्टेस्तु मिथ्या श्रुतं, विपरीतार्थतया तस्य परिणमनात् । तदेतत् सम्यक् श्रुतं ॥,

से किं तं मिच्छासुयं? मिच्छासुयं जं इमं अन्नाणिएहिं मिच्छादिट्ठिएहिं सच्छंदबुद्धिमइविगप्पिअं तं जहा भारहं, रामायणं, भीमासुरुक्खं, कोडिल्लयं, सगडभद्दिआओ, खोडमुहं, कप्पासियं, नागसुहुमं, कणगसत्तरी, वइसेसिअं, बुद्धवयणं, तेरासियं, काविलियं, लोगाययं, सट्ठितंतं, माढरं, पुराणं, वागरणं भागवं, पायंजली, पुस्सदेवयं, लेहं, गणियं, सउणरुअं, नाडयाइं, अहवा बावत्तरि कलाओ, चत्तारिअ वेआ संगोवंगा एआइं मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहिआइं मिच्छासुयं, एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहिआइं सम्मसुयं अहवा मिच्छदिट्ठिस्सवि एयाइं चेव सम्मसुयं, कम्हा? सम्मत्तहेउत्तणओ जम्हा ते मिच्छदिट्ठिआ तेहिं चेव समएहिं चोईआ समाणा केइ सपक्खदिट्ठिओ चयंति सेत्तं मिच्छासुयं ।

अथ किं [illegible] ः? आचार्य आह—मिथ्याश्रुतं यदिदं अज्ञानिकैः, तत्र यथाऽवस्थिता लोके भवना उच्यते । एवं सम्यक्

[illegible] उच्यते । तत आह-मिथ्यादृष्टिभिः किं 'सच्छंदबुद्धिमतिविकल्पितं' तत्र स्वच्छंद हेतु-

[illegible] सर्वज्ञप्रणीतानुसारमन्तरेण इत्यर्थः । बुद्धिमतिभ्यां विकल्पितं स्वच्छंद-

त्रिलोका एव त्रैलोक्यं, भेषजादित्वात् स्वार्थे ध्यण् प्रत्ययः, निरीक्षिताश्च ते महिताश्च ते पूजिताश्च ते निरीक्षितमहितपूजिताः । त्रैलोक्येन निरीक्षितमहितपूजिताः त्रैलोक्यनिरीक्षितमहितपूजिताः, । तत्र निरीक्षिताः—मनोरथपरंपरासंपत्तिसंभवविनिश्चयसमुत्थसम्मद-विकाशिलोचनैः आलोकिताः महिता—यथावस्थिताऽनन्यसाधारणगुणोत्कीर्तनलक्षणेन भावस्तवेन अर्चिताः पूजिताः—सुगन्धिपुष्पप्रचुर-प्रक्षेपादिना द्रव्यस्तवेन, 'अतीतप्रत्युत्पन्न अनागतज्ञैः' 'सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः' प्रणीतं—अर्थकथनद्वारेण प्ररूपितं, किं इत्याह—'द्वादशांगी' श्रुतरूपस्य परमपुरुषस्य अंगानि इव अंगानि द्वादशांगानि—आचारादीनि यस्मिन् तत् द्वादशांगं गणो—गच्छो गुणगणो वा अस्यास्ति इति गणी—आचार्यः तस्य पिटकं इव पिटकं, सर्वस्वं इत्यर्थः, गणिपिटकं, तद्यथा—'आयारो' इत्यादि पाठसिद्धं यावत् दृष्टिवादः । अनंगप्रविष्टं अपि आवश्यकादितत्त्वतोऽर्हत्प्रणीतत्वात् परमार्थतो द्वादशांगातिरिक्तार्थाभावात् च द्वादशांगग्रहणेन गृहीतं द्रष्टव्यम् । इदं च द्वादशांगादि सर्वं एव द्रव्यास्तिकनयमतापेक्षया तत् अभिधेयपंचास्तिकायभाववत् नित्यं, स्वाम्यसंबंधचिंतायां च स्वरूपेण चिंत्यमानं सम्यक् श्रुतं, स्वामिसंबंधचिंतायां तु सम्यग् दृष्टेः सम्यक् श्रुतं मिथ्यादृष्टेः मिथ्याश्रुतम् । एतदेव श्रुतं परिणामतो व्यक्तं दर्शयति—इत्येतत् द्वादशांगं गणिपिटकं यश्चतुर्दशपूर्वी तस्य सकलं अपि सामायिकादि बिंदुसारपर्यवसानं नियमात् सम्यक् श्रुतं, ततोऽधोमुखपरिहान्या नियमतः सर्वं सम्यक् श्रुतं तावत् वक्तव्यं यावत् अभिन्नदशपूर्विणः—संपूर्णदशपूर्वधरस्य, संपूर्णदशपूर्वधरत्वादिकं हि नियमतः सम्यग् दृष्टेः एव, न मिथ्यादृष्टेः, तथास्वाभाव्यात्, तथा हि—यथा अभव्यो ग्रंथिदेशं उपागतोऽपि तथा स्वभावत्वात् न ग्रंथेर्भेद-माधातुमलमेवं मिथ्यादृष्टिः अपि श्रुतं अवगाहमानः प्रकर्षतोऽपि तावत् अवगाहते यावत् किंचित् न्यूनानि दश पूर्वाणि भवंति । परिपूर्णानि तु तानि न अवगाढुं शक्नोति, तथास्वभावत्वात् इति, 'तेण परं भन्नइ भयणा' अत्र 'तेण' इति 'व्यत्ययो ऽप्यासां' इति

प्राकृतलक्षणवशात् पंचम्यर्थे तृतीया, ततोऽयमर्थः–ततः संपूर्णदशपूर्वधरत्वात् पश्चानुपूर्व्या परं भिन्नेषु दशसु पूर्वेषु भजना–विकल्पना कदाचित् सम्यक् श्रुतं कदाचित् मिथ्याश्रुतमित्यर्थः, इयमत्र भावना–सम्यग्दृष्टेः प्रशमादिगुणगणोपेतस्य सम्यक् श्रुतं, यथावस्थितार्थतया तस्य सम्यक् परिणमनात्, मिथ्यादृष्टेस्तु मिथ्या श्रुतं, विपरीतार्थतया तस्य परिणमनात्। तदेतत् सम्यक् श्रुतं ।।,

से किं तं मिच्छासुयं? मिच्छासुयं जं इमं अन्नाणिएहिं मिच्छादिट्ठिएहिं सच्छंदबुद्धिमइविगप्पिअं तं जहा भारहं, रामायणं, भीमासुरुक्खं, कोडिल्लयं, सगडभद्दिआओ, खोडमुहं, कप्पासियं, नागसुहुमं, कणगसत्तरी, वइसेसिअं, बुद्धवयणं, तेरासियं, काविलियं, लोगाययं, सट्ठितंतं, माढरं, पुराणं, वागरणं भागवं, पायंजली, पुस्सदेवयं, लेहं, गणियं, सउणरुअं, नाडयाइं, अहवा बावत्तरि कलाओ, चत्तारिअ वेआ संगोवंगा एआइं मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहिआइं मिच्छासुयं, एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहिआइं सम्मसुयं अहवा मिच्छदिट्ठिस्सवि एयाइं चेव सम्मसुयं, कम्हा? सम्मत्तहेउत्तणओ जम्हा ते मिच्छदिट्ठिआ तेहिं चेव समएहिं चोईआ समाणा केइ सपक्खदिट्ठिओ चयंति सेत्तं मिच्छासुयं।

अथ किं तत् मिथ्याश्रुतं? आचार्य आह—मिथ्याश्रुतं यदिदं अज्ञानिकैः, तत्र यथाऽल्पधना लोके अधना उच्यंते। एवं सम्यक्दृष्टयोऽपि अल्पज्ञानभावात् अज्ञानिकाः उच्यते। तत आह–मिथ्यादृष्टिभिः, किं 'स्वच्छंदबुद्धिमतिविकल्पितं' तत्र अवग्रहे हेतुबुद्धिः, अपायधारणे मतिः, स्वच्छंदेन–स्वाभिप्रायेण तत्त्वतः सर्वज्ञप्रणीतानुसारमंतरेण इत्यर्थः। बुद्धिमतिभ्यां विकल्पितं स्वच्छंद-

बुद्धिमतिविकल्पितं, स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पिनिर्म्मितं इत्यर्थः । तद्यथा-'भारतं इत्यादि यावत् चत्तारि वेयासंगोवंगा' भारतादयश्च ग्रंथा लोके प्रसिद्धाः ततो लोकत एव तेषां स्वरूपं अवगंतव्यम् । ते च स्वरूपतो यथावस्थितवस्तु अभिधानविकलतया मिथ्याश्रुतमवसेयम् । एतेऽपि च स्वामिसंबंधचिंतायां भाज्यास्तथा च आह—एतानि-भारतादीनि शास्त्राणि मिथ्यात्वपरिगृहीतानि भवंति। ततो विपरीताभिनिवेशवृद्धिहेतुत्वात् मिथ्या श्रुतम्। एतानि एव च भारतादीनि शास्त्राणि सम्यग्दृष्टेः सम्यक्त्वपरिगृहीतानि भवंति सम्यक्त्वेन-यथावस्थितासारतापरिभावनरूपेण परिगृहीतानि तस्य सम्यग् श्रुतम्, तद्गतासारतादर्शनेन स्थिरतरसम्यक्त्वपरिणामहेतुत्वात् । अथवा मिथ्यादृष्टेः अपि सतः कस्यचित् एतानि भारतादीनि शास्त्राणि सम्यक् श्रुतं, शिष्य आह—कस्मात्?, आचार्य आह—सम्यक्त्वहेतुत्वात्, सम्यक्त्वहेतुत्वं एव भावयति, यस्मात् ते मिथ्यादृष्टयः तैः एव समयैः-सिद्धांतैः वेदादिभिः पूर्वापरविरोधेन-यथा रागादिपरीतः पुरुषः तावन्नातींद्रियं अर्थमवबुद्ध्यते रागादिपरीतत्वात् अस्मादृशवत्, वेदेषु च अतींद्रियाः प्रायोऽर्था व्यावर्ण्यतेऽतींद्रियार्थदर्शी च वीतरागः सर्वज्ञो नाभ्युपगम्यते ततः कथं वेदार्थः प्रतीतः इत्येवमादिलक्षणेन नोदिताः संतः केचन विवेकिनः सत्यादय इव स्वपक्षदृष्टीः-स्वदर्शनानि त्यजंति । भगवत्-शासनं प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः । तत एवं सम्यक्त्वहेतुत्वात् वेदादीनि अपि शास्त्राणि केषांचित् मिथ्यादृष्टीनां अपि सम्यक् श्रुतं, तदेतत् मिथ्याश्रुतम् ।

से किं तं साइअं सपज्जवसिअं, अणाइअं अपज्जवसियं सुयं? साइअं सपज्जवसिअं, अणाइअं अपज्जवसिअं सुयं-इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं, वुच्छित्ति नयट्ठयाए आइअं सपज्जवसिअं, अवुच्छित्ति नयट्ठयाएअणाइअअपज्जवसिअं, तं समासओ चउविहं पन्नतं, तं जहा-दव्वओ, खित्तओ,

कालओ, भावओ, तत्थ दव्वओ णं सम्मसुयं एगं पुरिसे पडुच्च साइअं सपज्जवसिअं, बहवे पुरिसे य पडुच्च अणाइअं अपज्जवसिअं। खेत्तओ णं पंच भरहाइं पंच एरवयाइं पडुच्च साइअं सपज्जवसिअं पंच महाविदेहाइं पडुच्च अणाइअं अपज्जवसिअं। कालओ णं उस्सप्पिणिं ओसप्पिणिं च पडुच्च साइअं सपज्जवसिअं नोउस्सप्पिणिं नोओसप्पिणिं च पडुच्च अणाइअं अपज्जवसिअं। भावओ णं जे जया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति तया भावे पडुच्च साइअं सपज्जवसिअं खाओवसमिअं पुण भावं पडुच्च अणाइअं अपज्जवसिअं। अहवा भवसिद्धियस्स सुयं साइअं सपज्जवसिअं च, अभवसिद्धियस्स सुयं अणाइयं अपज्जवसियं च, सव्वागासपएसग्गं सव्वागासपएसेहिं अणंतगुणिअं पज्जवक्खरं निप्फज्जइ, सव्वजीवाणं पि अ णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ। 'जइ पुण सोऽवि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तं पाविज्जा। सुट्ठु वि मेहसमुदए होइ पभा चंदसूराणं'। सेत्तं साइअं सपज्जवसिअं, सेत्तं अणाइअं अपज्जवसिअं सुयं।

अथ किं तत् सादिसपर्यवसितं अनादिअपर्यवसितं च?, तत्र सह आदिना वर्त्तते इति सादि, तथा पर्यवसानं पर्यवसितं, भावे क्तप्रत्ययः, सह पर्यवसितेन वर्त्तते इति सपर्यवसितं, आदिरहितं अनादि, न पर्यवसितं अपर्यवसितं, आचार्य आह—इति एतत् द्वादशांगं गणिपिटकं व्यवच्छित्तिप्रतिपादनपरो नयो व्यवस्थितिनयः, पर्यायास्तिकनय इत्यर्थः, तस्य अर्थो व्यवच्छित्तिनयार्थः, पर्याय इत्यर्थः। तस्य भावो व्यवच्छित्तिनयार्थता, तया पर्यायापेक्षया इत्यर्थः, किमित्याह—सादिसपर्यवसितं नारकादिभवपरिणति

अपेक्षया जीव इव, अव्यवच्छित्तिप्रतिपादनपरो नयः तस्य अर्थो अव्यवच्छित्तिनयार्थो, द्रव्यमित्यर्थः, तद्भावः तत्ता तया, द्रव्यापेक्षया इत्यर्थः, किमित्याह–अनाद्यपर्यवसितं त्रिकालावस्थायित्वात् जीववत्, अधिकृतं एव अर्थं द्रव्यक्षेत्रादिचतुष्टयं अधिकृत्य प्रतिपादयति । 'तत्' श्रुतज्ञानं 'समासतः' संक्षेपेण चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो 'णमि'ति वाक्यालंकारे सम्यक् श्रुतं एकं पुरुषं प्रतीत्य सादिपर्यवसितं, कथमिति चेद् ?, उच्यते । सम्यक्त्वाप्तौ तत् प्रथमपाठतो वा सादि, पुनः मिथ्यात्वप्राप्तौ सति वा सम्यक्त्वे प्रमादभावतो महाग्लानत्वभावतो वा परलोकगमनसंभवतो वा विस्मृतिं उपगते केवलज्ञानोत्पत्तिभावतो वा सर्वथा विप्रनष्टे सपर्यवसितं । बहून् पुरुषान् कालत्रयवर्त्तिनः पुनः प्रतीत्य अनादिअपर्यवसितं, संतानेन प्रवृत्तत्वात्, कालवत्, तथा क्षेत्रतो 'णं' इति वाक्यालंकारे पंच भरतानि पंच ऐरवतानि प्रतीत्य सादिसपर्यवसानं, कथं ?, उच्यते, तेषु क्षेत्रेषु अवसर्प्पिण्यां सुखमदुःखमापर्यवसाने उत्सर्प्पिण्यां तु दुःखमसुखमाप्रारंभे तीर्थकरधर्म्मसंघानां प्रथमतया उत्पत्तेः सादि, एकांतदुःखमादौ च काले तदभावात् सपर्यवसितं । तथा महाविदेहान् प्रतीत्य अनादि अपर्यवसितं, तत्र प्रवाहापेक्षया तीर्थंकरादीनां अव्यवच्छेदात्, तथा कालतो 'णं' इति वाक्यालंकारे, अवसर्प्पिण्यां उत्सर्प्पिण्यां च प्रतीत्य सादिसपर्यवसितं, तथाहि–अवसर्प्पिण्यां तिसृष्वेव समासु सुखमदुःखमादुःखमसुखमादुःखमारूपासु, उत्सर्पिण्यां तु द्वयोः समयोः दुःखमसुखमासुखमदुःखमारूपयोः भवति न परतः, ततः सादि सपर्यवसानं अत्र उत्सर्प्पिणिअवसर्प्पिणीस्वरूपज्ञापनार्थं कालचक्रं विंशतिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणं विनेयजनानुग्रहार्थं यथा मूलवृत्तिकृता दर्शितं तथा वयं अपि दर्शयामः–चत्तारिसागरोवमकोडाकोडीउ संतई ए उ । एगं तसुस्समा खलु जिणेहिं सव्वेहिं निद्दिट्ठा ॥१॥ इत्यादि, नोत्सर्प्पिणीं नोवसर्प्पिणीं च प्रतीत्य अनादि अपर्यवसितं, महाविदेहेषु हि नोउत्सर्प्पिणि नोअवसर्प्पिणीरूपः

कालस्तत्र च सदा एव अवस्थितं सम्यक् श्रुतं इति अनादिअपर्यवसितं, तथा भावतो 'णं' इति वाक्यालंकारे, 'य' इति अनिर्दिष्टनिर्देशे ये केचन यदा पूर्वाह्लादौ जिनैः प्रज्ञप्ता जिनप्रज्ञप्ता भावाः—पदार्थाः । 'आघविज्जंति'त्ति प्राकृतत्वात् आख्यायंते, सामान्यरूपतया विशेषरूपतया वा कथ्यंते इत्यर्थः । प्रज्ञाप्यंते नामादिभेदप्रदर्शनेन आख्यायंते, तेषां नामादयो भेदाः प्रदर्श्यंते इत्यर्थः । प्ररूप्यंते नामादिभेदस्वरूपकथनेन प्रख्यायंते नामादीनां भेदानां स्वरूपं आख्यायते इति भावार्थः, तथा दर्श्यंते उपमानमात्रोपदर्शनेन प्रकटी-क्रियंते । यथा गौः इव गवय इत्यादि, तथा निदर्श्यंते—हेतुदृष्टांतोपदर्शनेन स्पष्टतरीक्रियंते । उपदर्श्यंते—उपनयनिगमनाभ्यां निःशंकं शिष्यबुद्धौ स्थाप्यंते । अथवा उपदर्श्यंते—सकलनयाभिप्रायावतारणतः पटुप्रज्ञशिष्यबुद्धिषु व्यवस्थाप्यंते, तान् भावान् 'तदा' तस्मिन् काले तथा आख्यायमानान् प्रतीत्य सादिसपर्यवसितं, एतदुक्तं भवति, तस्मिन् काले तं तं प्रज्ञापकोपयोगं स्वरविशेषं प्रयत्नविशेषं आसनविशेषं अंगविन्यासादिकं च प्रतीत्य सादिसपर्यवसितं, उपयोगादेः प्रतिकालमन्यथाभवनात् । क्षायोपशमिकं भावं पुनः प्रतीत्य अनादि अपर्यवसितं, प्रवाहरूपेण क्षायोपशमिकभावस्य अनादि-अपर्यवसितत्वात् । अथवा इति प्रकारांतरोपदर्शने भवसिद्धिको—भव्यः तस्य सम्यक् श्रुतं सादिपर्यवसितं, सम्यक्त्वलाभे प्रथमतया भावात् । भूतो मिथ्यात्वप्राप्तौ केवलोत्पत्तौ वा विनाशात्, अभवसिद्धिकोऽभव्यः तस्य श्रुतं मिथ्याश्रुतं अनादि अपर्यवसितं, तस्य स एव सम्यक्त्वादिगुणहीनत्वात्, सर्वं च तदाकाशं च—सर्वाकाशं, लोकालोकाकाशं इत्यर्थः, तस्य प्रदेशाः—निर्विभागा भागाः सर्वाकाशप्रदेशाः तेषां अग्रं—परिमाणं सर्वाकाशप्रदेशाग्रं तत्सर्वाकाशप्रदेशैः अनंतगुणितं अनंतशो गुणितं एकैकस्मिन् आकाशप्रदेशेऽनंतागुरुलघुपर्यायभावात् पर्यायाग्राक्षरं निष्पद्यते—इयमत्र भावना—सर्वाकाशप्रदेशपरिमाणं सर्वाकाशप्रदेशैः अनंतशो गुणितं यावत् परिमाणं भवति तावत्प्रमाणं सर्वाकाशप्रदेशपर्यायाणां अग्रं भवति, एकैकस्मिन् आकाशप्रदेशे

शेषाणां, ततस्तत् कृतं सूत्रं मूलभूतः इति अंगप्रविष्ट उच्यते। यत्पुनः शेषैः श्रुतस्थविरैः तदेकदेशं उपजीव्य विरचितं तदनंगप्रविष्टं। अथवा यत्सर्वदा एव नियतं आचारादिकं श्रुतं तदंगप्रविष्टं, तथा हि—आचारादिकं श्रुतं सर्वेषु क्षेत्रेषु सर्वकालं चार्थं क्रमं चाधिकृत्य एवमेव व्यवस्थितं ततस्तदंगप्रविष्टं उच्यते। अंगप्रविष्टं अंगभूतं मूलभूतमित्यर्थः, शेषं तु यत् श्रुतं तत् चानियतं अतस्तदनंगप्रविष्टं उच्यते। तत्राल्पवक्तव्यत्वात् प्रथमं अंगबाह्यं अधिकृत्य प्रश्नसूत्रमाह—

से किं तं अंगबाहिरं? अंगबाहिरं दुविहं पन्नत्तं, तं जहा—आवस्सयं च आवस्सयवइरित्तं च। से किं तं आवस्सयं? आवस्सयं छव्विहं पन्नत्तं, तं जहा—सामाइअं, चउवीसत्थओ, वंदणयं, पडिक्कमणं, काउस्सग्गो, पच्चक्खाणं। सेत्तं आवस्सयं। से किं तं आवस्सयवइरित्तं? आवस्सयवइरित्तं दुविहं पन्नत्तं, तं जहा—कालियं च उक्कालियं च। से किं तं उक्कालियं? उक्कालियं अणेगविहं पन्नत्तं, तं जहा—दसवेआलियं[1], कप्पिआकप्पियं[2], चुल्लकप्पसुयं[3], महाकप्पसुयं[4], उववाइयं[5], रायपसेणियं[6], जीवाभिगमो[7], पन्नवणा[8], महापन्नवणा[9], पमायप्पमायं[10], नंदी[11], अणुओगदाराइं[12], देविंदत्थओ[13] तंदुलवेआलियं[14], चंदाविज्झयं[15], सूरपन्नत्ती[16], पोरिसिमंडलं[17] मंडलपवेसो[18], विज्जाचरणविणिच्छओ[19], गणिविज्जा[20], झाणविभत्ती[21], मरणविभत्ती[22], आयविसोही[23], वियरागसुयं[24], संलेहणासुयं[25], विहारकप्पो[26], चरणविही[27], आउरपच्चक्खाणं[28], महापच्चक्खाणं[29] एवमाइ सेत्तं उक्कालियं से किं तं कालियं। कालियं अणेगविहं पन्नत्तं तं जहा—उत्तरज्झयणाइं[1], दसाओ[2], कप्पो[3], ववहारो[4], निसीहं[5], महानिसीहं[6], इसीभासिआइं[7] जंबूदीवपन्नत्ती[8] चंदपन्नत्ती[9], दीवसागरपन्नत्ती[10],

खुड्डिआविमाणपविभत्ती[११], महल्लिआविमाणपविभत्ती[१२], अंगचुलिआ[१३], वग्गचुलिआ[१४], विवाहचुलिआ[१५], अरुणो-
ववाए[१६], वरुणोववाए[१७], गरुलोववाए[१८], धरणोववाए[१९], वेसमणोववाए[२०] वेलंधरोववाए[२१], देविंदोववाए[२२], उट्ठाणसुए[२३],
नागपरिआवलिआणं[२५], कप्पिआणं[२७], कप्पवडिंसिआणं[२८], पुप्फिआणं[२९], पुप्फचूलिआणं[३०], वण्हीयाणं[३१], वण्हीदसाणं[३२]
आसीविसभावणाणं[३३], दिट्ठिविसभावणाणं[३४], चारणसुमिणभावणाणं[३५], महासुमिणभावणाणं[३६], तेअग्गिनिसग्गाणं[३७],
एवमाइयाइं चउरासीइं पइन्नग सहस्साइं भगवओ अरहओ उसहसामिस्स आइतित्थयरस्स । तहा
संखिज्जाइं पइन्नगसहस्साइं मज्झिमगाणं जिणवराणं । चोद्दस पइन्नग सहस्साणि भगवओ वद्धमाणसा-
मिस्स । अहवा जस्स जत्तिआ सीसा उप्पत्तिआए वेणइआए कम्मयाए परिणामिआए चउव्विहं बुद्धीए उववेसा
तस्स तत्तिआइं पइन्नग सहस्साइं पत्तेअ बुद्धावि तत्तिआ चेव । सेत्तं कालियं सेत्तं उक्कालियं सुयं । सेत्तं
आवस्सयवइरित्तं । सेत्तं अणंगपविट्ठं सुयं ।

अथ किं तत् अंगबाह्यं ?, सूरिराह–अंगबाह्यश्रुतं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–आवश्यकं च आवश्यकव्यतिरिक्तं च, अत्र अवश्य-
कर्त्तव्यक्रियानुष्ठानमित्यर्थः । अथवा गुणानां अभिविधिनावश्यं आत्मानं करोति इति आवश्यकं–अवश्यकर्त्तव्यसामायिकादिक्रिया-
नुष्ठानं तत् प्रतिपादकं श्रुतं अपि आवश्यकं, चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः । अथ किं तदावश्यकं ?, सूरिराह–आवश्यकं षड्विधं प्रज्ञप्तं,
तद्यथा–'सामायिकं' इत्यादि निगदसिद्धं, तदेतदावश्यकं । अथ किं तदावश्यकव्यतिरिक्तं ?, आचार्य आह–आवश्यकव्यतिरिक्तं द्विविधं
प्रज्ञप्तं, तद्यथा–कालिकं उत्कालिकं च, तत्र यत् दिवसनिशाप्रथमपश्चिमपौरुषीद्वय एव पठ्यते तत्कालिकं, कालेन निर्वृत्तं कालिकं इति

व्युत्पत्तेः । यत्पुनः कालवेलावर्जं पठ्यते तत् उत्कालिकं । तत्राल्पवक्तव्यत्वात् प्रथमं उत्कालिकं अधिकृत्य प्रश्नसूत्रमाह–अथ किं तत् उत्कालिकं श्रुतं ?, सूरिराह–उत्कालिकं श्रुतं अनेकविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–दशवैकालिकं तच्च सुप्रतीतं, तथा कल्प्याकल्प्यप्रतिपादकं अध्ययनं कल्प्याकल्प्यं, तथा कल्पनं कल्पः–स्थविरादिकल्पः तत्प्रतिपादकं श्रुतं कल्पश्रुतं । तत्पुनर्द्विभेदं, तद्यथा–'चुल्लकप्पसुयं महाकप्पसुयं' एकं अल्पग्रंथं अल्पार्थं च, द्वितीयं महाग्रंथं महार्थं च । शेषाः ग्रंथविशेषाः प्रायः सुप्रतीताः, तथापि लेशतोऽप्रसिद्धान् व्याख्यास्यामः, तत्र जीवादीनां पदार्थानां प्रज्ञापनं प्रज्ञापना । सा एव बृहत्तरा महाप्रज्ञापना, तथा प्रमादाप्रमादस्वरूपभेदफलविपाकप्रतिपादकं अध्ययनं प्रमादाप्रमादं, तत्र प्रमादस्वरूपं एवं–प्रचुरकर्मेंधनप्रभवनिरंतराविध्यातशारीरमानसाऽनेकदुःखहुतवहज्वालाकलापपरीतं अशेषं एव संसारवासगृहं पश्यंस्तन्मध्यवर्त्त्यपि च तत् निर्गमनोपाये वीतरागप्रणीतधर्म्मचिंतामणौ यतो विचित्रकर्म्मोदयसाचिव्यजनितात् परिणामविशेषात् अपश्यन् इव तत् भयं अवगणय्य विशिष्टपरलोकक्रियाविमुख एव आस्ते जीवः स खलु प्रमादः, तस्य च प्रमादस्य ये हेतवो मद्यादयः तेऽपि प्रमादाः तत्कारणत्वात्, उक्तं च–"मज्जं विसयकसाया निद्दा विगहा य पंचमी भणिया । एवं पंच पमाया जीवं पाडंति संसारे ॥१॥" एतस्य पंचप्रकारस्यापि प्रमादस्य फलं दारुणो विपाकः, एवं प्रतिपक्षद्वारेण अप्रमादस्यापि स्वरूपादयो वाच्याः । 'नंदी'त्यादि सुगमं । सूर्यचर्याप्रज्ञापनं यस्यां ग्रंथपद्धतौ सा सूर्यप्रज्ञप्तिः, तथा 'पौरुषी मंडलं' इति पुरुषः–शंकुः पुरुषशरीरं वा तस्मिन् निष्पन्ना पौरुषी 'तत आगत' इत्यण्, इयमत्र भावना–सर्वस्यापि वस्तुनो यदा स्वप्रमाणाच्छाया जायते तदा पौरुषी भवति । एतच्च पौरुषीप्रमाणं उत्तरायणस्यांते दक्षिणायनस्यादौ च एकं दिनं भवति, ततः परं अंगुलस्य अष्टौ एकषष्टिभागा दक्षिणायने वर्द्धंते । उत्तरायणे च ह्रसंति, एवं मंडले मंडलेऽन्यान्या पौरुषी यत्र अध्ययने व्यावर्ण्यते तदध्ययनं पौरुषीमंडलं,

तथा यत्र अध्ययने चंद्रस्य सूर्यस्य च दक्षिणेषु उत्तरेषु च मंडलेषु संचरतो यथा मंडलात् मंडले प्रवेशो भवति तथा व्यावर्ण्यते तदध्ययनं मंडलप्रवेशः। तथा 'विज्जाचरणविनिश्चय' इति विद्या इति-ज्ञानं, तत् च सम्यग्दर्शनसहितं अवगंतव्यं, अन्यथा ज्ञानत्वायोगात्, चरणं-चारित्रं तेषां फलविनिश्चयप्रतिपादको ग्रंथो विद्याचरणविनिश्चयः, तथा 'गणिविज्जे'ति सबालवृद्धो गच्छो गणः। सोऽस्यास्तीति गणी-आचार्यः तस्य विद्या-ज्ञानं गणिविद्या, सा च इह ज्योतिष्कनिमित्तादिपरिज्ञानरूपा वेदितव्या। ज्योतिष्कनिमित्तादिकं हि सम्यक् परिज्ञापरिव्राजनसामायिकारोपणोपस्थापनश्रुतोद्देशानुज्ञारोपणादिशानुज्ञाविहारक्रमादिप्रयोजनेषु उपस्थितेषु प्रशस्ते तिथिकरणमुहूर्त्तनक्षत्रयोगे यत् यत्र कर्त्तव्यं भवति तत् तत्र सूरिणा कर्त्तव्यं, तथा चेत् न करोति तर्हि महान् दोषः, ततो यानि सामायिकादीनि प्रयोजनानि यत्र तिथिकरणादौ कर्त्तव्यानि भवंति तानि तत्र यस्यां ग्रंथपद्धतौ व्यावर्ण्यंते सा गणिविद्या, तथा ध्यानविभक्तिः इति, ध्यानानि-आर्त्तध्यानादीनि तेषां विभजनं-विभक्तिः यस्यां ग्रंथपद्धतौ सा ध्यानविभक्तिः, तथा मरणानि-प्राणत्यागलक्षणानि, तानि च द्विधा-प्रशस्तानि अप्रशस्तानि च, तेषां विभजनं-पार्थक्येन स्वरूपप्रकटनं यस्यां ग्रंथपद्धतौ सा मरणविभक्तिः, तथाऽऽत्मनो-जीवस्याऽऽलोचनं-प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिप्रभृतिप्रकारेण विशुद्धिः-कर्म्मविगमलक्षणा प्रतिपाद्यते यस्यां ग्रंथपद्धतौ-सा आत्मविशुद्धिः। तथा वीतरागश्रुतमिति, सरागव्यपोहेन वीतराग स्वरूपं प्रतिपाद्यते यत्र अध्ययने तद् वीतरागश्रुतं, तथा संलेखनाश्रुतं इति, द्रव्यभावसंलेखना यत्र श्रुते प्रतिपाद्यते तत् संलेखनाश्रुतं, तत्र उत्सर्गत इयं द्रव्यसंलेखना। "चत्तारि विचित्ताइं विगई निज्जूहियाइं चत्तारि। संवच्छरे उ दोन्नि उ एगंतरियं च आयामं ॥ १ ॥ नाइविगिट्ठो य तवो छम्मासे परिमियं च आयामं। अन्नेवि य छम्मासे होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥ २ ॥ वासं च कोडिसहियं आयामं कट्टु आणुपुव्वीए।

गिरिकंदरंमि गंतुं पायवगमणं अह करेइ ॥ ३ ॥" भावसंलेखना तु क्रोधादिकषायप्रतिपक्षाभ्यासः। तथा विहारकल्प इति, विहरणं विहारः तस्य कल्पो–व्यवस्था स्थविरकल्पादिरूपा यत्र वर्ण्यते ग्रंथे स विहारकल्पः। तथा चरणं–चारित्रं तस्य विधिः यत्र वर्ण्यते स चरणविधिः। तथा 'आतुरप्रत्याख्यानं' इति, आतुरः–चिकित्साक्रियाव्यपेतः तस्य प्रत्याख्यानं यत्र अध्ययने विधिपूर्वकं उपवर्ण्यते तत् आतुरप्रत्याख्यानं, तथा महत् प्रत्याख्यानं यत्र वर्ण्यते तत् महाप्रत्याख्यानं 'एवं तावत् अमूनि अध्ययनानि–एतानि अध्ययनानि जहाभिहाणत्थाणि भणियाणि' तत् एतत् उत्कालिकं। उपलक्षणं च एतत् इति उक्तं उत्कालिकं। अथ किं तत् कालिकं ? कालिकं अनेकविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा इत्यादि, 'उत्तराध्ययनानि' सर्वाणि अपि च अध्ययनानि प्रधानानि एव तथापि अमूनि एव रूढ्या उत्तराध्ययनशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धानि। दशा इत्यादि प्रायो निगदसिद्धं। निशीथं इति निशीथवत् निशीथः, इदं प्रतीतमेव, तस्मात् परं यत् ग्रंथार्थाभ्यां महत्तरं निशीथाभ्यां महत्तरं तत् महानिशीथं। तथा आवलिकाप्रविष्टानां इतरेषां वा विमानानां वा प्रविभक्तिः–प्रविभजनं यस्यां ग्रंथपद्धतौ सा विमानप्रविभक्तिः, सा च एका स्तोकग्रंथार्था, द्वितीया महाग्रंथार्था, तत्र आद्या क्षुल्लकविमानप्रविभक्तिः, द्वितीया महाविमानप्रविभक्तिः। अंगस्य–आचारादेः चूलिका अंगचूलिका। चूलिका नामोक्तानुक्तार्थसंग्रहात्मिका ग्रंथपद्धतिः, वर्गोऽध्ययनानां समूहो यथा अंतकृत् दशासु अष्टौ वर्गा इत्यादि तेषां चूलिका, तथा व्याख्या–भगवती तस्याः चूलिका व्याख्याचूलिका। तथा अरुणो नाम देवः तद्वक्तव्यताप्रतिपादको यो ग्रंथः परावर्त्यमानश्च तत् उपपातहेतुः सोऽरुणोपपातः, तथा च अत्र चूर्णिकारो भावनां अकार्षीत् 'जाहे तमज्झयणं उवउत्ते समाणे अणगारे परियट्टेइ ताहे से अरुणदेवे समयनिबद्धत्तणओ चलियासणसंभमुब्भंतलोयणे पउत्तावही वियाणियट्ठे पहट्ठे चलचवलकुंडलधरे दिव्वाए जुईए दिव्वाए विभूईए दिव्वाए गईए जेणामेव से भयवं

अज्झयणं परियट्टेइ तेणामेव उवागच्छई, उवागच्छित्ता भत्तिभरोणयवयणे विमुक्कवरकुसुमगंधवासे ओवयइ,
समणे णिग्गंथे अज्झयणं परियट्टमाणे अच्छइ तेणामेव उवागच्छई, उवागच्छित्ता भत्तिभरोणयवयणे विमुक्कवरकुसुमगंधवासे ओवयइ,
ओवइत्ता ताहे से समणस्स पुरओ ठिचा अंतट्ठिए कयंजली उवउत्ते संवेगविसुज्झमाणज्झवसाणे तं अज्झयणं सुणमाणे चिट्ठइ, समत्ते
अज्झयणे भणइ–भयवं ! सुसज्झाइयं २ वरं वरेहित्ति, ताहे से इहलोयनिप्पिवासे समतिणमुत्ताहललेट्ठुकंचणे सिद्धिवररमणिपडिबद्ध-
निब्भराणुरागे समणे पडिभणइ–न मे णं भो ! वरेणं अट्ठोत्ति, ततो से अरुणे देवे अहिगयरजायसंवेगे पयाहिणं करेत्ता वंदइ नमंसइ वंदित्ता
नमंसित्ता पडिगच्छइ" एवं गरुडोपपातादिषु अपि भावना कार्या । तथा 'उत्थानश्रुतं' इति उत्थानं–उद्वसनं तत् हेतुः श्रुतं उत्थानश्रुतं ।
तच्च शृङ्गनादिते कार्ये उपयुज्यते, अत्र चूर्णिकारकृता भावना–"सज्जेगस्स कुलस्स वा गामस्स वा नगरस्स वा रायहाणीए वा समणे
कयसंकप्पे आसुरुत्ते चंडक्किए अप्पसन्ने अप्पसन्नलेसे विसमासुहासणत्थे उवउत्ते समाणे उट्ठाणसुयज्झयणं परियट्टेइ, तं च एक्कं दो वा
तिण्णि वा वारे, ताहे से कुले वा गामे वा जाव रायहाणी वा ओहयमणसंकप्पे विलवंते दुयं २ पहावेंते उट्ठेइ–उव्वसति त्ति भणियं
होइ" त्ति, तथा 'समुत्थानश्रुतमिति' समुपस्थानं–भूयस्तत्रैव वासनं तद्धेतुः श्रुतं समुपस्थानश्रुतं, वकारलोपाच्च सूत्रे समुट्ठाणसुयंति पाठः,
तस्य चेयं भावना–"तओ समत्ते कज्जे तस्सेव कुलस्स वा जाव रायहाणीए वा से चेव समणे कयसंकप्पे तुट्ठे पसन्ने पसन्नलेसे समसु-
हासणत्थे उवउत्ते समाणे समुट्ठाणसुयज्झयणं परियट्टेइ, तं च एक्कं दो तिन्नि वा वारे, ताहे से कुले वा गामे वा जाव रायहाणीए वा
पहट्ठचित्ते पसत्थं मंगलं कलयलं कुणमाणे मंदाए गईए सललियं आगच्छइ समुवट्ठिए–आवासइत्तिवुत्तं भवइ, सम्मं उवट्ठाणसुयंति वत्तव्वे
वकारलोवाओ समुट्ठाणसुयंति भणियं, तहा जइ अप्पणावि पुव्वुट्ठियं गामाइ भवइ तहावि जइ से समणे एवंकयसंकप्पे अज्झयणं
परियट्टेइ तओ पुणरवि आवासेइ" तथा नागाः–नागकुमारास्तेषां परिज्ञा यस्यां ग्रन्थपद्धतौ भवति सा नागपरिज्ञा, तस्याश्चेयं

चूर्णिकृतोपदर्शिता भावना—"जाहे तं अज्झयणं समणे निग्गंथे परियट्टेइ ताहे अकयसंकप्पस्सवि ते नागकुमारा तत्थत्था चेव तं समणं परियाणंति-वंदंति नमंसंति बहुमाणं च करेंति, सिंगनादितकज्जेसु य वरदा भवंति" तथा यत्रावलिकाप्रविष्टा इतरे च नरकावासाः प्रसङ्गतस्तद्गामिनश्च नरास्तिर्यञ्चो वा वर्ण्यन्ते ता निरयावलिकाः, एकस्मिन्नपि ग्रन्थे वाच्ये बहुवचनशब्दः शक्तिस्वाभाव्यात्, यथा पाञ्चाला इत्यादौ, तथा 'कल्पिका' इति याः सौधर्म्मादिकल्पगतवक्तव्यतागोचरा ग्रन्थपद्धतयस्ताः कल्पिकाः, एवं कल्पावतंसिका द्रष्टव्याः, पुष्पिता इति यासु ग्रंथपद्धतिषु गृहवासमुत्कलनपरित्यागेन प्राणिनः संयमभावपुष्पिताः सुखिता उषिता भूयः संयमभाव-परित्यागतो दुःखावाप्तिमुकुलनेन मुकुलिताः पुनस्ततः तत्परित्यागेन पुष्पिताः प्रतिपाद्यन्ते ताः पुष्पिताः उच्यंते, अधिकृतार्थविशेष-प्रतिपादिकाः पुष्पचूडाः तथा 'वृष्णिदशा' इति, 'नाम्न्युत्तरपदस्य वे'ति लक्षणवशादादिपदस्यान्धकशब्दरूपस्य लोपः, ततोऽयं परिपूर्णः शब्दः अन्धकवृष्णिदशा इति, अयं चान्वर्थः—अन्धकवृष्णिनराधिपकुले ये जातास्तेऽपि अन्धकवृष्णयः तेषां दशाः—अवस्थाश्चरित-गतिसिद्धिगमनलक्षणा यासु ग्रन्थपद्धतिषु वर्ण्यन्ते ता अन्धकवृष्णिदशाः, अथवाऽन्धवृष्णिवक्तव्यताप्रतिपादिका दश—अध्ययनानि अन्धकवृष्णिदशा। कियन्ति नामग्राहमाख्यातुं शक्यन्ते प्रकीर्णकानि ?, तत एवमादीनि चतुरशीतिः प्रकीर्णकसहस्राणि भगवतोऽर्हतः श्रीऋषभस्वामिनस्तीर्थंकृतः, तथा सङ्ख्येयानि प्रकीर्णकसहस्राणि मध्यमानामजितादीनां जिनवरेन्द्राणां तीर्थकराणाम्, एतानि च यस्य यावन्ति भवन्ति तस्य तावन्ति प्रथमानुयोगतो वेदितव्यानि, तथा चतुर्दशप्रकीर्णकसहस्राणि भगवतोऽर्हतो वर्द्धमानस्वामिनः। इयमत्र भावना—इह भगवत ऋषभस्वामिनश्चतुरशीतिसहस्रसङ्ख्याः श्रमणा आसीरन्, ततः प्रकीर्णकरूपाणि चाध्ययनानि कालिको-त्कालिकभेदभिन्नानि सर्वसङ्ख्यया चतुरशीतिसहस्रसङ्ख्यान्यभवन्, कथमिति चेत् ?, उच्यते, इह यद्भगवदर्हदुपदिष्टं श्रुतमनुसृत्य

भगवन्तः श्रमणा विरचयन्ति तत्सर्वं प्रकीर्ण्णकमुच्यते, अथवा श्रुतमनुसरन्तो यदात्मनो वचनकौशलेन धर्म्मदेशनादिषु ग्रन्थपद्धति- रूपतया भाषन्ते तदपि सर्वं प्रकीर्णकं, भगवत ऋषभस्वामिन उत्कृष्टा श्रमणसम्पदा आसीत् चतुरशीतिसहस्रप्रमाणा, ततो घटन्ते प्रकीर्ण्णकान्यपि भगवतश्चतुरशीतिसहस्रसङ्ख्यानि, एवं मध्यमतीर्थकृतां अपि सङ्ख्येयानि प्रकीर्णकसहस्राणि भावनीयानि, भगवतस्तु वर्द्धमानस्वामिनः चतुर्दश श्रमणसहस्राणि, ततः प्रकीर्णकानि अपि भगवतः चतुर्दशसहस्राणि, अत्र द्वे मते–एके सूरयः प्रज्ञापयंति–इदं किल चतुरशीतिसहस्रादिकं ऋषभादीनां तीर्थकृतां श्रमणपरिमाणं प्रधानसूत्रविरचनसमर्थान् श्रमणान् अधिकृत्य वेदितव्यं। इतरथा पुनः सामान्यश्रमणाः प्रभूततरा अपि तस्मिन् तस्मिन्नृषभादिकाले आसीरन् । अपरे पुनः एवं प्रज्ञापयंति–ऋषभादितीर्थकृतां जीवतां इदं चतुरशीतिसहस्रादिकं श्रमणपरिमाणं। प्रवाहतः पुनः एकैकस्मिन् तीर्थे भूयांसः श्रमणा वेदितव्याः। तत्र ये प्रधानसूत्रविरचनशक्ति- समन्वितसुप्रसिद्धतत् ग्रंथा अतत्कालिका अपि तीर्थे वर्त्तमानास्तेऽधिकृता द्रष्टव्याः। एतदेव मतांतरं उपदर्शयन्नाह–'अथवा' इति प्रकारांतरोपदर्शने यस्य ऋषभादेः तीर्थकृतो यावंतः शिष्याः तीर्थे औत्पत्तिक्या वैनयिक्या कर्म्मजया पारिणामिक्या चतुर्विधया बुद्ध्या उपेताः–समन्विता आसीरन्, तस्य–ऋषभादेः तावंति प्रकीर्णकसहस्राणि अभवन्, प्रत्येकबुद्धा अपि तावंत एव, अत्र एके व्याचक्षते– इह एकैकस्य तीर्थकृतः तीर्थे अपरिमाणानि प्रकीर्णकानि भवन्ति, प्रकीर्णककारिणां अपरिमाणत्वात्, केवलं इह प्रत्येकबुद्धरचितानि एव प्रकीर्णकानि द्रष्टव्यानि, प्रकीर्णकपरिमाणेन प्रत्येकबुद्धपरिमाणप्रतिपादनात्, स्यादेतत्–प्रत्येकबुद्धानां शिष्यभावो विरुध्यते, तदेतदसमीचीनं यतः प्रव्राजकाचार्य एव अधिकृत्य शिष्यभावो निषिध्यते। ननु तीर्थकरोपदिष्टशासनप्रतिपन्नत्वेनापि ततो न कश्चित्

दोषः । अन्ये पुनः एवमाहुः सामान्येन प्रकीर्णकैः तुल्यत्वात् प्रत्येकबुद्धानां अत्राभिधानं न तु नियोगः । प्रत्येकबुद्धिरचितानि एव प्रकीर्णकानि इति । तदेतत् कालिकं तदेतत् आवश्यकव्यतिरिक्तं, तदेतदनंगप्रविष्टं इतिं ।

से किं तं अंगपविट्ठं ? अंगपविट्ठं दुवालसविहं पन्नत्तं, तं जहा–आयारो[1], सूयगडो[2], ठाणं[3], समवायो[4], विवाहपन्नत्ती[5], नायाधम्मकहाओ[6] उवासगदसाओ[7], अंतगडदसाओ[8], अणुत्तरोववाइयदसाओ[9], पण्हावागरणाइं[10], विवागसुयं[11], दिट्ठिवाओ[12]। से किं तं आयारे ? आयारे समणाणं निग्गंथाणं आयार, गोयर, विणय, वेणइय, सिक्खा, भासा, अभासा, चरण, करण, माया, जाया, वित्तीओ आघविज्जंति । से समासओ पंचविहे पन्नत्ते, तं जहा–नाणायारे, दंसणायारे, चरित्तायारे, तवायारे, वीरियायारे । आयारे णं परित्ता वायणा, संखिज्ज अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखिज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ, संखिज्जाओ संगहणीओ । से णं अंगट्ठयाए पढमे अंगे दो सुअक्खंधा, पणवीसं अज्झयणा, पंचासीई उद्देसणकाला, पंचासीई समुद्देसणकाला, अट्ठारसपय सहस्साणि पयग्गेणं । संखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासयकडनिबद्धनिकाइआ जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवं आयासे एवं नाया से एवं विन्नाया से एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ सेत्तं आयारे ॥ १ ॥

अथ किं तदंगप्रविष्टं ? सूरिराह–अंगप्रविष्टं द्वादशविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–'आचारः सूत्रकृत'मित्यादि, अथ किं तदाचार इति ?
अथवा कोऽयं आचारः ? आचार्य आह–आचरणं आचारः आचर्यते इति वा आचारः, पूर्वपुरुषाचरितो ज्ञानादि आसेवनविधिः इत्यर्थः।
तत्प्रतिपादको ग्रंथोऽपि आचार एव उच्यते। अनेन वाऽऽचारेण करणभूतेन अथवा आचारे–आधारभूते 'णं' इति वाक्यालंकारे श्रम-
णानां प्राग्निरूपितशब्दानां निर्ग्रंथानां बाह्याभ्यंतरग्रंथरहितानां, आह–श्रमणा निर्ग्रंथा एव भवंति तत् किमर्थं निर्ग्रंथानां इति विशेषणं
उच्यते, शाक्यादिव्यवच्छेदार्थं, शाक्यादयोऽपि हि लोके श्रमणा व्यपदिश्यंते। तदुक्तं–'निग्गंथ सक्क तावस गेरुय आजीव पंचहा
समणा' इति। तेषां आचारादि आख्यायते, तत्र आचारो ज्ञानाचारादि अनेकभेदभिन्नो गोचरो–भिक्षाग्रहणविधिलक्षणः
विनयो–ज्ञानादिविनयः, वैनयिकं–विनयफलं कर्म्मक्षयादिशिक्षा–ग्रहणशिक्षा आसेवनशिक्षा वा, विनेयशिक्षा इति चूर्णिकृत्।
तत्र विनेयाः–शिष्याः। तथा भाषा सत्या असत्या–मृषा च, अभाषा–मृषा सत्यामृषा च। चरणं–व्रतादि, करणं–पिंडविशुद्ध्यादि, उक्तं
च–"वयसमणधम्मसंजमवेयावच्चं च बंभगुत्तीओ। नाणाइतियं तव कोहनिग्गाई चरणमेयं ॥ १ ॥ पिंडविसोहीसमिईभावणपडिमाय
इंदियनिरोहो। पडिलेहणगुत्तीओ अभिग्गहा चेव करणं तु ॥ २ ॥" यात्रा–संयमयात्रा तदर्थं एव परिमिताहारग्रहणं वृत्तिः–
विविधैः अभिग्रहविशेषैः वर्त्तनं, 'आचारश्च गोचरश्च' इत्यादिः द्वन्द्वः, ता आचारगोचरविनयवैनयिकशिष्याभाषाऽभाषाचरणकरण-
यात्रामात्रावृत्तयः आख्यायंते। इदं यत्र क्वचित् अन्यतरोपादानेन अन्यतरगतार्थाभिधानं तत् सर्वं तत् प्राधान्यख्यापनार्थं अवसेयं। स
आचारः 'समासतः' संक्षेपतः पंचविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा–'ज्ञानाचार' इत्यादि, तत्र ज्ञानाचारः, "काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तह
य निह्नवणे। वंजणअत्थतदुभए अट्ठविहो नाणमायारो ॥ १ ॥" दर्शनाचारः, "निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छामूढदिट्ठीय।

उववूहथिरीकरणे वच्छलप्पभावणे अट्ठ ॥ २ ॥" प्रभावकाः तीर्थस्य अमी द्रष्टव्याः–'अइसेस इड्ढियायरिय वाई धम्मकहि खवग नेमित्ती । विज्जा रायागणसंमया य तित्थं पभावंति ॥ १ ॥ चारित्राचारः–'पणिहाणजोग जुत्तो पंचहिं समिईहिं तिहि उ गुत्तीहिं। एस चरित्तायारो अट्ठविहो होइ नायव्वो ॥ १ ॥' तप आचारः–बारस विहंमि वि तवे अभिंतरबाहिरे जिणुवइट्ठे । अगिलाइ अणाजीवी नायव्वो सो तवायारो ॥ १ ॥' वीर्याचारः–"अणिगूहियबलविरिओ परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो । जुंजइ य जहाथामं नायव्वो वीरियायारो ॥ १ ॥" आचारे णं इति वाक्यालंकारे, 'परित्ता' परिमिता तं तं प्रज्ञापकं पाठकं च अधिकृत्य आद्यन्तोपलब्धिः, अथवा उत्सर्पिणीं अवसर्पिणीं च प्रतीत्य परीत्ता द्रष्टव्याः, काऽसावित्याह–'वाचना' वाचना नाम सूत्रस्य अर्थस्य वा प्रदानं, यदि पुनः सामान्यतः प्रवाहं अधिकृत्य चिंत्यते तदा अनंताः, तथा संख्येयानि अनुयोगद्वाराणि उपक्रमादीनि, तानि हि अध्ययनं २ प्रति प्रवर्तते, अध्ययनानि च संख्येयानि इति कृत्वा, तथा संख्येया वेढा, वेढो नाम छंदोविशेषः, तथा संख्येयाः श्लोकाः–सुप्रतीताः, तथा संख्येया निर्युक्तयः, तथा संख्येयाः प्रतिपत्तयः, प्रतिपत्तयो नाम द्रव्यादिपदार्थाभ्युपगमाः प्रतिमादि अभिग्रहविशेषा वा ताः सूत्रनिबद्धाः संख्येयाः, स आचारो 'णं' इति वाक्यालंकारे अंगार्थतया–अंगार्थत्वेन, अर्थग्रहणं परलोकचिंतायां सूत्राद् अर्थस्य गरीयस्त्वख्यापनार्थं, अथवा सूत्रार्थ–उभयरूप आचारः इति ख्यापनार्थं, प्रथमं अंगं, एकारांतता सर्वत्र मागधभाषालक्षणानुसरणात् वेदितव्या, स्थापनामधिकृत्य प्रथमं अंगमित्यर्थः। तथा द्वौ श्रुतस्कंधौ–अध्ययनसमुदायरूपौ, पंचविंशतिः अध्ययनानि, तद्यथा–"सत्थ परिन्ना (१) लोगविजओ (२) सीओसणिज्ज (३) संमत्तं (४) आवंति (५) धूय (६) विमोहो (७) महापरिन्नो (८) वहाणसुयं (९) ॥१॥" एतानि नव अध्ययनानि

प्रथमश्रुतस्कंधे । "पिंडेसण (१) सिज्झि (२) रिया (३) भासज्जाया (४) य वत्थ (५) पाएसा (६) । उग्गहपडिमा (१) सत्तसत्तिक्कया (१४) य भावण (१५) विमुत्ति (१६) ॥ १ ॥" अत्र 'सेज्जिरिय'त्ति शय्याध्ययनं ईर्याध्ययनं च । 'वत्थपाएस'त्तिवस्त्र-एषणाध्ययनं पात्र-एषणाध्ययनं च, अमूनि षोडश अध्ययनानि द्वितीयश्रुतस्कंधे । एवमेतानि निशीथवर्ज्जानि पंचविंशतिः अध्ययनानि भवंति, तथा पंचाशीतिः उद्देशनकालाः, कथं चेद् ? उच्यते, इह अंगस्य श्रुतस्कंधस्य अध्ययनस्य उद्देशकस्य च एक एव उद्देशनकालः । एवं शस्त्रपरिज्ञायां सप्त उद्देशनकालाः ७ लोकविजये षट् १३ शीतोष्णाध्ययने चत्वारः १७ सम्यक्त्वाध्ययने चत्वारः २१ लोकसाराध्ययने षट् २७ धुताध्ययने पंच ३२ विमोहाध्ययनेऽष्टौ ४० महापरिज्ञायां सप्त ४७ उपधानश्रुते चत्वारः ५१ पिंडैषणायां एकादश ६२ शय्येषणाध्ययने त्रयः ६५ ईर्याध्ययने त्रयः ६८ भाषाध्ययने द्वौ ७० वस्त्र-एषणाध्ययने द्वौ ७२ पात्रैषणाध्ययने द्वौ ७४ अवग्रहप्रतिमाध्ययने द्वौ ७६ सप्तसप्तिकाध्ययनेषु षट् ८२ भावनायां एकः ८४ विमुक्तौ एकश्च ८५ एवं एते सर्वेऽपि पिंडिताः पंचाशीतिः भवंति । एवं समुद्देशनकाला अपि पंचाशीतिर्भावनीयाः, तथा पदाग्रेण-परिमाणेन अष्टादशपदसहस्राणि, इह यत्र अर्थोपलब्धिस्तत् पदम् । तथा संख्येयानि अक्षराणि, पदानां संख्येयत्वात् । तथा इह गमाः-अर्थगमा गृह्यंते । अर्थगमा नाम अर्थपरिच्छेदास्ते च अनंताः, एकस्मादेव सूत्रात् अतिशायिमतिमेधादिगुणानां तत्तत् धर्म्मविशिष्टानन्तधर्म्मात्मकवस्तुप्रतिपत्तिभावात् । तथा अनंताः पर्यायाः ते च स्वपरभेदभिन्ना अक्षरार्थगोचरा वेदितव्याः, तथा परीताः-परिमिताः त्रसाः-द्वींद्रियादयः, अनंताः स्थावराः-वनस्पतिकायादयः, शाश्वता-धर्म्मास्तिकायादयः, कृताः-प्रयोगविस्रसा जन्याः घटसंध्याभ्ररागादयः, एते सर्वेऽपि त्रसादयो निबद्धाः-सूत्रे स्वरूपतः उक्ता, निकाचिताः-निर्युक्तिसंग्रहणिहेतुउदाहरणादिभिः अनेकधा व्यवस्थापिता

जिनप्रज्ञप्ता भावाः-पदार्थाः आख्यायंते-सामान्यरूपतया विशेषरूपतया वा कथ्यंते प्रज्ञाप्यंते नामादिभेदोपन्यासेन प्रपंच्यंते-प्ररूप्यंते नामादीनां एव भेदानां सप्रपंचं स्वरूपकथनेन पृथग् विविक्तं ख्याप्यंते। दर्श्यते-उपमाप्रदर्शनेन यथा गौः इव गवयः इत्यादि निदर्श्यंते-हेतुदृष्टांतोपदर्शनेन उपदर्श्यंते निगमनेन शिष्यबुद्धौ निःशंकं व्यवस्थाप्यंते। सांप्रतं आचारांगग्रहणे फलं प्रतिपादयति-'स' इति आचारांगग्राहकोऽभिसंबध्यते। एवमात्मा-एवंरूपो भवति, अयमत्र भावः-अस्मिन् आचारांगे भावतः सम्य-अधीते सति तदुक्तक्रियानुष्ठानपरिपालनात् साक्षात् मूर्त्त इव आचारो भवति इति, तदेवं क्रियां अधिकृत्य उक्तं, सम्प्रति ज्ञानं अधिकृत्य आह-यथाऽऽचाराङ्गे निबद्धा भावाः तथा तेषां भावानां ज्ञाता भवति, यथा निर्युक्तिसंग्रहणिहेतुउदाहरणादिभिः विविधं [प्ररूपितास्तथा] ज्ञाता भवति, एवं चरणकरणप्ररूपणा आचारे आख्यायते, सोऽयमाचारः ॥

से किं तं सूयगडे? सूयगडे णं लोए सूइज्जइ, अलोए सूइज्जइ, लोआलोए सूइज्जइ, जीवा सूइज्जइ, अजीवा सूइज्जइ, जीवाजीवे सूइज्जइ, ससमए सूइज्जइ, परसमए सूइज्जइ, ससमयपरसमए सूइज्जइ। सूयगडे णं असीअस्स किरियावाइसयस्स चउरासीए अकिरियावाईणं सत्तट्ठीए अन्नाणियवाईणं बत्तीसाए वेणइयवाईणं तिण्हं तेसट्ठाणं पासंडियसयाणं वूहं किच्चा ससमए ठाविज्जइ। सूयगडे णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखिज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ, संखिज्जाओ संगहणीओ। से णं अंगट्ठयाए विइए अंगे दो सुअक्खंधा, तेवीसं अज्झयणा, तित्तीसं उद्देसणकाला, तित्तीसं समुद्देसणकाला, छत्तीसं पयसहस्साणि,

पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कडनिबद्धनिकाइया जिणपन्नता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवं आया से एवं नाया से एवं विन्नाया से एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ सेत्तं सूयगडे ॥ २ ॥

अथ किं तत्सूत्रकृतं ?, 'सूच पैशुन्ये' सूचनात् सूत्रं निपातनात् रूपनिष्पत्तिः, सा च प्रधानश्च अयं सूत्रशब्दः, ततोऽयमर्थः,— सूत्रेण कृतं, सूत्ररूपतया कृतं इत्यर्थः, यद्यपि च सर्वमङ्गं सूत्ररूपतया कृतं तथापि रूढिवशात् एतत् एव सूत्रकृतं उच्यते, न शेषं अंगं, आचार्य आह—सूत्रकृतेन अथवा सूत्रकृते 'णं' इति वाक्यालंकारे लोकः सूच्यते इत्यादि निगदसिद्धं यावत् 'असीयस्स किरिया-वाइसयस्स' इत्यादि । अशीति अधिकस्य क्रियावादिशतस्य, चतुरशीतेः अक्रियावादिनां, सप्तषष्टेः अज्ञानिकानां, द्वात्रिंशतो वैनयिकानां सर्वसंख्यया त्रयाणां त्रिषष्ट्यधिकानां पाखण्डिशतानां 'व्यूहं' प्रतिक्षेपं कृत्वा स्वसमयः स्थाप्यंते । तत्र न कर्त्तारमंतरेण क्रिया पुण्यबंधादिलक्षणा संभवति । तत एवं परिज्ञाय तां क्रियां—आत्मसमवायिनीं वदंति तत् शीलाश्च ये ते क्रियावादिनस्ते पुनरात्मादि अस्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेन अशीत्यधिकशतसंख्या विज्ञेया । जीवाजीवाश्रवबंधसंवरनिर्जरापुण्यापुण्यमोक्षरूपान् नव पदार्थान् परिपाट्या पट्टिकादौ विरचय्य जीवपदार्थस्याधःस्वपरभेदावुपन्यसनीयौ, तयोः अधो नित्यानित्यभेदौ, तयोरपि अधः कालेश्वरात्म-नियतिस्वभावभेदाः पंच न्यसनीयाः, पुनश्च एवं विकल्पाः कर्त्तव्याः, तद्यथा—अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः इत्येको विकल्पः, अस्य च विकल्पस्य अयमर्थः—विद्यते खलु अयं आत्मा स्वेन रूपेण नित्यश्च कालतः कालवादिनो मते, कालवादिनश्च नाम ते

मंतव्याः ये कालकृतं एव सर्वं जगत् मन्यंते । तथा च ते आहुः—न कालमंतरेण चंपकाशोकसहकारादिवनस्पतिकुसुमोद्गमफलाबंधादयो हिमकणानुषक्तशीतप्रपातनक्षत्रगर्भाधानवर्षादयो वा ऋतुविभागसंपादिता बालकुमारयौवनपलितागमादयो वावस्थाविशेषा घटंते, प्रतिनियतकालविभाग एव तेषां उपलभ्यमानत्वात् । अन्यथा सर्वमव्यवस्थया भवेत्, न चैतदृष्टमिष्टं वा, अपि च—मुद्गपक्तिः अपि न कालमंतरेण लोके भवंती दृश्यते । किंतु कालक्रमेण अन्यथा स्थालींधनादिसामग्रीसंपर्कसंभवे प्रथमसमयेऽपि तस्याभावप्रसंगो न च भवति, तस्मात् यत्कृतकं तत्सर्वं कालकृतं इति । तथा च उक्तं—“न कालव्यतिरेकेण, गर्भबालशुभादिकं । यत्किंचिज्जायते लोके, तदसौ कारणं किल ॥ १ ॥ किं च कालादृते नैव मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते । स्थाल्यादिसंनिधानेऽपि, ततः कालादसौ मता ॥ २ ॥ कालाभावे च गर्भादि, सर्वं स्यादव्यवस्थया । परेष्टहेतुसद्भावमात्रादेव तदुद्भवात् ॥ ३ ॥ कालः पचति भूतानि, कालः संहरति प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्त्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ४ ॥” अत्र ‘परेष्टहेतुसद्भावमात्रादि’ति पराभिमतवनितापुरुषसंयोगादिमात्ररूपहेतुसद्भावमात्रादेव ‘तदुद्भवादि’ति गर्भादि उद्भवप्रसंगात्, तथा कालः पचति—परिपाकं नयति परिणतिं नयति, ‘भूतानि’ पृथिव्यादीनि, तथा कालः संहरति प्रजाः—पूर्वपर्यायान् प्रच्याव्य पर्यायांतरेण प्रजाः लोकान् स्थापयति । तथा कालः सुप्तेषु जनेषु जागर्त्ति, काल एव तं तं सुप्तं जनमापदो रक्षति इति भावः, तस्मात् हि स्फुटं दुरतिक्रमोऽपाकर्त्तुमशक्यः काल इति । उक्तेन एव प्रकारेण द्वितीयोऽपि विकल्पो वक्तव्यः । नवरं कालवादिनः इति वक्तव्ये ईश्वरवादिन इति वक्तव्यं, तद्यथा—अस्ति जीवः स्वतो नित्यः ईश्वरतः, ईश्वरवादिनश्च सर्वं जगत् ईश्वरकृतं मन्यंते, ईश्वरं च सहसिद्धज्ञानवैराग्यधर्म्मैश्वर्यरूपं चतुष्टयं प्राणिनां च स्वर्गापवर्गयोः प्रेरकं इति । तदुक्तं—“ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्म्मश्च, सहसिद्धं चतुष्टयं ॥ १ ॥ “अन्यो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ १ ॥" इत्यादि, एवं तृतीयो विकल्प आत्मवादिनां, आत्मवादिनो नाम ये 'पुरुष एवेदं सर्वं' इत्यादि प्रतिपन्नाः । चतुर्थो विकल्पो नियतिवादिनां, ते हि एवं आहुः-नियतिः नाम'तत्त्वान्तरं अस्ति यद् वशादेते भावाः सर्वेऽपि नियतेन एव रूपेण प्रादुर्भावमश्नुवते, नान्यथा, तथा हि यत् यदा यदा यतो भवति तत्तदा तत एव नियतेन एव रूपेण भवदुपलभ्यते । अन्यथा कार्यकारणभावव्यवस्था प्रतिनियतरूपावस्था च न भवेत्, नियामकाभावात् । तत एवं कार्यनैयत्यतः प्रतीयमानामेनां नियतिं को नाम प्रमाणपथकुशलो बाधितुं क्षमते? मा प्रापदन्यत्रापि प्रमाणपथव्याघातप्रसंगः। तथा च उक्तं-"नियतेनैव रूपेण, सर्वे भावा भवंति यत् । ततो नियतिजा ह्येते, तत्स्वरूपानुवेधतः ॥ १ ॥ यत् यदैव यतो यावत्तत्तदैव ततस्तथा । नियतं जायते न्यायात्, क एनां बाधितुं क्षमः? ॥ २ ॥" पंचमो विकल्पः स्वभाववादिनां, ते हि स्वभाववादिन एवं आहुः-इह सर्वे भावाः स्वभाववशात् उपजायंते । तथा हि-मृदः कुंभो भवति न पटादि, तन्तुभ्योऽपि पट उपजायते न कुम्भादि, एतच्च प्रतिनियतं न तथा स्वभावतामंतरेण घटाकोटीसंटंकमाटीकते, तस्मात्सकलं इदं स्वभावकृतं अवसेयं । अपि चास्तामन्यत्कार्यजातं इह मुद्गपक्तिः अपि न स्वभावमंतरेण भवितुं अर्हति, तथा हि-स्थालींधनकालादिसामग्रीभावेऽपि न कांकटुकमुद्गानां पक्तिः उपलभ्यते । तस्मात् यद्यत् भावे भवति [यदभावे च न-भवति] तत्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत् कृतं इति स्वभावकृता मुद्गपक्तिः अभ्येष्टव्याः, ततः सकलं एव इदं वस्तुजातं स्वभावहेतुकं अवसेयं इति । ततः एवं स्वतः इति पदेन लब्धाः पंच विकल्पाः, एवं परत इति अनेनापि पंच लभ्यंते, परत इति परेभ्यो व्यावृत्तेन रूपेण विद्यते न खलु अयं आत्मा इत्यर्थः । एवं नित्यत्वापरित्यागेन दश विकल्पा लब्धाः, एवमनित्यपदेनाऽपि दश, सर्वे मिलिता विंशतिः, एते च जीवपदार्थेन लब्धाः, एवं अजीवादिषु अपि अष्टसु पदार्थेषु प्रत्येकं

विंशतिःविकल्पा लभ्यंते, ततो विंशतिः नवगुणिताः शतं अशीत्युत्तरं, क्रियावादिनां भवति ॥ तथा न कस्यचित् प्रतिक्षणं अनवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया संभवति उत्पत्त्यनंतरं एव विनाशात् इत्येवं ये वदंति ते अक्रियावादिनः, तथा च आहुःएके— "क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया ? भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारणं स एव उच्यते ॥ १ ॥ एते च आत्मादि-नास्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेन चतुरशीतिसंख्या द्रष्टव्याः, पुण्यापुण्यवर्ज्जितशेपजीवादिपदार्थसप्तकन्यासः, तथैव च जीवादिसप्तकस्य अधः प्रत्येकं स्वपरविकल्पोपादानं, असत्त्वात् आत्मनो नित्यानित्यविकल्पौ न स्तः, कालादीनां च पंचानां अधस्तात् षष्ठी यदृच्छा न्यस्यते, इह यदृच्छावादिनः सर्वेऽपि अक्रियावादिन एव, न केचित् अपि क्रियावादिनः ततः प्राग् यदृच्छा नोपन्यस्ता, तत एवं विकल्पाभिलापः—नास्ति जीवः स्वतः कालत इति एको विकल्पः, एवं ईश्वरादिभिः अपि यदृच्छापर्यंतैः, सर्वेऽपि मिलिताः षड् विकल्पाः, अमीषां च विकल्पानां अर्थः प्राग्वद्भावनीयः, नवरं यदृच्छात इति यदृच्छावादिनां मते, अथ के ते यदृच्छावादिनः ? उच्यते, इह ये भावानां संतानापेक्षया न प्रतिनियतं कार्यकारणभावं इच्छंति किंतु यदृच्छया ते यदृच्छावादिनः, तथा च ते एवं आहुः—"न खलु प्रतिनियतो वस्तूनां कार्यकारणभावस्तथा प्रमाणेन अग्रहणात्, तथा हि शालूकादपि जायते शालूको गोमयात् अपि वह्नेः अपि वह्निः उपजायते अरणिकाष्ठात् अपि धूमादपि जायते धूमोऽग्नीन्धनसंपर्कात् अपि कंदात् अपि जायते कदली बीजात् अपि वटादयो बीजादपि जायंते शाखैकदेशात् अपि, ततो न प्रतिनियतः क्वचिदपि कारण-कार्यभाव इति यदृच्छातः क्वचित् किंचित् भवति इति प्रतिपत्तव्यं, न खलु अन्यथा च वस्तुसद्भावं पश्यंतोऽन्यथा आत्मानं प्रेक्षावंतः परिक्लेशयंति इति । यथा च स्वतः षड् विकल्पा लब्धाः तथा नास्ति परतः कालत [illegible]

द्वादश विकल्पा जीवपदे लब्धाः, एवं अजीवादिषु अपि षट्सु पदार्थेषु प्रत्येकं द्वादश द्वादश विकल्पा लभ्यंते। ततो द्वादशभिः सप्त गुणिताः चतुरशीतिर्भवंति अक्रियावादिनां विकल्पाः ॥ तथा कुत्सितं ज्ञानं अज्ञानं तदेषां अस्ति इति अज्ञानिकाः, 'अतोऽनेकस्वरात्' इति मत्वर्थीय इकप्रत्ययः, अथवा अज्ञानेन चरंति इति अज्ञानिकाः—असंचिंत्य कृतबंधवैफल्यादिप्रतिपत्तिलक्षणाः, तथा हि—एते एवमाहुः—न ज्ञानं श्रेयः, तस्मिन् सति परस्परं विवादयोगतः चित्तकालुष्यादिभावतो दीर्घतरसंसारप्रवृत्तेः। तथाहि—केनचित् पुरुषेण अन्यथा देशिते सति वस्तुनि विवक्षितो ज्ञानी ज्ञानगर्वाध्मातमानसः तस्य उपरि कलुषचित्तस्तेन सह विवादं आरभते, विवादे च क्रियमाणे तीव्रतीव्रतरचित्तकालुष्यभावतोऽहंकारतश्च प्रभूतप्रभूततराः अशुभकर्म्मबंधसंभवः, तस्मात् च दीर्घदीर्घतरसंसारः, तथा च उक्तं—"अन्नेण अन्नहा देसियंमि भावंमि नाणगव्वेणकुणइ विवायं कलुसियचित्तो तत्तो य से बंधो ॥ १ ॥" इत्यादि, येऽपि च विनयवादिनो विनयप्रतिपत्तिलक्षणाः तेऽपि मोहात् मुक्तिपथपरिभ्रष्टाः वेदितव्याः। तथा हि—विनयो नाम मुक्तिअंगं यो मुक्तिपथानुकूलो न शेषः, मुक्तिपथश्च ज्ञानदर्शनचारित्राणि, 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति वचनात्, ततो ज्ञानादीनां ज्ञानादिआधारणां च बहुश्रुतादिपुरुषाणां यो विनयो ज्ञानादिबहुमानप्रतिपत्तिलक्षणः स ज्ञानादिसंपत् वृद्धिहेतुत्वेन परंपरया मुक्तिअंगं उपजायते। यस्तु सुरनृपत्यादिषु विनयः स नियमात् संसारहेतुर्यतः सुरनृपत्यादिषु विनयो विधीयमानः सुरनृपत्यादिभावविषयं बहुमानं आपादयति। अन्यथा विनयकरणाप्रवृत्तेः, सुरनृपत्यादिभावश्च भोगप्रधानः, ततस्तत् बहुमाने भोगबहुमानं एव कृतं परमार्थतो भवति इति दीर्घसंसारपथप्रवृत्तिः, येऽपि च यतिविनयवादिनः तेऽपि यदि साक्षात् विनयमेव केवलं मुक्तिअंगं इच्छंति तर्हि तेऽपि असमीचीनवादिनो वेदितव्याः। ज्ञानादिरहितस्य केवलस्य विनयस्य साक्षात् मुक्तिअंगत्वाभावात्, न खलु ज्ञानदर्शनचारित्ररहिताः

केवलं पादपतनादिमात्रेण मुक्ति अश्नुवते जंतवः, किंतु ज्ञानादिसहिताः, ततो ज्ञानादिकं एव साक्षात् मुक्तिअंगं, न विनयः। कथमेतदवसीयते ?, इति चेदुच्यते। इह मिथ्यात्वाज्ञानाविरतिप्रत्ययं कर्म्मजालंतत् क्षयात् च मोक्षो 'मुक्तिः कर्म्मक्षयादिष्टा' इति वचनप्रामाण्यात्, कर्म्मजालक्षयश्च न निर्मूलकारणोच्छेदमंतरेण सर्वथा संभवति। ततो मिथ्यात्वप्रतिपक्षं सम्यग्दर्शनं अज्ञानप्रतिपक्षं च ज्ञानं अविरतिप्रतिपक्षं च चारित्रं सम्यक् सेव्यमानं यदा प्रकर्षप्राप्तं भवति तदा सर्वथा कारणापगमतो निर्मूलकर्म्मोच्छेदो भवति इति ज्ञानादिकं साक्षात् मुक्तिअंगं, न विनयमात्रं, केवलं विनयो ज्ञानादिषु विधीयमानः परंपरया मुक्तिअंगं साक्षात् तु ज्ञानादिहेतुरिति सर्वकल्याणभाजनं तत्र तत्र प्रदेशे गीयते, यदि पुनः विनयवादिनो ज्ञानादिवृत्तिहेतुतया मुक्तिअंगं विनयं इच्छंति तदा तेऽप्यसत्पथवर्त्तिन एव इति न कदाचिद्विप्रतिपत्तिः इति कृतं प्रसंगेन, प्रकृतिं अनुसंधीयते। 'सूयगडस्सणं परित्ता वायणा' इत्यादि सर्वं प्राग्वत्, उद्देशानां च परिमाणं कृत्वा उद्देशसमुद्देशकालसंख्या भावनीया। तदेतत् सूत्रकृतं ॥

से किं तं ठाणे ? ठाणे जीवा ठाविज्जंति, अजीवा ठाविज्जंति, जीवाजीवे ठाविज्जंति। ससमए ठाविज्जंति, परसमए ठाविज्जंति, ससमए परसमए ठाविज्जंति, लोए ठाविज्जंति, अलोए ठाविज्जंति, लोआलोए ठाविज्जंति। ठाणे णं टंका कूडा सेला सिहरिणो पब्भारा कुडाइं गुहाओ आगरा दहा नईओ आघविज्जंति ठाणे णं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ संखिज्जाओ संगहणीओ से णं अंगट्ठयाए तइए अंगे एगे सुअक्खंधे दस अज्झयणा एगवीसं उद्देसणकाला एगवीसं समुद्देसणकाला बावत्तरि पयसहस्सा पयग्गेणं

संखिज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्ध निकाइआ जिणपन्नता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंत्ति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति से एवं आया से एवं नाया से एवं विन्नाया से एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ। सेतं ठाणे ॥ ३ ॥

अथ किं तत् स्थानं?, तिष्ठंति प्रतिपाद्यतया जीवादयः पदार्था अस्मिन् इति स्थानं, तथा च आह सूरिः—स्थानेन स्थाने वा 'णं' इति वाक्यालंकारे, जीवाः स्थाप्यंते—यथावस्थितस्वरूपप्ररूपणया व्यवस्थाप्यंते । शेषं प्रायो निगदसिद्धं, नवरं 'टंकं' छिन्नतटं टंकं, कूटानि पर्वतस्य उपरि यथा वैताढ्यस्य उपरि सिद्धायतनकूटादीनि नव कूटानि, शैला हिमवदादयः, शिखरिणः—शिखरेण समन्वितास्ते च वैताढ्यादयः, तथा यत् कूटोपरि कुब्जाग्रवत् कुब्जं तत्प्राग्भारं, यद्वा यत्पर्वतस्योपरि हस्तिकुम्भाकृतिकुब्जं विनिर्गतं तत्प्राग्भारं, कुण्डानि—गङ्गाकुण्डादीनि, गुहाः—तिमिश्रगुहादयः, आकराः—रूप्यसुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानानि, ह्रदाः—पौण्डरीकादयः, नद्यो—गङ्गा सिन्ध्वादय आख्यायन्ते, तथा स्थानेनाथवा स्थाने 'ण' मिति वाक्यालंकारे एकाद्येकोत्तरिकया वृद्ध्या दशस्थानकं यावद्विवर्द्धितानां भावानां प्ररूपणा आख्यायते, किमुक्तं भवति? एकसंख्यायां यावत् दशसंख्यायां ये ये भावा यथा यथा अन्तर्भवंति तथा तथा ते ते प्ररूप्यंते इत्यर्थः, यथा 'एगे आया' इत्यादि, तथा 'जं इत्थं च णं लोके तं सव्वं दुपडोयारं, तं जहा—जीवा चेव अजीवा चेव' इत्यादि। 'ठाणस्स णं परित्ता वायणा' इत्यादि, सर्वं प्राग्वत् परिभावनीयं, पदपरिमाणं च पूर्वस्मात् पूर्वस्मात् अंगात् उत्तरस्मिन् उत्तरस्मिन् अंगे द्विगुणं अवसेयं। शेषं पाठसिद्धं, यावत् निगमनं।

से किं तं समवाए? समवाए णं जीवा समासिज्जंति, अजीवा समासिज्जंति, जीवाजीवा समासिज्जंति

ससमए समासिज्जति, परसमए समासिज्जति ससमए परसमए समासिज्जति, लोए समासिज्जति, अलोए समासिज्जति, लोए अलोए समासिज्जति, समवाएणं एगाइआणं, एगुत्तरिआणं ठाणसयविवड्ढिआणं भावाणं परूवणा आघविज्जइ दुवालसविहस्स य गणिपिडगस्स पल्लवग्गे समासिज्जंति, समवायस्स णं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ संखिज्जाओ संगहणीओ से णं अंगट्ठयाए चउत्थे अंगे एगे सुअक्खंधे एगे अज्झयणे एगे उद्देसणकाले एगे समुद्देसणकाले एगे चोआले पयसयसहस्से पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तस्सा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिण-पन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति। से एवं आया से एवं नाया से एवं विन्नाया से एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ। से तं समवाए ॥ ४ ॥

अथ कोऽयं समवायः?, सम्यक्अवायो-निश्चयो जीवादीनां पदार्थानां यस्मात् [स] समवायः, तथा चाह सूरिः—समवायेन समवाये णं' [यद्वा] इति वाक्यालंकारे, जीवाः 'समाश्रीयंते', सं इति सम्यक् यथावस्थिततया आश्रीयंते—बुद्ध्या स्वीक्रियंते। अथवा जीवाः समस्यंते—कुप्ररूपणाभ्यः समाकृष्य सम्यक् प्ररूपणायां प्रक्षिप्यंते, शेषं आनिगमनं निगदसिद्धं, नवरं एकादिकानां एकोत्तराणां शतस्थानकं यावत् विवर्द्धितानां भावानां प्ररूपणा आख्यायते, अयमत्र भावार्थः—एकसंख्यायां द्विसंख्यायां यावत् शतसंख्यायां ये ये भावा यथा यथा यत्र यत्र अंतर्भवंति ते ते तत्र तत्र तथा तथा प्ररूप्यंते, यथा 'एगे आया' इत्यादि ॥

से किं तं विवाहे ? विवाहे णं जीवा विआहिज्जंति, अजीवा विआहिज्जंति, जीवाजीवा विआहिज्जंति ससमए विआहिज्जति, लोए विआहिज्जति, अलोए विआहिज्जति, लोआलोए विआहिज्जंति विवाहस्स णं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ संखिज्जाओ संगहणीओ, से णं अंगट्ठयाए पंचमे अंगे एगे सुअक्खंधे एगे साइरेगे अज्झयणसए दसउद्देसगसहस्साइं दस समुद्देसगसहस्साइं छत्तीसं वागरणसहस्साइं दोलक्खा अट्ठासीइं पयसहस्साइं पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति से एवं आया से एवं नाया से एवं विन्नाया से एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ । से तं विवाहे ॥ ५ ॥

से किं तं नायाधम्मकहाओ ? नायाधम्मकहासु णं नायाणं नगराइं उज्जाणाइं चेइआइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मापियरो धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइया इड्ढिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ परिआया सुअपरिग्गहा तवोवहाणाइं संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुलपच्चायाईओ पुणबोहिलाभा अंतकिरियाओ, आघविज्जंति, नायाधम्मकहाणं दस धम्मकहाणं वग्गा, तत्थ णं एगमेगाए धम्मकहाए पंच पंच अक्खाइआ सयाइं एगमेगाए

ससमए समासिज्जति, परसमए समासिज्जति ससमए परसमए समासिज्जति, लोए समासिज्जति, अलोए समासिज्जति, लोए अलोए समासिज्जति, समवाएणं एगाइआणं, एगुत्तरिआणं ठाणसयविवड्ढिआणं भावाणं परूवणा आघविज्जइ दुवालसविहस्स य गणिपिडगस्स पल्लवग्गे समासिज्जंति, समवायस्स णं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ संखिज्जाओ संगहणीओ से णं अंगट्ठयाए चउत्थे अंगे एगे सुअक्खंधे एगे अज्झयणे एगे उद्देसणकाले एगे समुद्देसणकाले एगे चोआले पयसयसहस्से पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तस्सा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिण-पन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति। से एवं आया से एवं नाया से एवं विन्नाया से एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ। से तं समवाए ॥ ४ ॥

अथ कोऽयं समवायः?, सम्यक्अवायो-निश्चयो जीवादीनां पदार्थानां यसात् [स] समवायः, तथा चाह सूरिः—समवायेन समवाये णं' [यद्वा] इति वाक्यालंकारे, जीवाः 'समाश्रीयंते', सं इति सम्यक् यथावस्थिततया आश्रीयंते—बुद्ध्या स्वीक्रियंते। अथवा जीवाः समसंते—कुप्ररूपणाभ्यः समाकृष्य सम्यक् प्ररूपणायां प्रक्षिप्यंते, शेषं आनिगमनं निगदसिद्धं, नवरं एकादिकानां एकोत्तराणां शतस्थानकं यावत् विवर्द्धितानां भावानां प्ररूपणा आख्यायते, अयमत्र भावार्थः—एकसंख्यायां द्विसंख्यायां यावत् शतसंख्यायां ये ये भावा यथा यथा यत्र यत्र अंतर्भवंति ते ते तत्र तत्र तथा तथा प्ररूप्यंते, यथा 'एगे आया' इत्यादि ॥

से किं तं विवाहे ? विवाहे णं जींवा विआहिज्जंति, अजीवा विआहिज्जंति, जीवाजीवा विआहिज्जंति ससमए विआहिज्जति, लोए विआहिज्जति, अलोए विआहिज्जति, लोआलोए विआहिज्जंति विवाहस्स णं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ संखिज्जाओ संगहणीओ, से णं अंगठ्ठयाए पंचमे अंगे एगे सुअक्खंधे एगे साइरेगे अज्झयणसए दसउद्देसगसहस्साइं दस समुद्देसगसहस्साइं छत्तीसं वागरणसहस्साइं दोलक्खा अठ्ठासीइं पयसहस्साइं पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपन्नता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति से एवं आया से एवं नाया से एवं विन्नाया से एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ । से तं विवाहे ॥ ५ ॥

से किं तं नायाधम्मकहाओ ? नायाधम्मकहासु णं नायाणं नगराइं उज्जाणाइं चेइआइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मापियरो धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइया इड्ढिविसेसा भोग-परिच्चाया पव्वज्जाओ परिआया सुअपरिग्गहा तवोवहाणाइं संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुलपच्चायाईओ अपुणबोहिलाभा अंतकिरियाओ, आघविज्जंति, नायाधम्मकहाणं दस धम्मकहाणं वग्गा, तत्थ णं एगमेगाए धम्मकहाए पंच पंच अक्खाइआ सयाइं एगमेगाए

अक्खाइआए पंच पंच उवक्खाइआ सयाइं एगमेगाए उवक्खाइआए पंच पंच अक्खाइउवक्खाइआ सयाइं एवमेव सपुव्वावरेणं अद्धुट्ठाओ कहाणगकोडीओ हवंतित्ति समक्खायं, नायाधम्मकहाणं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ संखिज्जाओ संगहणीओ, से णं अंगट्ठयाए छट्ठे अंगे दो सुअक्खंधे एगूणवीसं अज्झयणा संखिज्जा एगूणवीसं उद्देसणकाला एगूणवीसं समुद्देसणकाला संखिज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिण-पन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति से एवं आया से एवं नाया से एवं विन्नाया से एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ । से तं नायाधम्मकहाओ ॥ ६ ॥

अथ केयं व्याख्या? व्याख्यायंते जीवादयः पदार्थाः अनया इति व्याख्या, 'उपसर्गादात०' इति अङ्प्रत्ययः,' तथा चाह सूरिः—'विवाहे णं' इत्यादि, व्याख्यायां जीवा व्याख्यायंते, शेषं आनिगमनं पाठसिद्धं । अथ कास्ता ज्ञाताधर्म्मकथाः?, ज्ञातानि—उदाहरणानि तत्प्रधाना धर्म्मकथा ज्ञाताधर्म्मकथाः । अथवा ज्ञातानि—ज्ञाताध्ययनानि प्रथमश्रुतस्कंधे धर्म्मकथा द्वितीये श्रुतस्कंधे यासु ग्रंथपद्धतिषु ताः ज्ञाताधर्म्मकथाः पृषोदरादित्वात् पूर्वपदस्य दीर्घांतता, सूरिराह—ज्ञाताधर्म्मकथासु 'णं' इति वाक्यालंकारे ज्ञातानां—उदाहरणभूतानां नगरादीनि आख्यायंते, तथा 'दसधम्मकहाणं वग्गा' इत्यादि, इह प्रथमश्रुतस्कंधे एकोनविंशतिर्ज्ञाताध्ययनानि ज्ञातानि—उदाहरणानि तत् प्रधानानि अध्ययनानि द्वितीयश्रुतस्कंधे दश धर्म्मकथाः धर्मस्य—अहिंसालक्षणस्य प्रतिपादिकाः कथा धर्म्म-

कथाः, अथवा धर्म्मादनपेताः धर्म्याः धर्म्याश्च ताः कथाश्च धर्म्म्यकथाः, तत्र प्रथमे श्रुतस्कंधे यानि एकोनविंशतिः ज्ञाता अध्ययनानि तेषु आदिमानि दश ज्ञातानि ज्ञातानि एव न तेषु आक्षा(ख्या?)यिकादिसंभवः, शेषाणि पुनः यानि नव ज्ञातानि तेषु एकैकस्मिन् चत्वारिंशानि पंच पंचाख्यायिकाशतानि ५४० भवंति। एकैकस्यां च पंच आख्यायिकायां पंच पंच उपाख्यायिकाशतानि २४३०००० एकैकस्यां च उपाख्यायिकायां पंच पंच आख्यायिकोपाख्यायिकाशतानि सर्वसंख्या १२१५०००००० एकविंशं कोटिशतं लक्षाः पंचाशत्, ततः एवं कृते सति प्रस्तुतसूत्रस्य अवतारः, द्वितीये श्रुतस्कंधे दशधर्म्मकथानां वर्गाः, वर्गः समूहः, दश धर्म्मकथासमुदाया इत्यर्थः। तत एव च दशाध्ययनानि, एकैकस्यां धर्म्मकथायां–कथासमूहरूपायां अध्ययनप्रमाणायां पंच पंच आख्यायिकाशतानि, एकैकस्यां च आख्यायिकायां पंच पंच उपाख्यायिकाशतानि एकैकस्यां उपाख्यायिकायां पंच पंच आख्यायिक उपाख्यायिकाशतानि सर्वसंख्यया पंचविंशं कोटिशतं, इह नव ज्ञाताध्ययनसंबद्धाख्यायिकादि सदृशा या आख्यायिकादयः पंचशत-लक्षाधिक-एकविंश-कोटिशतप्रमाणास्ताः अस्मात् पंचविंशकोटिशतप्रमाणात् राशेः शोध्यंते। ततः शेषा अपि अपुनरुक्ता अर्द्धचतुर्थाः कथानककोट्यो भवंति। तथा चाह– 'एवमेव' उक्तप्रकारेण एव गुणेन शोधने च कृते 'स पूर्वापरेण' पूर्वश्रुतस्कंधापरश्रुतस्कंधकथाः समुदिता अपुनरुक्ता 'अद्धुट्टाओ'त्ति अर्द्धचतुर्थाः कथानककोट्यो भवंति इति आख्यातं तीर्थंकरगणधरैः, तथा 'नायाधम्म कहाणं परित्ता 'वायणा' इत्यादि सर्वं प्राग्वत् भावनीयं यावत् निगमनं।

नवरं संख्येयानि पदसहस्राणि पदाग्रेण–पदपरिमाणेन, तानि च पंचलक्षाः षट् सप्ततिः सहस्राः, पदं अपि च अत्र औपसर्गिकं नैपातिकं नामिकं आख्यातिकं मिश्रं च वेदितव्यं। अथवा इह पदं सूत्रालापकरूपं उपगृह्यते, ततः तथारूपपदापेक्षया संख्येयानि पदसहस्राणि भवंति। न लक्षाः, एवमुत्तरत्रापि भावनीयं॥

अक्खाइआए पंच पंच उवक्खाइआ सयाइं एगमेगाए उवक्खाइआए पंच पंच अक्खाइउवक्खाइआ सयाइं एवमेव सपुव्वावरेणं अद्धुट्ठाओ कहाणगकोडीओ हवंतित्ति समक्खायं, नायाधम्मकहाणं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ संखिज्जाओ संगहणीओ, से णं अंगट्ठयाए छट्ठे अंगे दो सुअक्खंधे एगूणवीसं अज्झयणा संखिज्जा एगूणवीसं उद्देसणकाला एगूणवीसं समुद्देसणकाला संखिज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परुविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति से एवं आया से एवं नाया से एवं विन्नाया से एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ । से तं नायाधम्मकहाओ ॥ ६ ॥

अथ केयं व्याख्या? व्याख्यायंते जीवादयः पदार्थाः अनया इति व्याख्या, 'उपसर्गादात०' इति अङ्प्रत्ययः,' तथा चाह सूरिः—'विवाहे णं' इत्यादि, व्याख्यायां जीवा व्याख्यायंते, शेषं आनिगमनं पाठसिद्धं । अथ कास्ता ज्ञाताधर्म्मकथाः?, ज्ञातानि—उदाहरणानि तत्प्रधाना धर्म्मकथा ज्ञाताधर्म्मकथाः । अथवा ज्ञातानि—ज्ञाताध्ययनानि प्रथमश्रुतस्कंधे धर्म्मकथा द्वितीये श्रुतस्कंधे यासु ग्रंथपद्धतिषु ताः ज्ञाताधर्म्मकथाः पृषोदरादित्वात् पूर्वपदस्य दीर्घांतता, सूरिराह—ज्ञाताधर्म्मकथासु 'णं' इति वाक्यालंकारे ज्ञातानां—उदाहरणभूतानां नगरादीनि आख्यायंते, तथा 'दसधम्मकहाणं वग्गा' इत्यादि, इह प्रथमश्रुतस्कंधे एकोनविंशतिर्ज्ञाताध्ययनानि ज्ञातानि—उदाहरणानि तत् प्रधानानि अध्ययनानि द्वितीयश्रुतस्कंधे दश धर्म्मकथाः धर्मस्य—अहिंसालक्षणस्य प्रतिपादिकाः कथा धर्म-

कथाः, अथवा धर्म्मादनपेताः धर्म्याः धर्म्याश्च ताः कथाश्च धर्म्म्यकथाः, तत्र प्रथमे श्रुतस्कंधे यानि एकोनविंशतिः ज्ञाता अध्ययनानि तेषु आदिमानि दश ज्ञातानि ज्ञातानि एव न तेषु आक्षा(ख्या?)यिकादिसंभवः, शेषाणि पुनः यानि नव ज्ञातानि तेषु एकैकस्मिन् चत्वारिंशानि पंच पंचाख्यायिकाशतानि ५४० भवंति। एकैकस्यां च पंच आख्यायिकायां पंच पंच उपाख्यायिकाशतानि २४३०००० एकैकस्यां च उपाख्यायिकायां पंच पंच आख्यायिकोपाख्यायिकाशतानि सर्वसंख्या १२१५०००००० एकविंशं कोटिशतं लक्षाः पंचाशत्, ततः एवं कृते सति प्रस्तुतसूत्रस्य अवतारः, द्वितीये श्रुतस्कंधे दशधर्म्मकथानां वर्गाः, वर्गः समूहः, दश धर्म्मकथासमुदाया इत्यर्थः। तत एव च दशाध्ययनानि, एकैकस्यां धर्म्मकथायां—कथासमूहरूपायां अध्ययनप्रमाणायां पंच पंच आख्यायिकाशतानि, एकैकस्यां च आख्यायिकायां पंच पंच उपाख्यायिकाशतानि एकैकस्यां उपाख्यायिकायां पंच पंच आख्यायिक उपाख्यायिकाशतानि सर्वसंख्यया पंचविंशं कोटिशतं, इह नव ज्ञाताध्ययनसंबद्धाख्यायिकादि सदृशा या आख्यायिकादयः पंचशत-लक्षाधिक-एकविंश-कोटिशतप्रमाणास्ताः अस्मात् पंचविंशकोटिशतप्रमाणात् राशेः शोध्यंते। ततः शेषा अपि अपुनरुक्ता अर्द्धचतुर्थाः कथानककोट्यो भवंति। तथा चाह— 'एवमेव' उक्तप्रकारेण एव गुणेन शोधने च कृते 'स पूर्वापरेण' पूर्वश्रुतस्कंधापरश्रुतस्कंधकथाः समुदिता अपुनरुक्ता 'अद्धुट्ठाओ'त्ति अर्द्धचतुर्थाः कथानककोट्यो भवंति इति आख्यातं तीर्थकरगणधरैः, तथा 'नायाधम्म कहाणं परित्ता 'वायणा' इत्यादि सर्वं प्राग्वत् भावनीयं यावत् निगमनं।

नवरं संख्येयानि पदसहस्राणि पदाग्रेण—पदपरिमाणेन, तानि च पंचलक्षाः षट् सप्ततिः सहस्राः, पदं अपि च अत्र औपसर्गिकं नैपातिकं नामिकं आख्यातिकं मिश्रं च वेदितव्यं। अथवा इह पदं सूत्रालापकरूपं उपगृह्यते, ततः तथारूपपदापेक्षया संख्येयानि पदसहस्राणि भवंति। न लक्षाः, एकमुत्तरत्रापि भावनीयं॥

से किं तं उवासगदसाओ ? उवासगदशासु णं समणोवासयाणं नगराइं उज्जाणाइं चेइआइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मापियरो धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइअपरलोइआ इड्ढिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ परिआगा सुअपरिग्गहा तवोवहाणाइं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाण पोसहोववासपडिवज्जणया पडिमाओ उवसग्गा संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुलपच्चाईओ पुणबोहिलाभा अंतकिरिआओ अ आघविज्जंति, उवासगदसाणं परित्ता वायणा संखेज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ संगहणीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ, से णं अंगट्ठयाए सत्तमे अंगे एगे सुअक्खंधे दस अज्झयणा दस उद्देसणकाला दस समुद्देसणकाला संखिज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइआ जिणपन्नता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति उवदंसिज्जंति, से एवं आया से एवं विन्नाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ, से तं उवासगदसाओ ॥ १ ॥

अथ काः ता उपाशकदशाः, ? उपासकाः श्रावकाः तत्गतअणुव्रतगुणव्रतादिक्रियाकलापप्रतिबद्धाः—दशअध्ययनानि उपासकदशाः, तथा चाह सूरिः—'उवासगदसासु णं' इत्यादि पाठसिद्धं यावत् निगमनं, नवरं संख्येयानि पदसहस्राणि पदाग्रेण इति दशलक्षाः द्विपंचाशत सहस्रा इत्यर्थः । द्वितीयं तु व्याख्यानं पाक्षिक आवतीयं ।

से किं तं अंतगडदसाओ ? अंतगडदसासु णं अंतगडाणं नगराइं उज्जाणाइं चेइआइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मापियरो धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइयाइड्ढिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ परिआया सुअपरिग्गहा तवोवहाणाइं संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं अंतकिरियाओ आघविज्जंति, अंतगडदसासु णं परित्ता वायणा संखिज्ज अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ संखिज्जाओ संगहणीओ से णं अंगट्ठयाए अट्ठमे अंगे एगे सुअक्खंधे अट्ठ वग्गा अट्ठ उद्देसणकाला अट्ठ समुद्देसणकाला संखिज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति से एवं आया से एवं नाया से एवं विन्नाया से एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ। से तं अंतगडदसाओ ॥ ८ ॥

अथ कास्ताः अंतकृत्दशाः ?, अंतो—विनाशः तं कर्म्मणः तत् फलभूतस्य वा संसारस्य ये कृतवन्तस्तेऽन्तकृतः—तीर्थंकरादयः, तत् वक्तव्यताप्रतिबद्धा दशाध्ययनानि अंतकृत्दशाः । तथा चाह सूरिः—अंतगडदसासु' 'णं' इत्यादि पाठसिद्धं यावत् 'अंतकिरियाउ' त्ति भावापेक्षया, अंताश्च ताः क्रियाश्च अंतक्रियाः शैलेश्यवस्थादिका गृह्यंते । शेषं प्रकरार्थं यावत् 'अट्ठवग्ग' त्ति वर्गः समूहः, स च अंतकृतां अध्ययनानां वा वेदितव्यः, सर्वाणि च अध्ययनानि च वर्गवर्गान्तर्गतानि युगपदुद्दिश्यन्ते, अत आह—उद्देशा अष्टौ उद्देशन-

काला अष्टौ समुद्देशनकालाः, संख्येयानि पदसहस्राणि पदाग्रेण तानि च किल त्रयोविंशति लक्षाः चत्वारश्च सहस्राः, शेषं पाठसिद्धं यावत् निगमनं ॥

से किं तं अणुत्तरोववाइअदसाओ? अणुत्तरोववाइअदसासु णं अणुत्तरोववाइआणं नगराइं उज्जाणाइं चेइआइं वणसंडाणं समोसरणाइं रायाणो अम्मापियरो धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइयाइड्ढिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ परिआया सुअपरिग्गहा तवोवहाणाइं पडिमाओ उवसग्गा संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं अणुत्तरोववाइत्ते उववत्ती सुकुलपच्चायाईओ पुणबोहिलाभा अंतकिरियाओ आघविज्जंति, अणुत्तरोववाइअदसासु णं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ संखिज्जाओ संगहणीओ से णं अंगट्ठयाए नवमे अंगे एगे सुअक्खंधे तिन्निवग्गा तिन्नि उद्देसणकाला तिन्नि समुद्देसणकाला संखिज्जा पयसहस्साइं पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति से एवं आया से एवं नाया से एवं विन्नाया से एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ। से तं अणुत्तरोववाइअदसाओ ॥ ९ ॥

अथ कास्ताः अनुत्तरौपपातिकदशाः?, न विद्यते उत्तरः—प्रधानो येभ्यस्तेऽनुत्तराः—सर्वोत्तमा इत्यर्थः। उपपातेन निर्वृत्ता

औपपातिकाः अनुत्तराश्च ते औपपातिकाश्च अनुत्तरौपपातिकाः, विजयादि अनुत्तरविमानवासिनः इत्यर्थः। तत् वक्तव्यताप्रतिबद्धा दशा अनुत्तरोपपातिकदशाः। तथा चाह सूरिः—'अणुत्तरोववाइयदसासु णं' इत्यादि पाठसिद्धं यावत् निगमनं, नवरं अध्ययनसमूहो वर्गः, वर्गे वर्गे च दश दश अध्ययनानि, वर्गश्च युगपदेव उद्दिश्यते इति त्रय एव उद्देशनकालाः त्रय एव समुद्देशनकालाः, संख्येयानि च पद-सहस्राणि—सहस्राष्टाधिकषट्चत्वारिंशत् लक्षाः प्रमाणानि वेदितव्यानि॥

से किं तं पण्हावागरणाइं? पण्हावागरणेसु णं अट्ठुत्तरपसिणसयं अट्ठुत्तरं अपसिणसयं अट्ठुत्तरं पसिणापसिणसयं, तंजहा—अंगुट्ठपसिणाइं बाहुपसिणाइं अद्दागपसिणाइं अन्नेवि विचित्ता विज्जाइसया नागसुवन्नेहिं सद्धिं दिव्वा संवाया आघविज्जंति पण्हावागरणाणं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ संगहणीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ, से णं अंगट्ठयाए दसमे अंगे एगे सुअक्खंधे पणयालीसं अज्झयणा पणयालीसं उद्देसणकाला पणयालीसं समुद्देसणकाला संखिज्जा पयसहस्साइं पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपन्नता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति से एवं आया से एवं नाया से एवं विन्नाया से एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ। से तं पण्हावागराणाइं॥ १०॥

अथ कानि प्रश्नव्याकरणानि ?, प्रश्नः—प्रतीतः तत्-विषयं निर्वचनं—व्याकरणं, तानि च बहूनि ततो बहुवचनं, तेषु प्रश्नव्याकरणेषु

केउभूअं[५], रासिबद्धं[६], एगगुणं[७], दुगुणं[८], तिगुणं[९], केउभूअं[१०], पडिग्गहो[११], संसारपडिग्गहो[१२], नंदावत्तं[१३], सिद्धावत्तं[१४] । सेतं सिद्धसेणिआपरिकम्मे ॥ १ ॥

से किं तं मणुस्ससेणिआपरिकम्मे ? मणुस्ससेणिआपरिकम्मे चउदसविहे पन्नत्ते, तंजहा माउगापयाइं[१], एगट्ठिअपयाइं[२], अट्ठपयाइं[३], पाढोआमासपयाइं[४], केउभूअं[५], रासिबद्धं[६], एगगुणं[७], दुगुणं[८], तिगुणं[९] केउभूअं[१०], पडिग्गहो[११], संसारपडिग्गहो[१२], नंदावत्तं[१३], मणुस्सावत्तं[१४] ? सेतं मणुस्ससेणिआपरिकम्मे ॥ २ ॥

से किं तं पुट्ठसेणिआपरिकम्मे ? पुट्ठसेणिआपरिकम्मे एक्कारसविहे पन्नत्ते, तं जहा—पाढोआमासपयाइं[१], केउभूअं[२], रासिबद्धं[३], एगगुणं[४], दुगुणं[५], तिगुणं[६], केउभूअं[७], पडिग्गहो[८] संसारपडिग्गहो[९], नंदावत्तं[१०] पुट्ठावत्तं[११], से तं पुट्ठसेणिआपरिकम्मे ॥ ३ ॥

से किं तं ओगाढसेणिआपरिकम्मे ? ओगाढसेणिआपरिकम्मे एक्कारसविहे पन्नत्ते, तं जहा पाढोआमासपयाइं[१], केउभूयं[२], रासिबद्धं[३], एगगुणं[४] दुगुणं[५], तिगुणं[६], केउभूअं[७], पडिग्गहो[८], संसारपडिग्गहो[९], नंदावत्तं[१०], ओगाढावत्तं[११], से तं ओगाढसेणिआपरिकम्मे ॥ ४ ॥

से किं तं उपसंपज्जसेणिआपरिकम्मे ? उपसंपज्जणसेणिआपरिकम्मे एक्कारसविहे पन्नत्ते, तं जहा—पाढोआमासपयाइं[१], केउभूअं[२], रासिबद्धं[३], एगगुणं[४] दुगुणं[५], तिगुणं[६], केउभूअं[७], पडिग्गहो[८], संसारपडिग्गहो[९], नंदावत्तं[१०], उपसंपज्जणावत्तं[११], से तं उपसंपज्जणसेणिआपरिकम्मे ॥ ५ ॥

से किं तं विप्पजहणसेणिआपरिकम्मे ? विप्पजहणसेणिआपरिकम्मे एक्कारसविहे पन्नत्ते, तं जहा-पाढोआमासपयाइं[1], केउभूअं[2], रासिबद्धं[3], एगगुणं[4] दुगुणं[5], तिगुणं[6], केउभूअं[7], पडिग्गहो[8], संसारपडिग्गहो[9], नंदावत्तं[10], विप्पजहणावत्तं[11], से तं विप्पजहणसेणिआपरिकम्मे ॥ ६ ॥

से किं तं चुआचुअसेणिआपरिकम्मे ? चुआचुअसेणिआपरिकम्मे एक्कारस्सविहे पन्नत्ते, तं जहा-पाढोआमासपयाइं[1], केउभूअं[2], रासिबद्धं[3], एगगुणं[4], दुगुणं[5], तिगुणं[6], केउभूअं[7], पडिग्गहो[8], संसारपडिग्गहो[9], नंदावंतं[10], चुआचुअवत्तं[11], से तं चुआचुअसेणिआपरिकम्मे ॥ ७ ॥

अथ कोऽयं दृष्टिवादः ?, दृष्टयो-दर्शनानि वदनं वादः दृष्टीनां वादो यत्र स दृष्टिवादः । अथवा पतनं पातो दृष्टीनां पातो यत्र दृष्टिपातः, तथाहि-तत्र सर्वनयदृष्टय आख्यायन्ते, तथा चाह सूरिः-दृष्टिवादेन अथवा दृष्टिपातेन यद्वा दृष्टिपाते दृष्टिवादे वा 'णं' इति वाक्यालंकारे सर्वभावप्ररूपणा आख्यायते । सर्वं इदं प्रायो व्यवच्छिन्नं तथापि लेशतो यथागतसंप्रदायं किंचिद् व्याख्यायते, स दृष्टिवादो दृष्टिपातो वा समासतः पंचविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा-परिकर्म्मः १ सूत्राणि २ पूर्वगतं ३ अनुयोगः ४ चूलिकाः ५ । तत्र परिकर्म्म नाम योग्यतापादनं तत् हेतुशास्त्रं अपि परिकर्म्म, किमुक्तं भवति ?-सूत्रपूर्वगतानुयोगसूत्रार्थग्रहणयोग्यतासंपादनसमर्थानि परिकर्म्माणि, यथा गणितशास्त्रे संकलनादीनि आद्यानि षोडश परिकर्म्माणि शेषगणितसूत्रार्थग्रहणे योग्यतासंपादनसमर्थानि, तथाहि यथा गणितशास्त्रे गणितशास्त्रगताद्यषोडशपरिकर्म्मगृहीतसूत्रार्थः शेषगणितशास्त्रग्रहणे योग्यो भवति, नान्यथा तथा गृहीतविवक्षित-परिकर्म्मसूत्रार्थः सन् शेषसूत्रादिरूपदृष्टिवादश्रुतग्रहणयोग्यो भवति, न इतरथा,

पन्नत्ता । पाणाउपुव्वस्स णं तेरस वत्थू पन्नत्ता। किरियाविसालपुव्वस्स णं तीसं वत्थू पन्नत्ता। लोगबिंदुसारपुव्वस्स णं पणवीसं वत्थू पन्नत्ता। 'दस चोदस अट्ठ अट्ठारसेव बारस दुवे अ वत्थूणि।
सोलस तीसा वीसा पन्नरस अणुप्पवायंमि ॥ १ ॥
बारस इक्कारसमे बारसमे तेरसेव वत्थूणि। तीसा पुण तेरसमे चउदसमे पन्नविसाओ ॥ २ ॥
चत्तारि दुवालस अट्ठ चेव दस चेव चूलवत्थूणि। आइल्लाण चउण्हं सेसाणं चूलिआ नत्थि' ॥ ३ ॥
से तं पुव्वगए।

से किं तं अणुओगे? अणुओगे दुविहे पन्नत्ते, तंजहा–मूलपढमाणुओगे, गंडीआणुओगे। से किं तं मूलपढमाणुओगे? मूलपढमाणुओगे णं अरहंताणं भगवंताणं पुव्वभवा देवगमणइं आउं चवणाइं जम्मणाणि अभिसेआ रायवरसिरीओ पव्वज्जाओ तवा य उग्गा केवलनाणुप्पयाओ तित्थपवत्तणाणि अ सीसा गणा गणहरा अज्जपवत्तिणीओ संघस्स चउव्विहस्स जं च परिमाणं जिणमणपज्जव ओहिनाणी सम्मत्तसुअनाणिणो अ वाई अणुत्तरगई अ उत्तरवेउव्विणो अ मुणिणो जत्तिआ सिद्धा सिद्धिपहो जह देसिओ जच्चिरं कालं पाओवगया जे जहिं जत्तिआइं भत्ताइं छेइत्ता अंतगडे मुणिवरुत्तमे तिमिरओघविप्पमुक्के मुक्खसुहमणुत्तरं च पत्ते। एवमन्ने एवमाइभावा मूलपढमाणुओगे कहिआ। से तं मूलपढमाणुओगे। से किं तं गंडिआणुओगे? गंडिआणुओगे कुलगरगंडिआओ,

तित्थयरगंडिआओ, चक्कवट्टिगंडिआओ, दसारगंडिआओ, बलदेवगंडिआओ, वासुदेवगंडिआओ, गणधरगंडिआओ, भद्दबाहुगंडिआओ, तवोकम्मगंडिआओ, हरिवंसगंडिआओ, उस्सप्पिणी गंडिआओ, ओसप्पिणीगंडिआओ, चित्तंतरगंडिआओ अमरनरतिरिअनिरयगइगमणविविह- परियट्टणेसु एवमाईआओ गंडिआओ आघविज्जंति पन्नविज्जंति से तं गंडिआणुओगे। से तं अणूओगे ॥४॥

से किं तं चूलिआओ ? चूलिआओ आइल्लाणं चउण्हं पुव्वाणं चूलिआ, सेसाइं पुव्वाइं अचूलिआइं, से तं चूलिआओ ॥ ५ ॥

दिट्ठिवायस्स णं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तिओ संखिज्जाओ पडिवत्तिओ संखिज्जाओ संगहणीओ से णं अंगट्ठयाए बारसमे अंगे एगे सुअ- क्खंधे चउदस पुव्वाइं संखिज्जा वत्थू संखिज्जा चूलवत्थू संखिज्जा पाहुडा संखिज्जा पाहुडपाहुडा संखि- ज्जाओ पाहुडिआओ संखिज्जाओ पाहुडपाहुडिआओ संखिज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिण- पन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति से एवं आया से एवं नाया से एवं विन्नाया से एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ। से तं दिट्ठिवाए ॥ १२ ॥

अथ कानि सूत्राणि!, सर्वस्य पूर्वगतसूत्रार्थस्य सूचनात् सूत्राणि, तथाहि–तानि सूत्राणि सर्वद्रव्याणां सर्वपर्यायाणां

सर्वनयानां सर्वभंगविकल्पानां प्रदर्शकानि, आचार्य आह–सूत्राणि द्वाविंशतिः प्रज्ञप्तानि, तद्यथा–'ऋजुसूत्रं' इत्यादि, एतानि अपि संप्रति सूत्रतोऽर्थतश्च व्यवच्छिन्नानि यथागतसंप्रदायतो वा वाच्यानि, एतानि च सूत्राणि नयविभागतो विभिद्यमानानि अष्टाशीति संख्यानि भवंति । कथमिति चेत् ?, अत आह–'इच्चेइयाइं बावीसं सुत्तं' इत्यादि । इह यो नाम नयः सूत्रं छेदेन छिन्नं एव अभिप्रेतेन द्वितीयेन सूत्रेण सह संबंधयति । यथा 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं' इति श्लोकः, तथा हि–अयं श्लोकः छिन्नछेदनयमतेन व्याख्यायमानो न द्वितीयादीन् श्लोकान् अपेक्षते नापि द्वितीयादयः श्लोका अमुं, अयं अत्राभिप्रायः–तथा कथंचनापि अमुं श्लोकं पूर्वसूरयः च्छिन्नछेद-नयमतेन व्याख्यांति स्म यथा न मनाग् अपि द्वितीयादिश्लोकानां अपेक्षा भवति । द्वितीयादीनपि श्लोकान् तथा व्याख्यांति स्म यथा न तेषां प्रथमश्लोकस्यापेक्षा, तथा सूत्राणि अपि यन्नयाभिप्रायेण परस्परं निरपेक्षाणि व्याख्यांति स्म स छिन्नछेदनयः, छिन्नो–द्विधा कृतः पृथक् कृतः छेदः–पर्यंतो येन स छिन्नच्छेदः प्रत्येकं कल्पितपर्यंत इत्यर्थः । स चासौ नयश्च छिन्नच्छेदनयः, इति एतानि द्वाविंशतिः सूत्राणि स्वसूत्रसमयपरिपाट्यां–स्वसमयवक्तव्यतां अधिकृत्य सूत्रपरिपाट्यां विवक्षितायां छिन्नछेदनयिकानि, अत्र 'अतो अनेकस्वरादि' ति मत्वर्थीय इक् प्रत्ययः, ततोऽयमर्थः–छिन्नछेदनयवंति द्रष्टव्यानि, तथा इत्येतानि द्वाविंशतिः सूत्राणि आजीविक-सूत्रपरिपाट्यां–गोशालप्रवर्त्तिताजीविकपाखंडिमतेन सूत्रपरिपाट्यां विवक्षितायां अच्छिन्नच्छेदनयिकानि, इयमत्र भावना–अच्छिन्न-च्छेदनयो नाम यः सूत्रं सूत्रांतरेण सह अच्छिन्नं अर्थतः संबंधं अभिप्रैति, यथा 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं' इति श्लोकं, तथा हि–अयं श्लोकः अच्छिन्नछेदनयमतेन व्याख्यायमानो द्वितीयादीन् श्लोकान् अपेक्षते द्वितीयादयोऽपि श्लोका एनं श्लोकं, एवमेतानि अपि द्वाविंशतिः सूत्राणि अक्षररचनां अधिकृत्य परस्परं विभक्तानि अपि स्थितानि अच्छिन्नच्छेदनयमतेनऽर्थसंबंधं अपेक्ष्य सापेक्षाणि वर्त्तंते ।

तदेवं नयाभिप्रायेण परस्परं सूत्राणां संबंधासंबन्धावधिकृत्य भेदो दर्शितः, संप्रति अन्यथा नयविभागं अधिकृत्य भेदं दर्शयति। इत्येतानि द्वाविंशतिसूत्राणि त्रैराशिकसूत्रपरिपाट्यां–त्रैराशिकसूत्रनयमतेन सूत्रपरिपाट्यां विवक्षितायां त्रिकनयिकानि, त्रिकेति प्राकृतत्वात् स्वार्थे कः प्रत्ययः, ततोऽयमर्थः–त्रितयिकानि–त्रिनयोपेतानि, किमुक्तं भवति ? । त्रैराशिकमतं अवलम्ब्य द्रव्यास्तिकादिनयत्रिकेण चिंत्यंते इति। तथा इत्येतानि सूत्राणि द्वाविंशतिसूत्राणि स्वसमयसूत्रपरिपाट्यां–स्वसमयवक्तव्यतां अधिकृत्य सूत्रपरिपाट्यां विवक्षितायां चतुर्नयकानि–संग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दरूपनयचतुष्टयोपेतानि, संग्रहादिनयचतुष्टयेन चिंत्यंते इत्यर्थः, एवमेव–उक्तेनैवप्रकारेण 'पुव्वावरेणं' ति पूर्वाणि च अपराणि च पूर्वापरं समाहारप्रधानो द्वंद्वः, पूर्वापरसमुदाय इत्यर्थः । ततः एतदुक्तं भवति–नयविभागतो विभिन्नानि पूर्वाणि अपराणि च सूत्राणि समुदितानि सर्वसंख्यया अष्टाशीतिः सूत्राणि भवंति, चतसृणां द्वाविंशतीनां अष्टाशीतिमानत्वात्, इत्याख्यातं तीर्थंकरगणधरैः, तानि एतानि सूत्राणि। अथ किं तत् पूर्वगतं ?, इह तीर्थंकरः तीर्थप्रवर्त्तनकाले गणधरकान् सकलश्रुतार्थावगाहनसमर्थान् अधिकृत्य पूर्वं पूर्वगतं सूत्रार्थं भाषते। ततस्तानि पूर्वाणि उच्यंते, गणधराः पुनः सूत्ररचनां विदधत आचारादिक्रमेण विदधति स्थापयंति वा, अन्ये तु व्याचक्षते–पूर्वं पूर्वगतसूत्रार्थं अर्हद्भाषते, गणधरा अपि पूर्वं पूर्वगतसूत्रं विरचयंति पश्चादाचारादिकं, अत्र चोदक आह–ननु इदं पूर्वापरविरुद्धं यस्मादादौ निर्युक्तौ उक्तं–'सव्वेसिं आयारो पढमो' इत्यादि, ततः स्थापनां अधिकृत्य उक्तं, अक्षररचनां अधिकृत्य पुनः पूर्वं पूर्वाणि कृतानि ततो न कश्चित् पूर्वापरविरोधः, सूरिराह–

पूर्वगतं श्रुतं चतुर्दशविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा–'उत्पादपूर्वं' इत्यादि तत्र उत्पादप्रतिपादकं पूर्वं उत्पादपूर्वं, तथाहि–तत्र सर्वपर्यायाणां सर्वद्रव्याणां च उत्पादं अधिकृत्य प्ररूपणा क्रियते। तस्य पदपरिमाणं एका पदकोटी। द्वितीयं अग्रायणीयं, अग्रं–परिमाणं तस्य

आयनं गमनं परिच्छेद इत्यर्थः, तस्मै हितं अग्रायणीयं, सर्वद्रव्यादिपरिमाणपरिच्छेदकारीति भावार्थः, तथा हि–तत्र सर्वद्रव्याणां पर्यायाणां सर्वजीवविशेषाणां च परिमाणं उपवर्ण्यते, तस्य पदपरिमाणं षण्णवतिः पदशतसहस्राणि । तृतीयं पूर्वं 'विरियं' ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्' वीर्यप्रवादं, 'कर्म्मणोऽण्' इति अण् प्रत्ययः, तस्य पदपरिमाणं सप्ततिपदशतसहस्राणि, चतुर्थं अस्ति नास्ति प्रवादं, तत्र यद् वस्तु लोकेऽस्ति धर्म्मास्तिकायादि यच्च नास्ति खरशृंगादि तत् प्रवदति इति अस्तिनास्तिप्रवादं, अथवा सर्वं वस्तु स्वरूपेण अस्ति पररूपेण नास्ति इति प्रवदति इति अस्ति नास्ति प्रवादं, तस्य पदपरिमाणं षष्टिः पदशतसहस्राणि । पंचमं ज्ञानप्रवादं, ज्ञानं–मतिज्ञानादिभेदभिन्नं पंचप्रकारं तत् प्रपंचं वदति इति ज्ञानप्रवादं, तस्य पदपरिमाणं एका पदकोटी पदेन एकेन न्यूना । षष्ठं सत्यप्रवादं, सत्यं–संयमो सत्यवचनं वा तत् सत्यं संयमं वचनं वा प्रकर्षेण सप्रपंचं वदति इति सत्यप्रवादं, तस्य पदपरिमाणं एका पदकोटी षड्भिः पदैः अभ्यधिका । सप्तमं पूर्वं आत्मा प्रवादं, आत्मानं–जीवं अनेकधा नयमतभेदेन यत् प्रवदति तत् आत्मप्रवादं, तस्य पदपरिमाणं षड्विंशतिः पदकोटयः । अष्टमं कर्म्मप्रवादं, कर्म्म–ज्ञानावरणीयादिकं अष्टप्रकारं तत् प्रकर्षेण–प्रकृति-स्थिति–अनुभागप्रदेशादिभिः भेदैः सप्रपंचं वदति इति कर्म्मप्रवादं, तस्य पदपरिमाणं एका पदकोटी अशीतिश्च पदसहस्राणि । नवमं 'पच्चक्खाणं' ति अत्रापि पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्' प्रत्याख्यानप्रवादं इति द्रष्टव्यं, प्रत्याख्यानं सप्रभेदं यद्वदति तत् प्रत्याख्यान-प्रवादं, तस्य पदपरिमाणं चतुरशीतिः पदलक्षाणि । दशमं विद्यानुप्रवादं,. विद्या–अनेक अतिशयसंपन्ना अनुप्रवदति–साधनानुकूल्येन सिद्धिप्रकर्षेण वदति इति विद्यानुप्रवादं तस्य पदपरिमाणं एका पदकोटी दश च पदलक्षाः । एकादशं अवंध्यं, वंध्यं नाम निष्फलं न लघुतरं चुल्लकं वस्तु, तानि च आदिमेषु एव चतुर्षु, न शेषेषु, तथा चाह–'आइल्लाणं चउण्हं सेसाणं चुल्लिया णत्थि ।' तदेतत्पूर्वगतं ।

अथ कोऽयं अनुयोगः । ? अनुरूपोऽनुकूलो वा योगोऽनुयोगः—सूत्रस्य स्वेनाभिधेयेन सार्द्धं अनुरूपः संबंधः । स च द्विधा—मूलप्रथमानुयोगो गंडिकानुयोगश्च, इह मूलं—धर्मप्रणयनात् तीर्थंकरास्तेषां प्रथमं—सम्यक्त्वावाप्तिलक्षणपूर्वभवादिगोचरोऽनुयोगो मूलप्रथमानुयोगः । ईक्ष्वादीनां पूर्वापरपर्वपरिच्छिन्नो मध्यभागो गंडिका गंडिका इव गंडिका—एकार्थाधिकाराः ग्रंथपद्धतिः इत्यर्थः । तस्या अनुयोगो गंडिकानुयोगः । अथ कोऽयं मूलप्रथमानुयोगः ? आचार्य आह—मूलप्रथमानुयोगेन अथवा मूलप्रथमानुयोगे णं इति वाक्यालंकारे अर्हतां भगवतां सम्यक्त्वभवात् आरभ्य पूर्वभवात् देवलोकगमनानि तेषु पूर्वभवेषु देवभवे यत् देवदेवलोकेभ्यः च्यवनं तीर्थंकरभवत्वेन उत्पादः ततो जन्मानि ततः शैलराजे सुरासुरैः विधीयमाना अभिषेका इत्यादि पाठसिद्धं यावत् निगमनम् । अथ कोऽयं गंडिकानुयोगः ? सूरिराह—गंडिकानुयोगेन 'णं' इति वाक्यालंकारे, कुलकरगंडिकाः । इह सर्वत्रापि अपांतरालवर्तिन्यो बह्व्यां प्रतिनियतैकार्थाधिका रूपा गंडिकाः ततो बहुवचनं, कुलकराणां गंडिकाः कुलकरगंडिकाः, यासु कुलकराणां विमलवाहनादीनां पूर्वभवजन्मनामादीनि सप्रपंचं उपवर्ण्यंते । एवं तीर्थंकरगंडिकादिषु अपि अभिधानवशतो भावनीयं । 'जाव चित्तंतर गंडिआउ' त्ति चित्ता—अनेका अर्थांतरे—ऋषभाजिततीर्थंकरअपांतराले गंडिकाः चित्रांतरगंडिकाः, एतत् उक्तं भवति—ऋषभाजिततीर्थंकरांतरे ऋषभवंशसमुद्भूतभूपतीनां शेषगतिगमनव्युदासेन शिवगतिगमनानुत्तरोपपात्ते प्राप्तिप्रतिपादिका गंडिकाः चित्रांतरगंडिकाः, तासां च प्ररूपणा पूर्वाचार्यैरेवमकारि—इह सुबुद्धिनामा सगरचक्रवर्तिनो महामात्योऽष्टापदपर्वते सगरचक्रवर्तिसुतेभ्यः आदित्ययशःप्रभृतीनां भगवत् वृषभवंशजानां नरपतीनां एवं संख्यां आख्यातुं उपक्रमते स । आदित्ययशःप्रभृतयो भगवत् नाभेयवंशजाः त्रिखंडभरतार्द्धं अनुपाल्य पर्यंते पारमेश्वरीं दीक्षां अभिगृह्य तत्प्रभावतः सकलकर्म्मक्षयं कृत्वा चतुर्दशलक्षा निरंतरं सिद्धिमगमन् । ततः एकः सर्वार्थ-

सिद्धौ, ततो भूयोऽपि चतुर्दशलक्षा निरंतरं निर्वाणे, ततोऽपि एकः सर्वार्थसिद्धे विमाने महाविमाने, एवं चतुर्दश २ लक्षांतरिताः सर्वार्थसिद्धौ एकैकः तावद् वक्तव्यो यावत् तेऽपि एकका असंख्येया भवंति । ततो भूयः चतुर्दश लक्षा नरपतीनां निरंतरं निर्वाणे ततो द्वौ सर्वार्थसिद्धेस्ततः पुनरपि चतुर्दश लक्षा निरंतरं निर्वाणे ततो द्वौ सर्वार्थसिद्धे, ततः पुनः अपि चतुर्दश लक्षा निरंतरं निर्वाणे ततो भूयो द्वौ सर्वार्थसिद्धे, एवं चतुर्दश २ लक्षांतरितौ द्वौ द्वौ सर्वार्थसिद्धे तावद् वक्तव्यौ । यावत् तेऽपि द्विकद्विकसंख्या असंख्येया भवंति । एवं त्रिक २ संख्यादयोऽपि प्रत्येकं असंख्येया भवंति । एवं त्रिकसंख्यादयोऽपि प्रत्येकं असंख्येयाः तावद्वक्तव्या यावत् निरंतरं चतुर्दश लक्षा निर्वाणे ततः पंचाशत् सर्वार्थसिद्धे ततो भूयोऽपि चतुर्दश लक्षा निर्वाणे ततः पुनरपि पंचाशत् सर्वार्थसिद्धे; एवं पंचाशत् संख्याकाः अपि चतुर्दश लक्षांतरिताः तावद्वक्तव्याः यावत्तेऽपि असंख्येया भवंति । उक्तं च–"चउद्दसलक्खा सिद्धा निवई-णेको य होइसव्वट्ठे । एवेक्किके ठ्ठाणे पुरिसजुगा हुंति असंखिज्जा ॥ १ ॥ पुनरवि चउद्दस लक्खा सिद्धा निवईण दोवि सव्वट्ठे । दुगठाणे वि असंखा पुरिसजुगा हुंति नायव्वा ॥ २ ॥ जाव य लक्खा चउद्दस सिद्धा पन्नास हुंति सव्वट्ठे । पन्नास ठ्ठाणेवि उ पुरिस जुगा हुंति असंखिज्जा ॥ ३ ॥ एगुत्तरा उ ठाणा सव्वट्ठे चेव जाव पन्नासा । एकेकंतर ठाणे पुरिसजुगा होंतिऽसंखेज्जा ॥ ४ ॥ स्थापना–

१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११

ततोऽनंतरं चतुर्दश लक्षा नरपतीनां निरंतरं सर्वार्थसिद्धे एकः सिद्धौ, भूयः चतुर्दश लक्षाः । सर्वार्थाः एकः सिद्धौ, एवं चतुर्दश २ लक्षांतरितैः एकः सिद्धौ । एवं चतुर्दश २ लक्षांतरितैकैकः सिद्धौ । एवं चतुर्दश २ लक्षांतरितैकैकः सिद्धौ । तावत् वक्तव्यो

यावत् तेऽपि एकका असंख्येया भवंति । ततो भूयोऽपि चतुर्दश लक्षा नरपतीनां निरंतरं सर्वार्थसिद्धौ, ततो द्वौ निर्व्वाणे, ततः पुनरपि चतुर्दश लक्षाः सर्वार्थसिद्धे ततो भूयोऽपि द्वौ निर्व्वाणे ततः पुनरपि चतुर्दश लक्षा सर्व्वार्थसिद्धे भूयोऽपि द्वौ निर्व्वाणे । एवं चतुर्दश लक्षांतरितौ द्वौ द्वौ निर्व्वाणे तावत् वक्तव्यौ यावत् तेऽपि द्विकसंख्या असंख्येया भवंति । एवं त्रिकात्रिकसंख्यादयोऽपि यावत् पंचाशत् संख्याः चतुर्दश चतुर्दश लक्षांतरितौ सिद्धौ प्रत्येकं असंख्येया वक्तव्याः । उक्तं च—" विवरीयं सव्वट्ठे चउद्दस लक्खाउ निव्वुओ एगो । सव्वे य परिवाडी पंनासा जाव सिद्धीए ॥ १ ॥" स्थापना—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	५०
१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४

ततः परं द्वे लक्षे नरपतीनां निरंतरं निर्वाणे, ततो द्वे लक्षे निरंतरं सर्वार्थसिद्धौ, ततस्तिस्रो लक्षा निर्वाणे, ततो भूयोऽपि तिस्रो लक्षाः सर्वार्थसिद्धे, ततश्चतस्रो लक्षा निर्वाणे, ततः पुनरपि चतस्रो लक्षाः सर्वार्थसिद्धे, एवं पञ्च पञ्च षट् २ यावदुभयत्राप्यसंख्येया लक्षा वक्तव्याः, आह च—" तेण परं दुलक्खाइं दो दो ठाणा य समग वच्चंति । सिवगइसव्वट्ठेहिं इणमो तेसिं विही होइ ॥ १ ॥ दो लक्खा सिद्धीए दो लक्खा नरवईण सव्वट्ठे । एवं तिलक्ख चउ पंच जाव लक्खा असंखेज्जा ॥ २ ॥" स्थापना—

२	३	४	५	६	७	८	९	१०
२	३	४	५	६	७	८	९	१०

ततः परं चतस्रः चित्रांतरगंडिकाः, तद्यथा—प्रथमा एकादिका एकोत्तरा द्वितीया एकादिका द्विउत्तरा तृतीया एकोत्तरा

त्र्युत्तरा, चतुर्थी त्र्यादिका द्व्यादिविषमोत्तरा, आह च–" सितगइसव्वट्ठेहिं चित्तंतरगंडिया तओ चउरो। एगा एगुत्तरिया एगाइ त्रिउत्तरा बिइया ॥ १ ॥ एगाइ तिउत्तराए गाइ विसमुत्तरा चउत्थी उ।" प्रथमा भाव्यते प्रथममेकः सिद्धौ ततो द्वौ सर्वार्थसिद्धे ततस्त्रयः सिद्धौ ततश्चत्वारः सर्वार्थे ततः पञ्च सिद्धौ ततः षट् सर्वार्थे एवमेकोत्तरया वृद्ध्या शिवगतौ सर्वार्थे च तावद्वक्तव्याः यावदुभयत्राप्यसंख्येया भवन्ति, उक्तं च–"पढमाए सिद्धेक्को दोन्नि उ सव्वट्ठसिद्धंमि ॥ २ ॥ तत्तो तिन्नि नरिंद सिद्धा चत्तारि होंति सव्वट्ठे। इय जाव असंखेज्जा सिवगइसव्वट्ठसिद्धेहिं ॥ ३ ॥" स्थापना–

१	३	५	७	९	११	१३	१५	१७	१९
२	४	६	८	१०	१२	१४	१६	१८	२०

संप्रति द्वितीया भाव्यते, ततः ऊर्द्ध्वमेकः सिद्धौ त्रयः सर्वार्थे ततो नव सिद्धौ एकादश सर्वार्थे ततः त्रयोदश सिद्धौ पञ्चदश सर्वार्थे एवं द्व्युत्तरया वृद्ध्या शिवगतौ सर्वार्थे च तावद्वक्तव्यौ यावदुभयत्राप्यसंख्येया भवन्ति, उक्तं च–" ताहे दिउत्तराए सिद्धेक्को तिन्नि होंति सव्वट्ठे। एवं पंच य सत्त य जाव असंखेज्ज दोण्णि वि ॥ १ ॥" स्थापना–

१	५	९	१३	१७	२१	२५
३	७	११	१५	१९	२३	२७

सम्प्रति तृतीया भाव्यते, ततः परमेकः सिद्धौ चत्वारः सर्वार्थे, ततः सप्त सिद्धौ दश सर्वार्थे, ततस्त्रयोदश सिद्धौ षोडश सर्वार्थे, एवं त्र्युत्तरया वृद्ध्या शिवगतौ सर्वार्थे च क्रमेण तावदवसेयं यावदुभयत्राप्यसङ्ख्येया गता भवन्ति, उक्तं च–" एग चउ सत्त

दसगं जाव असंखेज्ज होंति ते दोवि । सिवगयसव्वट्ठेहिं तिउत्तराए उ नायव्वा ॥ १ ॥" स्थापना—चेयंति

१	७	१३	१९	२५	३१	३७	४३	४९	५५
४	१०	१६	२२	२८	३४	४०	४६	५२	५८

चतुर्थी भाव्यते, सा च विचित्रा, ततस्तस्याः परिज्ञानार्थमयमुपायः पूर्वाचार्यैर्दर्शितः, इह एकोनत्रिंशत्संख्यात्रिका ऊर्द्धाधः-परिपाट्या पट्टिकादौ स्थाप्यन्ते, तत्र प्रथमे त्रिके न किंचिदपि प्रक्षिप्यते ।, द्वितीये द्वौ प्रक्षिप्येते, तृतीये पंच, चतुर्थे नव, पंचमे त्रयोदश, षष्ठे सप्तदश, सप्तमे द्वाविंशतिः, अष्टमे षड्, नवमे अष्टौ, दशमे द्वादश, एकादशे चतुर्दश, द्वादशे अष्टाविंशतिः, त्रयोदशे षड्विंशतिः, चतुर्दशे पंचविंशतिः, पंचदशे एकादश, षोडशे त्रयोविंशतिः, सप्तदशे सप्तचत्वारिंशत्, अष्टादशे सप्ततिः, एकोनविंशे सप्तसप्ततिः, विंशे एकः, एकविंशे द्वौ, द्वाविंशे सप्ताशीतिः, त्रयोविंशे एकसप्ततिः, चतुर्विंशे द्विषष्टिः, पंचविंशे एकोनसप्ततिः, षड्विंशे चतुर्विंशतिः, सप्तविंशे षट्चत्वारिंशत्, अष्टाविंशे शतं, एकोनत्रिंशे षड्विंशतिः, उक्तं च—" ताहे तियगाइविसमुत्तराए अउणतीसंतु तियग ठावेउं । पढमे नत्थि उक्खेवो । सेसेसु इमो भवे खेवो ॥ १ ॥ दुग २ पण ५ नवगं ९ तेरस १३ सत्तरस १७ दुवीसं २२ छच्च ६ अट्ठेव ८ । बारस १२ चउद्दस १४ तह अट्ठवीस २८ छव्वीस २६ पणुवीसा २५ ॥ २ ॥ एक्कारस ११ तेवीसा २३ सीयाला ४७ । सयरि ७० सत्तहत्तरिया ७७ । इग १ दुग २ सत्तासीई ८७ एगहत्तरि ७१ चेव बावट्ठी ६२ ॥ ३ ॥ अउणहत्तरि ६९ चउवीसा २४ छायाल ४६ सयं १०० तहेव छव्वीसा २६ ए ए रासिक्खेवातिगं अंतता जहा कमसे ॥ ४ ॥" एतेषु च राशिषु प्रक्षिप्तेषु यत् भवति । तावंतः २ क्रमेण सिद्धौ सर्वार्थे च इत्येवंरूपेण वेदितव्याः । तद्यथा—त्रयः सिद्धौ पंच सर्वार्थे ततः

सिद्धौ अष्टौ द्वादश सर्वार्थे ततः षोडश सिद्धौ सर्वार्थे विंशतिः ततः पंचविंशतिसिद्धौ नव सर्वार्थे ततः एकादश सिद्धौ पंचदश सर्वार्थे ततः सप्तदश सिद्धौ एकत्रिंशत्सर्वार्थे तत एकोनत्रिंशत् सिद्धौ अष्टाविंशतिः सर्वार्थे ततः सिद्धौ चतुर्दश षड्विंशतिः सर्वार्थे ततः पंचाशत् सिद्धौ त्रिसप्ततिः सर्वार्थे ततोऽशीतिसिद्धौ चत्वारः सर्वार्थे ततः पंच सिद्धौ नवतिः सर्वार्थे ततः चतुःसप्ततिः मुक्तौ पंचषष्टिः सर्वार्थे ततः सिद्धौ द्विसप्ततिः सप्तविंशतिः सर्वार्थे ततः एकोनपंचाशत् मुक्तौ त्रिउत्तरशतं सर्वार्थे ततः एकोनत्रिंशत् सिद्धौ। उक्तं च—
"सिवगइसव्वट्ठेहिं दो दो ठाणा विसमुत्तरा नेया। जाव अउणतीसट्ठाणे गुणतीसं पुण छव्वीसाए ॥ १ ॥" अत्र 'जाव' इत्यादि यावत् एकोनत्रिंशत्तमे स्थाने त्रिकरूपे षड्विंशतौ प्रक्षिप्तायां एकोनत्रिंशत् भवति, स्थापना चेयं—

३	८	१६	२५	११	१७	२९	१४	५०	८०	५	७४	७२	४९	२९		
५	१२	२०	९	१५	३१	२८	२६	७३	४	९०	६५	२७	१०३	०		

एवं द्व्यादिविषमोत्तरा गंडिकाः असंख्येयाः, तावत् वक्तव्या यावत् अजितस्वामिपिता जितशत्रुः समुत्पन्नः, नवरं पाश्चात्यायां गंडिकायां यत् अंत्यं अंकस्थानं तत् उत्तरस्यां उत्तरस्यां आदिमं द्रष्टव्यं। तथा प्रथमायां गंडिकायां आदिमं अंकस्थानं सिद्धौ द्वितीयस्यां सर्वार्थे तृतीयस्यां सिद्धौ चतुर्थ्यां सर्वार्थे, एवं असंख्येयासु अपि गंडिकासु आदिमानि अंकस्थानानि क्रमेण एकांतरितानि शिवगतौ सर्वार्थे च वेदितव्यानि, एतदेव दिग्मात्रप्रदर्शनतो भाव्यते। तत्र प्रथमायां गंडिकायां अंत्यं अंकस्थानं एकोनत्रिंशत् वारान् सा एकोनत्रिंशतूर्द्ध्वाधः क्रमेण स्थाप्यते। तत्र प्रथमे अंके नास्ति प्रक्षेपः, द्वितीयादिषु च अंकेषु 'दुगपणनवगंतेरस' इत्यादयः क्रमेण प्रक्षेपणीया राशयः प्रक्षिप्यंते। तेषु च प्रक्षिप्तेषु च सत्सु यत् यत् क्रमेण भवति तावंतः २ क्रमेण सिद्धौ सर्वार्थे सिद्धौ सर्वार्थे इत्येवं वेदि-

तव्याः । तद्यथा—एकोनत्रिंशत् सर्वार्थे सिद्धौ एकत्रिंशत् ततश्चतुस्त्रिंशत् सर्वार्थे सिद्धौ अष्टत्रिंशत् ततो द्विचत्वारिंशत् सर्वार्थे षट्चत्वारिंशत्
सिद्धौ । तत एकपंचाशत् सर्वार्थे पंचत्रिंशत् सिद्धौ सप्तत्रिंशत् सर्वार्थे सिद्धौ एकचत्वारिंशत् त्रिचत्वारिंशत् सर्वार्थे सप्तपंचाशत् सिद्धौ
ततः पंचपंचाशत् सर्वार्थे चतुःपंचाशत् सिद्धौ चत्वारिंशत् सर्वार्थे द्विचत्वारिंशत् सिद्धौ सर्वार्थे षट्सप्ततिः सिद्धौ नवनवतिः षट्उत्तरं
शतं सर्वार्थे त्रिंशत् सिद्धौ एकत्रिंशत् सर्वार्थे सिद्धौ षोडशाधिकं शतं शतं सर्वार्थे सिद्धौ एकनवतिः सर्वार्थेऽष्टानवतिः त्रिपंचाशत् सिद्धौ
पंचसप्ततिः सर्वार्थे सिद्धौ एकोनत्रिंशं शतं पंचपंचाशत् सर्वार्थे, स्थापना चेयं—

२९	३४	४२	५१	३७	४३	५५	४०	७६	१०६	२१	१००	९८	७५	५५
३१	३८	४६	३५	४१	५७	५४	४२	९९	३०	११६	९१	५३	१२९	०

एषा द्वितीया गण्डिका, अस्यां च गण्डिकायामन्त्यमंकस्थानं पंचपंचाशत् ततः तृतीयस्यां गंडिकायां इदं एवं आदिमं अंकस्थानं, ततः पंचपंचाशत् एकोनत्रिंशत् वारान् स्थाप्यंते तत्र प्रथमे अंके नास्ति प्रक्षेपो द्वितीयादिषु च अंकेषु क्रमेण द्विकपंचनवकत्रयोदशादयः पूर्वोक्तराशयः क्रमेण प्रक्षेपणीयाः प्रक्षिप्यंते । इह च आदिमं अंकस्थानं सिद्धौ ततस्तेषु प्रक्षेपणीयेषु राशिषु प्रक्षिप्तेषु सत्सु यद्यत्क्रमेण भवति तावंतः २ प्रथमादंकात् आरभ्य सिद्धौ सर्वार्थे इत्येवंक्रमेण वेदितव्याः, एवं अन्यासु अपि गंडिकासु उक्तप्रकारेण भावनीयं, ॥ १ ॥ उक्तं च—" विसमुत्तरा य पढमा एवमसंखविसमुत्तरा नेया । सव्वत्थवि अंतिल्लं अन्नाए आइमं ठाणं ॥ १ ॥
अउणत्तीसं वारा ठावेउं नत्थि पढम उक्खेवो । सेसे अडवीसाए सव्वत्थ दुगाइउक्खेवो ॥ २ ॥ सिवगइ पढमादीए बीआए तह य
होइ सव्वट्ठे । इय एगंतरियाइं सिवगइसव्वट्ठठाणाइं ॥ ३ ॥ एवमसंखेज्जाओ चित्तंतरगंडिया मुणेयव्वा । जाव जियसत्तुराया अजिय-

जिणपिया समुप्पण्णो ॥ ४ ॥ ” तथा ‘ अमर ’ इत्यादि, विविधेषु परिवर्त्तेषु–भवभ्रमणेषु जंतूनां इति गम्यते । अमरनरतिर्यग्-निरयगतिगमनं, एवमादिका गंडिका बहव आख्यायंते । सोऽयं गंडिकानुयोगः ।

अथ कास्ताः चूलाः ?, इह चूला शिखरं उच्यते । यथा मेरौ चूला, तत्र चूला दृष्टिवादे परिकर्म्मसूत्रपूर्वानुयोगोऽनुक्तार्थ-संग्रहपरा ग्रंथपद्धतयः, अत्र सूरिराह–चूला आदिमानां चतुर्णां पूर्वाणां, शेषाणि पूर्वाणि अचूलकानि, ता एव चूला आदिमानां चतुर्णां पूर्वाणां प्राक् पूर्ववक्तव्यताप्रस्तावे चूलावस्तूनि इति भणिताः, एताश्च सर्वस्यापि दृष्टिवादस्य उपरि किल स्थापिताः तथैव च पठ्यंते । ततः श्रुतपर्वते चूला इव राजंते इति चूला इति उक्तः, तासां च चूलानां इयं संख्या-प्रथमपूर्वसत्काः चतस्रः द्वितीयसत्का द्वादश तृतीयपूर्वसत्का अष्टौ चतुर्थपूर्वसत्का दश । सर्वसंख्यया चूलिका चतुस्त्रिंशत् । अथ एता चूलिकाः ।

‘दिट्ठिवायस्स णं’ इत्यादि, पाठसिद्धं, नवरं संख्येयानि वस्तूनि, तानि च पंचविंसतिउत्तरे द्वे शते, कथं चेदिति उच्यते । इह प्रथमे पूर्वे दश वस्तूनि द्वितीये चतुर्दश तृतीये अष्टौ चतुर्थे अष्टादश पंचमे द्वादश षष्ठे द्वे सप्तमे षोडश अष्टमे त्रिंशत् नवमे विंशति दशमे पंचदश एकादशे द्वादश द्वादशे त्रयोदश त्रयोदशे त्रिंशत् चतुर्दशे पंचविंशतिः । सर्वसंख्यया च अमूनि द्वे शते पंचविंशति अधिके, तथा संख्येयानि चूलवस्तूनि, तानि च चतुस्त्रिंशत् संख्यकानि । वस्त्वंतरवर्त्ती अधिकारविशेषः प्राभृतं प्राभृतांतरवर्त्ती अधिकारविशेषः प्राभृतप्राभृतं ।

सांप्रतं ओघतो द्वादशांगाभिधेयं उपदर्शयति ।

इच्चेइयंमि दुवालसंगे गणिपिडगे अणंता भावा अणंता अभावा अणंता हेउ अणंता अहेउ अणंता

कारणा अणंता अकारणा अणंता जीवा अणंता अजीवा अणंता भवसिद्धिया अणंता अभव-
सिद्धिया अणंता सिद्धा अणंता असिद्धा पन्नता—

भावमभावा हेउमहेउ कारणमकारणे चेव ॥
जीवाजीवा भविअमभविआ सिद्धा असिद्धा य ॥ १ ॥

इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं
अणुपरिअट्टिंसु ।
इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुपन्नकाले परित्ता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतं संसार-
कंतारं अणुपरिअट्टंति । इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणंता जीवा आणाए
विराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरिअट्टिस्संति । इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले
अणंता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीईवइंसु । इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं
पडुपन्नकाले परित्ता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीईवयंति ।
इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणंता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसार-
कंतारं वीईवइस्संति । इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ नासी न कयाइ न भवइ न कयाइ
न भविस्सइ भुविं च भवइ अभविस्सइअ धुवे निअए सासए अक्खए अव्वए अविट्ठिए निच्चे से जहा

नामए पंचत्थिकाए न कयाइ नासी न कयाइ नत्थि न कयाइ न भविस्सइ भुविं च भवइ अ भविस्सइ अ धुवे नियए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे एवामेव दुवालसंगे गणिपिडगे न कयाइ नासी न कयाइ नत्थि न कयाइ न भविस्सइ भुविं च भवइ अ भविस्सइ अ धुवे निअए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे से समासओ चउव्विहं पन्नत्तं तं जहा–दव्वओ। खित्तओ। कालओ। भावओ। तत्थ दव्वओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्व दव्वाइं जाणइ पासइ। खित्तओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वं खेत्तं जाणइ पासइ। कालओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वं कालं जाणइ पासइ। भावओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वे भावे जाणइ पासइ।

इत्येतस्मिन् द्वादशांगे गणिपिटके एतत् पूर्ववत् एव व्याख्येयं, अनंता भावा–जीवादयः पदार्थाः प्रज्ञप्ता इति योगः। तथा अनंता अभावाः–सर्वभावानां पररूपेणाऽसत्त्वात् त एव अनंता अभावा द्रष्टव्याः, तथा हि–स्वपरसत्ताभावाभावात्मकं वस्तुतत्त्वं, तथा जीवो जीवात्मना भावरूपो अजीवात्मना चाभावरूपः, अन्यथाऽजीवत्वप्रसंगात्, अत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थगौरवभयादिति, तथाऽनन्ता 'हेतवो' हिनोति गमयति जिज्ञासितधर्म्मविशिष्टमर्थमिति हेतुः, ते चानन्ताः, तथा हि वस्तुनोऽनन्ता धर्मास्ते च तत्प्रतिबद्धधर्मविशिष्ट-वस्तुगमकास्ततोऽनन्ता हेतवो भवन्ति, यथोक्तहेतुप्रतिपक्षभूता अहेतवः, तेऽपि अनन्ताः, तथा अनन्तानि कारणानि घटपटादीनां निर्वर्त्तकानि मृत्पिण्डतन्त्वादीनि, अनन्तान्यकारणानि सर्वेषामपि कारणानां कार्यान्तराण्यधिकृत्याकारणत्वात्, तथा जीवाः–प्राणिनः, अजीवाः–परमाणुद्व्यणुकादयः, भव्या–अनादिपारिणामिकसिद्धिगमनयोग्यतायुक्ताः, तद्विपरीता अभव्याः, सिद्धा अपगतकर्ममल-

कलंकाः, असिद्धाः संसारिणः, एते सर्वेऽप्यनन्ताः प्रज्ञप्ताः, इह भव्याभव्यानामानन्त्येऽभिहितेऽपि यत्पुनरसिद्धा अनन्ता इत्यभिहितं तत्सिद्धेभ्यः संसारिणामनन्तगुणताख्यापनार्थं । सम्प्रति द्वादशाङ्गविराधनाफलं त्रैकालिकमुपदर्शयति—इत्येतत् द्वादशांगं गणिपिटकमतीते कालेऽनन्ता जीवा आज्ञया—यथोक्ताज्ञापरिपालनाऽभावतो विराध्य चतुरन्तं संसारकान्तारं—विविधशारीरमानसानेकदुःखविटपिशतसहस्रदुस्तरं भवगहनं अनुपरावृत्तवन्त आसन्, इह द्वादशाङ्गं सूत्रार्थोभयभेदेन त्रिविधं, द्वादशांगमेव चाऽऽज्ञा, आज्ञाप्यते जन्तुगणो हितप्रवृत्तौ यया साऽऽज्ञेति व्युत्पत्तेः, ततश्चाज्ञा त्रिविधा, तद्यथा—सूत्राज्ञा अर्थाज्ञा उभयाज्ञा च, सम्प्रति अमूषामाज्ञानां विराधनाश्चिन्त्यन्ते—तत्र यदाऽभिनिवेशवशतोऽन्यथा सूत्रं पठति तदा सूत्राज्ञाविराधना, सा च यथा जमालिप्रभृतीनां, यदा त्वभिनिवेशवशतोऽन्यथा द्वादशाङ्गार्थं प्ररूपयति तदाऽर्थाज्ञाविराधना, सा च गोष्ठामाहिलादीनामवसेया, यदा पुनरभिनिवेशवशतः श्रद्धाविहीनतया हास्यादितो वा द्वादशाङ्गस्य सूत्रमर्थं च विकुट्टयति तदा उभयाज्ञाविराधना, सा च दीर्घसंसारिणामभव्यानां चानेकेषां विज्ञेया, अथवा पञ्चविधाचारपरिपालनशीलस्य परोपकारकरणैकतत्परस्य गुरोर्हितोपदेशवचनं आज्ञा, तामन्यथा समाचरन् परमार्थतो द्वादशांगं विराधयति, ।

तदेवं अतीते काले विराधनाफलमुपदर्श्य सम्प्रति वर्त्तमानकाले दर्शयति—'इच्चेइयं' इत्यादि सुगमं, नवरं 'परित्ता' इति परिमिता न तु अनंता असंख्येया वा, वर्त्तमानकालचिन्तायां विराधकमनुष्याणां संख्येयत्वात्, अनुपरावर्त्तन्ते-भ्रमन्तीत्यर्थः, भविष्यति काले विराधनामुपदर्शयति—' इच्चेइयं ' इत्यादि, इदमपि पाठसिद्धं, नवरं अनुपरावर्त्तिष्यंति—पर्यटिष्यंति इत्यर्थः, तदेवं विराधनाफलं त्रैकालिकमुपदर्श्य संप्रति आराधनाफलं त्रैकालिकं दर्शयति—' इच्चेइय ' मित्यादि, सुगमं नवरं व्यतिक्रांतवंतः व्यतिक्रमंति संसारकांतारं उल्लंघ्य मुक्तिं अवाप्ता इत्यर्थः । व्यतिक्रमिष्यंति, एतच्च त्रैकालिकं विराधना आराधनाफलं च द्वादशांगस्य सदावस्थायित्वे सति युज्यते

नान्यथा, ततः सदावस्थायित्वं तस्य आह—इत्येतत् द्वादशांगं गणिपिटकं न कदाचित् नासीत्, सर्वदा एव आसीदिति भावः, अनादित्वात्, तथा न कदाचित् न भवति, सर्वदा एव वर्त्तमानकालचिंतायां भवति इति भावः, सदैव भावात्, तथा न कदाचिन्न भविष्यति, किन्तु भविष्यच्चिन्तायां सदा एव भविष्यतीति प्रतिपत्तव्यं, अपर्यवसितत्वात्, तदेवं कालत्रयचिन्तायां नास्तित्वप्रतिषेधं विधाय संप्रति अस्तित्वं प्रतिपादयति । अभूद्भवति भविष्यति च इत्येवं त्रिकालावस्थायित्वात् ध्रुवं मेर्वादिवत् । ध्रुवत्वादेव सदा एव जीवादिषु पदार्थेषु प्रतिपादकत्वेन नियतं पंचास्तिकायेषु लोकवचनवत् नियतत्वादेव च शाश्वतं-शाश्वत् भवनस्वभावं शाश्वतत्वात् एव सततं गंगासिंधुप्रवाहप्रवृत्तौ अपि पौंडरीकह्रद इव वाचनादिप्रदानेऽपि अक्षयं—नास्य क्षयोऽस्ति इति अक्षयं अक्षयत्वात् एव अव्ययं मानुषोत्तरात् बहिः समुद्रवत्, अव्ययत्वात् एव सदा एव स्वप्रमाणे अवस्थितं जंबूद्वीपादिवत् । एवं च सदा अवस्थानेन चिंत्यमानं नित्यं आकाशवत् । सांप्रतं अत्र एव दृष्टान्तमाह तद्यथा—नाम पंचास्तिकायाः—धर्मास्तिकायादयः न कदाचित् नासीत् इत्यादि पूर्ववत्, 'एवमित्येव' इत्यादि निगमनं निगदसिद्धं । तत् द्वादशांगं समासतश्चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो 'णं' इति वाक्यालंकारे श्रुतज्ञानी उपयुक्तः सर्वद्रव्याणि जानाति पश्यति, तत्राह—ननु पश्यति इति कथं ?, नहि श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञानज्ञेयानि सकलानि वस्तूनि पश्यति, न एष दोषः ॥ उपमाया अत्र विवक्षितत्वात्, पश्यति इति पश्यति । तथा हि—मेरु आदीन् पदार्थान् अदृष्टानपि आचार्यः शिष्येभ्यः आलिख्य दर्शयति । ततस्तेषां श्रोतॄणां एवं बुद्धिः उपाजयते भगवान् एष गणी साक्षात् पश्यन् इव व्याचष्टे इति । एवं क्षेत्रादिषु अपि भावनीयं, ततो न कश्चिद्दोषः, अन्ये तु न पश्यति इति पठंति । तत्र चोद्यस्य अनवकाश एव, श्रुतज्ञानी चेहाभिन्नदशपूर्वधरादिश्रुतकेवली परिगृह्यते, तस्य एव नियमतः श्रुतज्ञानबलेन सर्वद्रव्यादिपरिज्ञानसंभवात्,

तत् आरतस्तु ये श्रुतज्ञानिनः ते सर्वद्रव्यादिपरिज्ञाने भजनीयाः । केचित् सर्वद्रव्यादि जानंति केचित् न इति भावः, इत्थंभूता च भजनां मतिवैचित्र्यात् वेदितव्याः। सम्प्रति संग्रहगाथामाह-

अक्खरसन्नी सम्मं । साइअं खलु सपज्जवसिअं च ।
गमिअं अंगपविट्ठं । सत्तवि एए सपडिवक्खा ॥ १ ॥

आगम सत्थग्गहणं । जं बुद्धिगुणेंहिं अट्ठहिं दिट्ठं ।
बिंति सुअनाण लंभं । तं पुव्व विसारया धीरा ॥ २ ॥

सुस्सूसइ[1] पडिपुच्छइ[2] । परोइ[3] गिण्हइअ[4] ईहएयाऽवि[5] ।
तत्तो अपोहए वा[6] । धारेइ[7] करेइ वा सम्मं ॥ ३ ॥
मूअं हुंकारं वा बाढक्कार पडिपुच्छविमंसा ।
तत्तो पसंग पारायणं च परिनिट्ठ सत्तमाए ॥ ४ ॥
सुत्तत्थो खलु पढमो बीओ निज्जुत्ति मीसिओ भणिओ ।
तइओ य निरवसेसो एस विही होइ अणुओगे ॥ ५ ॥

सेत्तं अंगपविट्ठं । सेत्तं सुअनाणं । सेत्तं परोक्खनाणं । सेत्तं नंदी सम्मत्ता ।

॥ इति श्री नंदीसूत्रमूलपाठः ॥

'अक्खरसन्नी'त्यादि गतार्था, नवरं सप्तापि एते पक्षाः सप्रतिपक्षाः, ते च एवं—अक्षरश्रुतं अनक्षरश्रुतमित्यादि। इदं च श्रुतज्ञानं सर्वातिशयरत्नकल्पं प्रायो गुर्वधीनं च ततो विनेयजनानुग्रहार्थं यो यथा च अस्य लाभस्तं तथा दर्शयति—१ 'आगमे' त्यादि, आ-अभिविधिना सकलश्रुतविषयव्याप्तिरूपेण मर्यादया वा यथावस्थितप्ररूपणारूपया गम्यंते—परिच्छिद्यंते अर्था येन स आगमः, स च एवं व्युत्पत्त्या अवधिकेवलादिलक्षणोऽपि भवति ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं विशेषणांतरं आह—'शास्त्रे'ति शिष्यते अनेन इति शास्त्रं आगमरूपं शास्त्रं आगमशास्त्रं, आगमग्रहणेन षष्टितंत्रादिकुशास्त्रव्यवच्छेदः, तेषां यथावस्थितार्थप्रकाशनाभावतो न आगमत्वात् आगमशास्त्रस्य ग्रहणं आगमग्रहणं यत् बुद्धिगुणैः वक्ष्यमाणैः कारणभूतैः अष्टभिः दृष्टं, तत् एव ग्रहणं श्रुतज्ञानस्य लाभं ब्रुवते पूर्वेषु विशारदा-विपश्चिताः धीराः व्रतपालने स्थिराः, किं उक्तं भवति यदेव जिनप्रणीतप्रवचनार्थपरिज्ञानं तदेव परमार्थतः श्रुतज्ञानं, न शेषं इति। बुद्धिगुणैः अष्टभिः इत्युक्तं। ततस्तानेव बुद्धिगुणानाह—'सुस्सूस' इत्यादि, पूर्वं तावत् शुश्रूषते—विनययुक्तो गुरुवदनअरविंदात् विनिर्गच्छत् वचनं श्रोतुमिच्छति, यत्र शंकितं भवति तत्र भूयोऽपि विनयनम्रतया वचसा गुरुमनःप्रल्हादयन् पृच्छति। पृष्टे च सति यद्गुरुः कथयति तत्सम्यक् व्याक्षेपपरिहारेण सावधानः शृणोति श्रुत्वा च अर्थरूपतया गृह्णाति, गृहीत्वा च ईहते—पूर्वापराविरोधेन पर्यालोचयति। चशब्दः समुच्चयार्थः, अपिशब्दः पर्यालोचयन् किंचित् स्वबुद्ध्यापि उत्प्रेक्षिते इति सूचनार्थः। ततः स पर्यालोचनानंतरं अपोहते। एवं तत् यदादिष्टं आचार्येण न अन्यथा इति अवधारयति, ततस्तं अर्थं निश्चितं स्वचेतसि विस्मृत्य भावार्थं सम्यग् धारयति, करोति च सम्यग्—यथोक्तं अनुष्ठानं, यथोक्तानुष्ठानं अपि श्रुतज्ञानप्राप्तिहेतुः। तत् आवरणक्षयोपशमनिमित्तत्वात्। तदेवं गुणा व्याख्याताः ॥ २ ॥ संप्रति यत शुश्रूषते इति उक्तं तत्र श्रवणविधिं आह—'मूकं' इति प्रथमतो मूकं शृणुयात्, किं उक्तं भवति?

प्रथमश्रवणे संयमगात्रस्तूष्णीं आसीत् । ततो द्वितीये श्रवणे हुंकारं दद्यात्, वंदनं कुर्यादित्यर्थः, तृतीये वा ढकारं कुर्यात्, बाढं एवमेतत् न अन्यथा इति, ततः चतुर्थश्रवणे तु गृहीतपूर्वापरसूत्राभिप्रायो मनाक् प्रति पृच्छां कुर्यात्, कथं एतदिति ?, पंचमे मीमांसां प्रमाणजिज्ञासां कुर्यादिति भावः, षष्ठे श्रवणे तत् उत्तरोत्तरगुणप्रसंगः पारगमनं च अस्य भवति । ततः सप्तमे श्रवणे परिनिष्ठा–गुरुवदनुभाषते । एवं तावत् श्रवणविधिः उक्तः ॥४॥ संप्रति व्याख्यानविधिं अभिधित्सुराह–'सुत्तत्थो' इत्यादि, प्रथमानुयोगः सूत्रार्थः–सूत्रार्थ–प्रतिपादनपरः, खलु शब्द एवकारार्थः, स च अवधारणे, ततोऽयमर्थः–गुरुणा प्रथमोऽनुयोगः सूत्रार्थाभिधानलक्षण एव कर्त्तव्यः । माभूत् प्राथमिकविनेयानां मतिमोहः, द्वितीयोऽनुयोगः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिमिश्रितो भणितस्तीर्थकरगणधरैः, सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिमिश्रितं द्वितीयं अनुयोगं गुरुः विदध्यात् इति आख्यातं तीर्थकरगणधरैः इति भावः, तृतीयश्च अनुयोगो निरवशेषः–प्रसक्तानुप्रसक्तप्रतिपादनलक्षणः इत्येषः–उक्तलक्षणो विधिः भवति । अनुयोगे व्याख्यायां आह–परिनिष्ठा सत्तमे इति उक्तं, त्रयश्च अनुयोगप्रकाराः तदेतत् कथं ? उच्यते, त्रयाणां अनुयोगानां अन्यतमेन केनचित् प्रकारेण भूयो भूयो भाव्यमानेन सप्त वाराः श्रवणं कार्यते ततो न कश्चित् दोषः । अथ किंचित् मंदमतिविनेयमधिकृत्य तदुक्तं द्रष्टव्यं, न पुनः एष एव सर्वत्र श्रवणविधिनियमः, उद्घटितज्ञविनेयानां सकृत् श्रवणत एव अशेषग्रहणदर्शनात् इति कृतं प्रसंगेन, तदेतत् श्रुतज्ञानं, तदेतत् परोक्षं ॥ इति ॥

श्रीनन्द्यध्ययनअवचरी परिसमाप्तिमगमत ॥

શેઠ દેવચંદ લાલભાઇ જૈન પુસ્તકોદ્ધાર ફંડ

હાલમાં મળતા ગ્રન્થો

ગ્રથાંક		રૂ.આ.
૮૬	લોકપ્રકાશ મૂળ ચોથો વિભાગ (પ્રત)	૧–૦
૮૭	ભરતેશ્વરબાહુબલિવૃત્તિ દ્વિતીય વિભાગ સંપૂર્ણ	૨–૦
૮૮	પ્રશમરતિપ્રકરણ- બૃહદ્દગચ્છીય શ્રીહરિભદ્રસૂરિકૃત વિવરણસમેત	૧–૪
૮૯	અધ્યાત્મકલ્પદ્રુમ રત્નચંદ્રગણિવર્ધનવિજયગણિકૃત ટીકાયુક્ત	૩–૦
૯૦	ગૌતમીયકાવ્ય રૂપચંદ્રગણિકૃત	૧–૦
૯૧	સટીક વૈરાગ્યશતકાદિ ગ્રંથપંચકમ્	૧–૦
૯૨	અભિધાનચિન્તામણિકોશ	૪–૦
૯૩	જૈનકુમારસંભવ	૨–૮
૯૪	સિદ્ધહેમશબ્દાનુશાસન બૃહદ્વૃત્ત્યવચૂર્ણિનવપાદ, અવચૂર્ણિકાર શ્રીમદ્દઅમરચંદ્ર	૫–૦
૯૫	વીતરાગસ્તોત્ર અવચૂર્ણિ વિવરણ અને ભાષાંતર સમેત	૧–૮
૯૯	શ્રમણસૂત્રાદિ અવચૂરિ	૧–૦
૧૦૦	વંદનપ્રતિક્રમણ ,,	૧–૮
	ભક્તામરસ્તોત્ર પાદપૂર્તિરૂપ કાવ્ય પ્રથમ વિભાગ ટીકા ભાષાંતર	૩–૦
	,, ,, કાવ્ય બીજો વિભાગ ટીકા ભાષાંતર	૩–૮
	જીવસમાસપ્રકરણ શતક	૧–૮
	સ્તુતિચતુર્વિંશતિકા સચિત્રા શ્રીશોભનમુનિકૃતા સંસ્કૃતા	૮–૦
	સ્તુતિચતુર્વિંશતિકા સચિત્રા શ્રીબપ્પભટ્ટીસૂરિકૃતા ભાષાંતરયુક્તા	૬–૦
	સ્તુતિચતુર્વિંશતિકા સચિત્રા કવિ ધનપાલકૃતા વ. ઐંદ્રસ્તુતિ	૬–૦
	ચતુર્વિંશતિકા જિનાનંદ સ્તુતિ સચિત્રા મેરૂવિજયકૃતા ભાષાંતરસમેતા	૬–૦
	નંદ્યાદિ (સપ્તસૂત્ર) ગાથાદ્યકારાદ્યિયુતો વિષયાનુક્રમ	૨–૦
	આવશ્યકસૂત્ર મલયગિરિકૃત ટીકાયુક્ત બીજો ભાગ,	૨–૮
	,, ત્રીજો ભાગ (દે. લા. અંક ૮૫)	૨–૮
	લોકપ્રકાશ પ્રથમ વિભાગ દ્રવ્યલોક સર્ગ ૧ થી ૧૧ ભાષાંતર	૩–૮
	,, દ્વિતીય વિભાગ ક્ષેત્રલોક સર્ગ ૧૨ થી ૨૦ ,,	૩–૮

વેચાણમાં નવીન પુસ્તકો

ગ્રથાંક		રૂ.આ.
૧૦૨	શ્રાવકધર્મપંચાશકચૂર્ણિ	૨–૦
૧૦૩	દશવૈકાલિક અવચૂરિ	૩–૦
૧૦૪	ઉત્તરાધ્યયન અવચૂરિ પ્રથમ વિભાગ	૩–૦
૧૦૫	પિંડનિર્યુક્તિ અવચૂરિ	૩–૦
૧૦૬	શ્રાદ્ધવિધિ (વિધિકૌમુદી)	૪–૦
	,, સારાંસ-મરાઠી	૧–૦
૧૦૭	નંદી અવચૂરિ	૨–૮
૧૦૯	સુત્રકૃતાંગદીપીકા	૩–૦

टीकान्तर्गत-उद्धरणानि

पृष्ठम्	उद्धरणम् ।
३	दुर्गतिप्रसृतान्०
,,	सज्झायज्झाण०
,,	ऐश्वर्यस्य
६	पञ्चाश्रवाद् विरमणं०
८	'नन्द्यादिभ्योऽन' (सि.हे. ५-१-५२)
,,	यः समः सर्वभूतेषु०
९-१०	'शेषाद्वे'ति कःप्रत्ययः (७-३-१७५)०
११	'लिहादिभ्यः' इत्यच् प्रत्ययः (५-१-५०)
,,	आपूर्णः उद्धुमायशब्द०
१४	'[स्वार्थे] कश्च [वा] इति (८-२-१६४)
१५	गर्गादेः यञ् (६-१-४२)०
,,	गर्गादेर्यञ् (६-१-४२)०
१५	गर्गादेः यञ् (६-१-४२)०
,,	बिदादेर्वृद्ध (६-१-४१) इत्यञ् प्रत्ययः
१६	'ऋषिवृष्ण्यन्धककुरुभ्य (६-१-६१)०
१७	'धृञ् धारणे'०
,,	'लिहादिभ्य'०
१८	'[स्वार्थे] [वा] कश्च'०
,,	एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणम् इति०
१९	पिंडविसोही०
२३	'ज्ञो जाणमुणौ' (८-४-७)
२५	'आमे घडे निहित्तं०
२७	आचार्यस्यैव तज्जाड्यं०
२७	आयरिए सुत्तंमि य परिवाओ०

पृष्ठम्	उद्धरणम् ।
७९	तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेश०
८०	पिधू संराद्धौ०
८०	कम्मे सिप्पे०
८०	कायवाङ्मनःकर्म योगः
८६	सव्वदव्वाण पओगवीससामीसया०
८६	तेसिं भावो सत्ता सलक्खणं०
८६	वइजोग सुयं हवइ तेसिं
१०३	सट्ठिकागसहस्सा०
१०७	आगंतूण य तयो पडयं०
११४	तुज्झ पिया मह पिउणो०
१२०	'अहो सीया साडी'०
१२१	'गोणे घोडगपडणं च रुक्खाओ'०
१२५	अन्यथानुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किं ?०

पृष्ठम्	उद्धरणम् ।
१२५	यः साध्यस्य उपमानभूतः स दृष्टान्त इति कथ्यते०
१३०	तदनन्तरं तदत्थाविच्चवणं०
१३७	जं च वंजणोग्गहणमिति०
१३७	वंजणावग्गहकालो०
१४५	न अनवगृहीतं ईह्यते०
१४५	पारे मध्यऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा० (३—१—३०)
१४६	लक्खेहि एक्कवीसाए०
१४९	क्षर संचलने
१५०	दव्वसुयाभावंमि वि भावसुयं पत्थियाईणं०
१५४	कृमिकीट— पतंगाद्याः०
१५५	ऐश्वर्यस्य समग्रस्य०
१५६	व्यत्ययोऽप्यासां०
१६०	चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीओ०

पृष्ठम्	उद्धरणम् ।
१७९	यत् यदैव यतो०
१८०	क्षणिकाः सर्वसंस्कारा०
१८१	अतोऽनेकस्वरात्०
१८१	अन्नेण अन्नहा देसियंमि०
१८१	सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः
१८३	जं इत्थं च णं लोके तं०
२००	धम्मो मंगलमुक्किट्ठं०
२०१	सव्वेसिं आयारो पढमो०
२०४	चउद्दसलक्खा सिद्धा०
२०४	पुनरवि चउद्दसलक्खा सिद्धा०
२०४	जाव य लक्खा चउद्दस०
२०४	एगुत्तरा उ ठाणा०





पृष्ठम्	उद्धरणम् ।
२०५	विवरीयं सव्वट्ठे चउद्दस०
२०५	तेण परं दुलक्खाइं दो दो०
२०६	सिवगइसव्वट्ठेहिं०
२०६	पढमाए सिद्धेको०
२०६	ताहे दिउत्तराए०
२०६	एग चउ सत्त०
२०७	ताहे तियगाइ विसमुत्तराए०
२०८	सिवगइसव्वट्ठेहिं दो दो०
२०९	विसमुत्तरा य पढमा०
२०९	सिवगइ पढमादीए०
२०९	एवमसंखेज्जाओ०



मूलसूत्राणामशुद्धेः शुद्धिपत्रकम् ।

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
६	२	तुंवर	तुंबार
६	२	पारियालस्स	पारियल्लस्स
६	१०	संघरहस्स	संघरहस्स भगवओ
८	९	अकीरि०	अकिरि०
८	९	निच्चं !	निच्चं
१०	६	०वइरदद	०वइरदद ।
११	२	नियमुच्छिय	नियमूसिय
११	१२	धातु	धाउ
११	१२	रुद्ध	रुद्द
१३	१०	सुगंधि०	सुगन्ध०
१३	०	सुयवर	सुयवार

पृष्ठम	पंक्तिः	शुद्धम् ।	अशुद्धम् ।
१३	१०	सिहरं महामं	सिहरं संघमहामं०
१३	१२	पुप्फंदंत	पुप्फदंत
१४	१	कुथु	कुंथुं
१४	४	वीए	बीओ
१४	४	तईए	तइए
१५	५	मोरिय पुत्ते	मोरियपुत्तं
१४	५	अयल भायाय	अयलभाया य
१४	५	मे अज्जेय	मेअज्जे य
१४	८	जिणिंद्वर वीर	जिणिंदवरवीर
१५	४	जम्बु	जम्बू
१५	४	कासवं पभवं ।	कासवं । पभवं
१६	१३	हारियगुत्तं	हारियगोत्तं

पृष्ठम्	पंक्तिः	शुद्धम् ।	अशुद्धम् ।
१६	१३	कोसिआ	कोसिअ
१७	७	गंभिरं	गंभीरं
१८	६	तत्तोय	तत्तो य
१८	८	भूआ	भूओ
२१	४	पुव्वि	पुव्विं
२१	५	गोवं दाणं	गोविंदाणं
२१	५	अणुयोगो	अणुयोगे
२१	५	विउलधारिणि	विउलधारणिं
२१	५	दाणं निच्चं	निच्चं
२१	५	खंति दुयाणं	खंतिदयाणं
२१	५	परुवणे दुल्लभिंदाणं	परूवणे दुल्लभिंदाणं
२१	६	तत्तोय	तत्तो य
२१	६	संजमं विह	संजमविह

पृष्ठम्	पंक्तिः	शुद्धम् ।	अशुद्धम् ।
२२	८	अप्प	अयप्प
२२	८	रिसीण	रिसीणं
२२(?)	१२	तत्थं	तत्थं [णिच्चं]
२३	७	वखाण	वक्खाण
२३	७	पयईइ	पयईए
२३	१२	संजमं विणय	संजमविणय
२३	१२	०वरयणं	०रयाणं
२३(?)	१२	जुगव्व	जुगप्प
२४	१	एहि	एहिं
२५	३	जलुग	जलूग
२५	३	आभेरी ॥	आभीरी ॥
४०	१	खीरमिव	'खीरमिव
४०	२	परिसा	परिसा' ॥१॥

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
४०	३	यभुआ	यभूआ
४४	२	पच्चक्खं ।	पच्चक्खं ?
४४	२	पन्नतं	पन्नत्तं,
४४	२	पच्चक्खं नो इंदिय	पच्चक्खं च नोइंदिय०
४५	१	इंद्रियप्रत्यक्षं	से किं तं इंदियपच्चक्खं इंदिअपच्चक्खं पंचविहं पण्णत्तं, तंजहा- सोइंदियपच्चक्खं चक्खिंदियपच्चक्खं घाणिंदियपच्चक्खं रसणेंदियपच्चक्खं फासिंदियपच्चक्खं । से त्तं इंदियपच्चक्खं ।

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
४५	७	ओहिनाणं नो०	ओहिनाणपच्च०
४५	८	०नाणंनो०	०नाणपच्च०
”	”	”	”
”	”	”	”
”	९	”	”
”	१०	भवपच्चइयं दोण्हं	दोण्हं भवपच्चइयं
”	”	पन्नत्तं	०००
”	११	मणू०	मणु०
”	”	आण	आणं
४९	२	०गयं ।	०गयं ?
५३	६	नाणं	नाणं ?
५४	९	त्तस्स ।	त्तस्स
”	”	”	”

पृष्ठम्	पंक्तिः	शुद्धम् ।	अशुद्धम् ।
१६	१३	कोसिआ	कोसिअ
१७	७	गंभिरं	गंभीरं
१८	६	तत्तोय	तत्तो य
१८	८	भूआ	भूओ
२१	४	पुव्वि	पुव्विं
२१	५	गोवं दाणं	गोविंदाणं
२१	५	अणुयोगो	अणुयोगे
२१	५	विउलधारिणिं	विउलधारणिं
२१	५	दाणं निच्चं	निच्चं
२१	५	खंति दुयाणं	खंतिदयाणं
२१	५	परुवणे दुल्लभिंदाणं	परूवणे दुल्लभिंदाणं
२१	६	तत्तोय	तत्तो य
२१	६	संजमं विह	संजमविह

पृष्ठम्	पंक्तिः	शुद्धम् ।	अशुद्धम् ।
२२	८	अप्प	अयप्प
२२	८	रिसीण	रिसीणं
२२(?)	१२	तत्थं	तत्थं [णिच्च']
२३	७	वखाण	वक्खाण
२३	७	पयईइ	पयईए
२३	१२	संजमं विणय	संजमविणय
२३	१२	०वरयणं	०रयाणं
२३(?)	१२	जुगव्व	जुगप्प
२४	१	एहि	एहिं
२५	३	जलुग	जलूग
२५	३	आभेरी ॥	आभीरी ॥
४०	१	खीरमिव	'खीरमिव
४०	२	परिसा	परिसा' ॥१॥

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
४०	३	यभुआ	यभूआ
४४	२	पच्चक्खं ।	पच्चक्खं ?
४४	२	पन्नतं	पन्नत्तं,
४४	२	पच्चक्खं नो इंदिय	पच्चक्खं च नोइंदिय०
४५	१	इंद्रियप्रत्यक्षं	से किं तं इंदियपच्चक्खं इंदिअपच्चक्खं पंचविहं पण्णत्तं, तंजहा- सोइंदियपच्चक्खं चक्खिंदियपच्चक्खं घाणिंदियपच्चक्खं रसणिंदियपच्चक्खं फासिंदियपच्चक्खं । से त्तं इंदियपच्चक्खं ।

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
४५	७	ओहिनाणं नो०	ओहिनाणपच्च०
४५	८	०नाणंनो०	०नाणपच्च०
,,	,,	,,	,,
,,	,,	,,	,,
,,	९	,,	,,
,,	१०	भवपच्चइयं दोण्हं	दोण्हं भवपच्चइयं
,,	,,	पत्तं	०००
,,	११	[illegible]	[illegible]
,,	,,	[illegible]	[illegible]
,,	,,	[illegible] ।	[illegible]
[illegible]	२	[illegible] ।	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible] ।	,,
,,	,,	,,	

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
५५	६	ओही०	ओहि०
५९	१	०खिज्जा	०खिज्जं
,,	३	जम्बू०	जम्बु०
,,	४	असंखेज्जा	असंखेज्जे
६१	१३	अव्व	अव्वा
६२	१३	यर	यरं
६४	२	०नाणं	०नाणं जण्णं
,,	३	याल०	वाल०
,,	,,	,,	,,
,,	६	वाजोअ०	वा जोअ०
६५	२	जे णं	जं णं
,,	१३	०खिजा०	०खिज्जा०
६७	७	ओहि	ओही

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
६७	७	पच्चईओ	पच्चइओ
,,	,,	,,	,,
,,	,,	वहु	वहू
७२	९	गोयमा !	गोयमा ! संजय०
७३	६	गब्भम०	गब्भवक्कंतियम०
,,	६	भूमिय०	भूमियगब्भवक्कंतिय०
७५	१	०लवो	०लओ
,,	२	तं	ते
,,	३	मईज०	मई ज०
,,	३	०ज्जय०	०ज्ज०
,,	४	०ड्डग०	ड्डाग०
,,	६	सन्नि०	सन्नीणं
,,	७	तरागं	तरं

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
७५	८	०वमस्स	०वमस्स असंखेज्जभागं
,,	९	अब्भहियतरागं	००००
,,	१०	वावे	भावे
,,	१०	चेब	चेव
,,	११	०मणविचिं०	०मणपरिचिं०
,,	१२	इणं	इअं
,,	१२	०णव०	०णप०
७९	९	०नाणं	०नाणं ?
,,	९	०नाणं ?	नाणं ?
,,	९	०नाणं ?	नाणं-
,,	९	अयोगि	अजोगि
८०	१०	सयोगि०	सजोगि०
,,	१०	,,	,,
८०	१	चरम०	चरिम०
,,	१४	,,	,,
,,	१४	अचरम०	अचरिम०
८१	१०	०नाणं ।	०नाणं ?
,,	११	नाणं ।	०नाणं ?
८४	११	०भावं	०भावे
८६	१	केवल	केवलं
,,	२	०जोगे	०जोग्गे
८७	४	परु०	परो०
,,	४	,,	,,
,,	१४	,,	,,
,,	६	,,	,,
,,	८	च	च,

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
८७	९	मइ अ०	मइअ०
८७	९	सुअं	सुअं,
८७	९	सुअ अ०	सुअअ०
८७	१०	सुअ अ०	सुअअ०
८९	७	०नाणं ।	०नाणं ?
८९	८	०स्सियं ।	०स्सियं ?
८९	९	कम्म०	कम्मि०
८९	९	बुद्धि	बुद्धी०
८९	९	०चमी	०चमा
९०	६	बुद्धि	बुद्धी
११५	६	सादी	साडी
१२२	१४	बुद्धि	बुद्धी
१२३	२	०ण्णाए	०ण्णाग

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१२४	१४	०स्सेअ	०स्सेस
१२४	१४	॥११॥	॥१०॥
१२६	२	घण	घण
१२६	२	॥१२॥	॥११॥
१२६	३	०च्च पु०	०च्चपु०
१२६	४	०सिक०	०सिक्क०
१२६	५	॥१३॥	॥१२॥
१२६	४	०दरि	०दरी
१२६	६	॥१४॥	॥१३॥
१२९	१०	इहा	ईहा
१३२	४	भवति	भवन्ति
१३३	१२	इमं	इमे
१३५	४	तस्स	तीसे

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१३५	५	पन्नत्तं	पन्नत्ता
१३५	५	धारणा	धरणा
१३५	५	साधारणा	धारणा
१३५	१५	तत्थ	तत्थ य
१३६	५	दुसमय	दुसमयपविट्ठा०
१३६	६	०पविट्ठा	पविट्ठा पोग्गला०
१३७	१४	०तेण ।	तेण ?
१३८	४	त्तं	तं
१३८	४	हुंति	'हु" ति
१३८	९	तओ	तओ णं
१३८	१०	रुवत्ति	रूवेत्ति
१३८	११	रुवत्ति,	रुवेत्ति
१३८	१३	गंधत्ति ।	गंधेत्ति

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१३९	२	रसोत्ति	रसेत्ति
१३९	२	रसोत्ति,	रसेत्ति
१३९	४	नामए	नामए केई
१३९	६	फासओत्ति,	फासएत्ति ?
१३९	८	०णोत्ति	०णेत्ति
१३९	८	सुमिणोत्ति,	सुमिणेत्ति ?
१३९	९	सुमिणे	सुमिणेत्ति
१३९	९	तओ	तओ णं
१३९	१०	तओ	तओ णं
१४८	४	०नाण प०	०नाणप०
१४८	५	मिच्छ०	मिच्छा०
१४८	५	सुयं	००
१४८	५	सुयं	००

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१४८	५	सुयं	००
१४८	६	सुयं	००
१४८	६	सुयं	००
१४८	६	सुयं	००
१४८	६	सुयं	००
१४८	६	सुयं	००
१४८	१४	सद्वाणगइ	संठाणागिई
१४९	४	सेत्तं	सेत्तं लद्धिअक्खरं । सेत्तं
१५५	५	उप०	उप्प०
१५५	६	०न्नं	०न्न
१५५	८	ईद०	ईयद०
१५५	८	दिट्ठ०	दिट्ठि०

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१५७	७	०गवं,	०गवअं,
१५७	७	सउणरुअं	००
१५७	७	नाडयाइं	००
१५८	१२	सयं	य
१५८	१३	सयं	य
१५८	१३	०त्तिन०	त्तिन०
१५८	१४	इअ	इअं
१५९	१	पुरिसे	पुरिसं
१५९	२	य	००
१५९	६	तय	ते तया
१५९	१०	सुय	००
१६४	१०	दविं	देविं
१६५	२	०सुए,	०सुए, समुट्ठाणसुए

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१६५	३	लिआणं,	लिआणं, निरयावलियाणं
१६५	३	ब्रण्ही०	वण्ही०
१६५	७	०व्विहं	०व्विहाए
१६५	८	सेत्तं उक्कालियं सुयं।	०००
१६५	९	सुयं ।	००
१७२	३	वायो	वाओ
१७२	६	माया	जाया
१७२	६	जाया	माया
१७२	८	०खिज्ज	०खिज्जा
१७२	१२	वड	कड
१७२	१३	से	००
१७६	८	०ज्जइ	०ज्जन्ति
१७६	९	०ज्जइ	०ज्जन्ति
१७६	९	०ज्जइ	०ज्जन्ति
१७७	३	से	०००
१८२	९	ठाणे	ठाणे णं
१८२	९	०जीवे	०जीवा
१८२	९	ज्जंति	ज्जइ
१८२	१०	,,	,,
,,	,,	,,	,,
,,	,,	,,	,,
,,	,,	,,	,,
,,	११	,,	,,
,,	१२	णं परित्ता	णं एगाइआए एगुत्तरियाए वुड्ढीए दसट्ठाणगविवड्ढियाणं भावाणं परूवणया आघविज्जंति ठाणेणं परित्ता

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१८३	३	से	०००
१८४	२	०एणं	०ए णं
,,	,,	ठाण	ठाणग
,,	९	से	०००
,,	,,	ककण	करण
१८५	२	०ति, लोए	०ति, परसमए विआहिज्जति, ससमयपरसमए विआहिज्जति लोए
,,	८	से	०००
,,	१२	०णाआ	०णाओ
,,	१३	याओ	याओ अ
,,	,,	नायाधम्मकहाणं	०००
१८५	४	कवघे	कवघा
१८६	६	अक्ख०	संखिज्ज अक्ख०
,,	७	परु	परू
,,	८	से	०००
१८८	५	०चाइ०	०चायाइ०
,,	१०	परु०	परू०
१८९	४	०ज्ञ	ज्ञा०
,,	९	से	००
१९०	४	०डाणं	०डाइं
,,	६	०इत्ते	०इयत्ते
,,	७	ओ०	ओय०
,,	१३	से	०००
१९१	५	०त्तरप०	०त्तरं प०
,,	१३	से	००

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१९२	६	णं वि०	णं दुहवि०
,,	११	०आया	०आगा
,,	१२	पच्चक्खाणाइं	पच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं
१९३	१	०क्खंधे	०क्खंधा
,,	४	से	०००
,,	११	०पज्ज०	०पज्जण०
,,	१३	[४] पाढोआ०	[४ ५] पाढो आ०
१९४[१]	१	[५] ०भूअं	[६] ०भूअं
,,	,,	[६] बद्धं	[७] ०बद्धं

१-एवं-द्वितीयसूत्रेऽपि ज्ञेयम् ।

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१९४	१	[७] ०गुणं	[८] ०गुणं
,,	,,	[८] ०गुणं	[९] ०गुणं
,,	,,	[९] ०गुणं	[१०] ०गुणं
,,	,,	[१० ११] भूअं पडि०	[११] ०भूअपडि०
,,	४	[४] पाढोआ०	[४ ५] पाढो आ०
,,	,,	[५] ०भूअं	[६] ०भूअं
,,	,,	[६] ०बद्धं	[७] ०बद्धं

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१९४	४	[७] ०गुणं	[८] ०गुणं
,,	,,	[८] ०गुणं	[९] ०गुणं
,,	,,	[९] ०गुणं	[१०] ०गुणं
,,	६	[१०] ०भूअं [११] पडि०	[११] ०भूअपडि०
,,	६ - ९ - १३	[१] पाढोआ०	[१] पाढो [२] आ०
,,	७ - १० - ,,	[२] ०भूअं	[३] ०भूअं
,,	,, ,, ,,	[३] ०बद्धं	[४] ०बद्धं

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१९४	७ १० १३	[४] ०गुणं	[५] ०गुणं
,,	,, ,, ,,	[५] ०गुणं	[६] ०गुणं
,,	,, ,, ,,	[६] ०गुणं	[७] ०गुणं
,,	,, ,, ,,	[७] ०भूअं [८] पडि०	[८] ०भूअपडि०
१९५	१	०ज्ञहु०	०जह०
,,	,,	,,	,,
१९७	१	०स्थिआ०	०त्थिअ०
,,	२	०स्सा०	०न्ना०
,,	९	पाण०	पाणा०

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१९८	७	०ओगे	०ओगे अ
,,	७	,,	,,
,,	८	०मण०	०मणा०
,,	९	०सेआ	०सेया
,,	१०	अज्ज०	अज्जा य
,,	१०	०णीओ	णीओ अ
,,	११	सम्म०	सम०
,,	,,	वाई	वाई अ
,,	,,	०आं सि०	०आसि०
,,	१२	०गया	०गओ
,,	१३	तिमि०	तम०
,,	१४	०ओगे	०ओगे णं



पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१९९	४	पन्नविज्जंति	००००
,,	१३	से	०००
२१०	१४	०संघे	०संगे
,,	,,	हेउ	हेऊ
,,	,,	०हेउ	०हेऊ
२११	१४	अवि०	अव०
२१२	६	०व्व द०	०व्वद०
२१५	७	परोइ[३]	सुणेइ[३]
२१५	७	०इअ	०इ अ
२१५	७	०एया०	०ए या०
२१५	१०	०माए	०मए





'टीकायाः शुद्धिपत्रकम्' ।

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१	६	चूरी	चूरि
२	१	आध्ययने	अध्ययने
,,	३	डीप्र	डीप्प्र०
,,	५	स्मोति	स्मीति
,,	९	यथा व्य	यथाव्य
,,	१३	स्वलि ङ्गा	स्वलिङ्गं
४	६	सूर	शूर
४	११	सुखहिता	सुखसुहिता
५	६	गुम्पिलं	गुम्फिलं
७	१०	०लौघ	०लौघः
७	,,	पादि	पातादि
९	४	वर्ति	वृत्ति
९	९	उज्वला	उज्ज्वला
१०	१	घिंई	घिइ
,,	५	मेरू	मेरु
११	५	उज्वलानि	उज्ज्वलानि
११	८	नन्द	नन्दन
११	९	तत्त्ववि०	तत्तु वि०
१२	२	निष्पंद०	निस्यन्द०
१२	४	निष्पंद०	निस्यन्दमा०
१२	४	०रत्वा	०रत्वात्
१२	७	कारित्वा	कारित्वात्
१३	३	०चूरी	०चूरि
१४	१०	पथःशा०	पथशा०

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१४	६	निर्वृत्ति	निर्वृति
१४	१२	सत्	तत्
१५	२	कथोक्त	यथोक्त
१५	३	इदं युगी	ऐदंयुगी
१५	७	त च्छिष्यं	तच्छिष्यं
१५	८	च	चः
१६	३	अग	अणु
१७	९	कीर्ति	कीर्त्ति
१८	६	वंदो	वन्दे
१९	८	पडिमाई	पडिमा य
२०	९	प्रभत	प्रभूत
२१	२	०दादिनां	०दादीनां
२३	२	सुज्ञा ज्ञात	सुज्ञात
२३	५	तय्यं	तथ्यं
२५	२	नाअयो०	नायो०
२५	२	०भागोउप०	भागोप०
२५	१०	मअश०	मश०
२६	११	मवमास	मवभास
२७	३	जृंभित०	ज्जृंभित०
२७	६	शिष्यानाव	शिष्या नाव
२७	७	एवं वि०	एवंवि०
२७	१२	श्रोतुणा	श्रोतॄणा
२८	१	परिचाओ	परित्राओ
२८	२	दिवेयः	विनेयः
२८	४	मिच्छित्ति	मच्छित्ति
२८	५	प्रत्येवा	प्रत्येव

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
२८	९	वर्त्तते	वर्त्तन्ते
२८	११	भाविधाः	भाविताः
२९	८	पश्चादअपि	पश्चादपि
३०	११–१३	चालिनी०	चालनी०
,,	१	उक्त	उक्तं
,,	१	सेलेय चालिणी	सेले य चालिणि
,,	२	बीसइ वीए	विसइ व्रीए
,,	२	सुरामि	सरामि
,,	२	आह	आह !
,,	२	धन्नोत्थ	धन्नो त्थ
,,	५	समानो	समानोऽ
,,	४	कठिणयं	कढिणयं
,,	७	नीसरइ	निस्सरइ

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
३०	४	०वक्ख	०वक्खो
,,	४	गम्भिय	गम्भि य
,,	४	दोसाय	दोसा य
,,	५	योग्यः	ऽयोग्यः
,,	१०	०सज्जस	०सज्जा
३१	६	न ज	न य
,,	९	स च०	स चा०
३२	१२	चरणमवि	चरणगवी
,,	१२	विहु	वि (व) ह
३४	७	मकलितं	मुकुलितं
३४	१२	निशित०	निवेशित०
३४	९	मारभे०	मारेभे०
३४	१३	मकलितं	मुकुलितं

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
३६	१४	तद्रूरूप	तद्रूप
३५	१	खड्ग०	खड्गा०
३५	८	नीचद्धे	नीचयुद्धे
३५	११	अचकथत्	अचीकथत्
३५	१२	कुड्म	कु ड्म
३६	१	पर्यंते	पर्यन्ते
३६	४	मेरीं	भेरीं
३६	१३	घषित्वा	घर्षित्वा
३७	१	तच्छशक	तच्छक
३७	१	व्यतीरिष्ट	व्यतरिष्ट
३७	१	ततः	तत्
३७	६	शक्नुवती	शक्नोति
३७	६	निभालमास	निभालयामास
३७	८	निरोपितो	निरूपितो
३७	११	जंतूनां	जन्तूनां
३८	३	पापीयसि ?	पापीयसि !
,,	३	दुःशीले	दुःशीले !
३८	५	क्षिपत्	क्षिपती
४०	२	परिसा ।	परिसा ॥१॥
,,	,,	परिसा ॥१॥	परिसा ॥२॥
,,	३	णुआ	भूआ
४०	४	वत्थिव्व	वत्थिव्व
,,	५	॥२॥	॥३॥
,,	१०	एसा	सा
,,	१०	कुडग०	कुक्कुर०
,,	१०	कुक्कुड	कुक्कुर

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
४१	१४	पवत्तह	पवत्तइ
४३	५	प्रत्यक्ष	प्रत्यक्षं
४३	९	०नयत्वात्	०मयत्वात्
४३	१०	रुपासद्धिः	रूपसिद्धिः
४५	१३	प्रत्यक्षो	प्रत्यक्षा
४६	१२	गमनग०	गमनाग०
४९	१३	नानावधि	नानाविध
५१	६	०त्वभवत्वं	त्वम्
५१	१	मणि'	मणिः
५२	२	कर्पनि	कर्पन्नि
,,	३	,,	,,
५२	१४	यथा क्षयो०	यथाक्षयो०
५६	१	ससहुस्त्रा	सहस्त्रा

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
५९	५	अवधिअ०	अवधेर०
६०	४	ऊणं	ऊनं
६०	५	पृय०	पृथ०
६०	११	अपि शव्दात्महा— ने कोपि	अपिशब्दात् महा— नेकोऽपि
६४	१३	ओनव०	आनव०
६८	६	॥१॥	०००
६९	१३	तथाच	तथा च
७०	९	पयाप्ता०	पर्याप्ता०
७४	१२	०दुष्टैवेति	०दुष्टमेवेति
७६	१	अनन्तान्त	अनन्तानन्त
७६	८	रुपंमनो०	रूपमनो०
७७	३	०धडो	०धोः



पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
७७	४	प्रतर	प्रतरं
७८	८	भूमिसु	भूमिषु
७८	८	द्वीपेसु	द्वीपेषु
८०	१	तिष्ठती	तिष्ठती
८२	८	तीथ	तीर्थं
८२	१३	न्नव	न्नेव
८३	४	बुद्धयते	बुद्धयन्ते
८३	६	विहार०	विहर०
८५	४	अप्रथमाःस	अप्रथमस
८५	८	यद्य	यद्यपि
८८	१	धारणाथ	धारणार्थं
८८	८	अथ	अर्थं
८९	१४	०शील ना०	०शीलना०

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
९१	६	महेले	महिला
९४	४	भव्य	भव्यं
९५	१२	राज०	राजा०
९२	५	सप्रकारां	सप्राकारां
१००	१४	दौहृदं	दौर्हृदं
१०१	१	दौह्रदा०	दौहदा०
१०२	११	चित	चित्
१०२	१४	रुप०	रूप्य
१०३	१०	०चेतसो	०चेता
१०३	१२	योवन	यौवन
१०४	४	यो	य
१०४	६	मले	जले



पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१०४	१३	त्यागेन	त्यागाय
१०५	४	वभू०	बभू०
१०६	१	पद्ममाऽऽ.	पद्माऽऽ
,,	१०	पति	पतिः
,,	११	निर्घटिता	निर्धाटिता
,,	११	औत्पत्तिकी	औत्पातिकी
१०७	३	पुंडरीक	पुंडरीकं
१०८	५	परस्पर	परस्परं
,,	७	०ज्वाला स	ज्वालास
,,	८	हृदयाहृद०	हृदया हृद०
,,	९	दारिद्रयं	दारिद्र्यं
१०९	३	क्र्यात्	क्रयात्
११०	१०	परिपूर्णं	परिपूर्णः

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
११०	११	इतरो	इतरस्य
,,	१३	देशांतरं	देशांतरं (गतः)
१११	६	वाददामि	वा ददामि
,,	१०	तस्तै	तस्मै
,,	१४	०ता तत्र	०तावत्र
११२	१४	'सिखु'	सिक्खा
११३	१४	अधास्तात्	अधस्तात्
११४	५	दधादिति	दद्या इति
,,	,,	,,	,,
,,	२	०पकर्पं	प्रकर्षं
११६	३	गुर्रुनिर्दे०	गुरुनिर्दे०
,,	८	चेडी	चेटी
,,	९	,,	,,

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
११७	१२	कृतवान्	कृतवत्
११८	५	उप्तन्नं	उत्पन्नं
१२१	११	स्वामीतं	स्वामी तं
१२२	५	संजाततक्रुपः	संजातकृपः
१२३	५	(विद्गादि्भ ?)	विवदद्भिः
१२३	६	तस्माः	तस्याः
१२५	११	जीवच्छटा	जीवच्छटी
१२६	५	घिग्	धिग्
१२६	१०	पूती	पूति
१२७	४	सुंसुमा	सुसुमा
१२७	१०	कर्त्तु	कर्त्तुं
१२८	२	निष्टिते	निष्ठिते
१३३	७	विशेष—	[तज्ज्ञानोऽवलंबनता] विशेप—

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१३४	१४	विशेषात	विशेपात्
१३५	७	धारणा	धरणा
१४०	९	०वल०	०वल०
१४०	१४	इहा	ईहा
१४३	२	एव	एवं
१४४	७	०काय०	काया०
१५०	५	लव्धि	लब्धिः
,,	९	भवेन्	भवेत्
१५१	४	लब्ध्यअक्ष०	लब्ध्यक्ष०
१५१	१२	कारा०	करा०
१५२	९	०त्तत्	०त्तत
,,	११	व्युप०	व्यप०
१५३	१४	०नियतइष्टा०	०नियतेष्टा०

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१६२	२	०स्यानंत०	०स्यानंततम०
१६५	१४	कालिक	कालिकं
१६६	१४	अध्वयने	अध्ययने
१७१	८	०सिद्धः	सिद्धाः
१७२	१	०बुद्धि०	०बुद्ध०
१७५	७	०श०	०स०
१७६	५	०अधी०	०गधी०
१७८	१४	अन्यो	अज्ञो
१८०	३	उञ्यते	चोच्यते
१८१	६	०तराः अशु०	०तराशु०
१८८	१२	उपाशक०	उपासक०
१९५	१०	०कर्म्मः	०कर्म्म
१९६	८	परिचिंत्यते	परिचिंत्यंते

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
२०१	३	त्रितयि०	त्रिनयि०
२०२	८	आत्मा प्र०	आत्मप्र०
२०३	३	ईक्ष्वा०	इक्ष्वा०
,,	८	बहव्यां	बह्व्यां
,,	९	०भेव	०भव
,,	११	०पात्ते	०पाते
२०४	३	स्ततः	ततः
,,	१३	सर्वार्थाः	सर्वार्थे
२०८	१	पंचविंशति	पंचविंशतिः
,,	३	सर्वार्थ	सर्वार्थे
,,	,,	अशीति	अशीतिः
२०८	१०	अंकंस्थानं	अंकस्थानं
,,	१४	०सरात्तुया	०सत्तराया

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
२१०	६	०पूर्वते	पर्वते
,,	,,	उक्तः	उक्ताः
,,	८	०विंसति०	०विंशति०
,,	९	विंशति	विंशतिः
२१४	११	इति	इत्र
,,	१२	उपाजयते	उपजायते
,,	१४	केवलीं	केवली
२१५	१	च	श्च
,,	२	भजनां	भजनाः
२१७	८	सत्तमे	सप्तमे
२१७	१२	०चूरी	चूरिः

टीप्पणकस्य शुद्धिपत्रकम् ।

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
६९	१३	तथाच्च	तथा च
७०	१४	चैकका	च शरीरादि०
७४	११	०दुष्टैवेति	०दुष्टमेवेति
८२	१३	न्नव	न्नेव





અમારાં પ્રકાશનો ગ્રંથાંક ૧૧૫ સુધીની હકીકત-સારાંશ.

(સ્ટોકમાં જે પુસ્તકો છે તેની હકીકત આપવામાં આવી છે)

૧. ગ્રંથાંક ૮૫. આવશ્યકસૂત્ર ભાગ ત્રીજો.

આ ગ્રંથ શ્રીગણધર ભગવંતકૃત છે. શ્રીમલયગિરિસૂરિકૃત વિવરણ સહિત શ્રુતકેવલિશ્રીમદ્ભદ્રબાહુસ્વામિસૂત્રિત નિર્યુક્તિયુક્ત. ધક આચાર્યશ્રી આનંદસાગરસૂરિજી. પ્રકાશક શ્રી જીવણચંદ સાકેરચંદ ઝવેરી. મુદ્રણકાલ વિ. સં. ૧૯૯૨ ઈ. સ. ૧૯૩૬ વીર સં. ૨૪૬૨. સ્થાન નિર્ણયસાગર પ્રેસ, મુંબઈ. શ્લોકટીકા ૧૮૦૦૦ પ્રમાણ છે. કિંમત રૂા. ૨-૫૦ કુલ ૬૦૦ નકલો. વિષય ષડાવશ્યકનો છે. સંસ્કૃત-પ્રાકૃત છે; કુલ ખર્ચ રૂા. ૫૦૦૦ થયો છે. આવશ્યકસૂત્ર ભા. ૧-૨ આગમોદય સમિતિ તરફથી પ્રસિદ્ધ થયો હતો.

૨. ગ્રંથાંક ૯૨. અભિધાન ચિન્તામણિકોશ :

આ ગ્રંથના કર્તા કલિકાલ સર્વજ્ઞ શ્રીમદ્ હેમચન્દ્રચાર્ય છે. આ ગ્રંથનો વિષયક્રમ (૧) લિંગાનુશાસન (૨) એકાક્ષરકોષ (૩) ધાન ચિન્તામણિ (૪) શેષનામમાલા (૫) નામમાલા શિલોચ્છ (૬) નિઘંટુશેષ (૭) અભિધાન ચિન્તામણિકોશની અકારાદિ મણિકા છે. એકાક્ષર નામમાલા સુધાકુશલ વિરચિત. નામમાલાશિલોચ્છ જિનદેવસૂરિવિરચિત છે.

સંશોધક-આચાર્યશ્રી આનંદસાગરસૂરિ. પ્રકાશક-શ્રી હીરાચંદ કસ્તુરચંદ ઝવેરી અને મોતીચંદ મગનભાઇ ચોકસી, મુદ્રણકાલ . ૨૦૦૨ ઈ. સ. ૧૯૪૬. વીર સં. ૨૪૭૨. મુદ્રણસ્થાન-નિર્ણયસાગર પ્રેસ, મુંબઇ. વિષય શબ્દસંગ્રહ, ભાષા-સંસ્કૃત, પૃષ્ઠ સંખ્યા કિં. રૂા. ૪-૦૦ કુલ નકલ ૧૨૫૦ કુલ ખર્ચ રૂા. ૧૦૦૦૦ થયો છે.

૩. ગ્રંથાંક ૯૩ જૈનકુમારસંભવ મહાકાવ્ય

આ ગ્રંથના કર્તા અંચલગચ્છીય આચાર્યશ્રી જયશેખરસૂરિ છે. ટીકાકાર આચાર્યશ્રી ધર્મશેખરસૂરિ સંશોધક શ્રીમદ્ વિજયક્ષમાભદ્ર ? અને આચાર્યશ્રી વિજયલબ્ધિસૂરિ શિષ્ય મુનિશ્રી વિક્રમવિજયજી. પ્રકાશક શ્રી હીરાચંદ કસ્તુરચંદ ઝવેરી અને મોતીચંદ મગનભાઈ સી. પ્રસ્તાવના મુનિશ્રી વિક્રમવિજયજીએ લખી છે. આભારદર્શક શ્રી હીરાચંદ કસ્તુરચંદ ઝવેરી. મુદ્રણકાલ વિક્રમ સંવત ૨૦૦૨ ઈ. સ. ૪૬, વીર સંવત ૨૪૭૨. મુદ્રણ સ્થાન–નિર્ણયસાગર પ્રેસ, મુંબઇ. વિષય મહાકાવ્ય ચરિત્ર, ભાષા સંસ્કૃત, પૃષ્ઠ સંખ્યા ૩૯૬, કિંમત રૂા. ૫૦ કુલ નકલ ૭૫૦ કુલ ખર્ચ રૂા. ૫૦૦૦ થયો છે.

૪. ગ્રંથાંક ૯૪ સિદ્ધહેમચન્દ્ર–શબ્દાનુશાસન–બૃહન્ન્યાસઅવચૂર્ણિ.

(બૃહદ્વૃત્તિદુર્ગપદ–વિવરણ નવપાદી.) આ ગ્રન્થના કર્તા આચાર્યશ્રી હેમચન્દ્રસૂરિજી છે. દુર્ગપદવિવરણ–અવચૂર્ણિના કર્તા શ્રી નંદસૂરિના શિષ્ય શ્રી અમરચન્દ્ર મુનિ છે. સંશોધક–આચાર્યશ્રી ચન્દ્રસાગરસૂરિજી છે. પ્રકાશક શ્રી મોતીચંદ મગનભાઈ ચોકસી. ણકાલ–વિ. સં. ૨૦૦૪ ઈ. સ. ૧૯૪૮ વીર સંવત ૨૪૭૪ મુદ્રણસ્થાન–મહોદય મુદ્રણાલય, ભાવનગર. પૃષ્ઠ સંખ્યા ૩૧૨, કિંમત રૂા. ૦૦ વિષય–સંસ્કૃત વ્યાકરણ. કુલ નકલ ૫૦૦ કુલ ખર્ચ રૂા. ૭૫૦૦ થયો છે. વિશેષ આગમોદ્ધારક આચાર્યશ્રી આનંદસાગર સૂરિશ્વરજી ત લિખિતકૃતિ જે અત્યાર સુધી અપ્રસિદ્ધ હતી તે દ્વાત્રિંશિકા પ્રતિકૃતિ (ફોટો) આમાં દાખલ કરી છે. આદિમાં શ્રી ચન્દ્રકાન્તસાગરજીએ શ્રીચન્દ્રસાગરગણિની ચાતુર્માસ નોંધ આપી છે.

૫. ગ્રંથાંક ૯૫. વીતરાગસ્તોત્ર

આ ગ્રંથના કર્તા–કલિકાલ સર્વજ્ઞ–આચાર્યશ્રી હેમચન્દ્રસૂરિ છે. શ્રી વિશાલરાજસૂરિ શિષ્ય શ્રીસોમોદયગણિકૃત અવચૂર્ણિ, દેવભદ્રમુનિન્દ્ર શિષ્ય શ્રી પ્રભાનન્દસૂરિકૃત વિવરણ અને મુનિશ્રી ચન્દ્રપ્રભસાગરકૃત મૂલનો ગુજરાતી અનુવાદ સહિત. સંપાદક–સંશોધક

નુવાદક મુનિશ્રી ચન્દ્રપ્રભસાગર છે. પ્રકાશક મોતીચંદ મગનભાઇ ચોકસી. મુદ્રણકાલ વિ. સં. ૨૦૦૬, ઇ. સ. ૧૯૪૯ વીર સંવત ૨૪૭૬. ણ સ્થાન મહોદય મુદ્રણાલય ભાવનગર. ભાષા–સંસ્કૃત–ગુજરાતી. કિં. રૂા. ૧–૫૦ કુલ નકલ ૧૦૦૦.

૬. ગ્રંથાંક ૯૯. શ્રમણ સૂત્રાદિ અવચૂરિ.

સાધુ સાધ્વીઓને ઉપયોગી શ્રી શ્રમણસૂત્ર પાક્ષિકસૂત્ર–ક્ષામણકસૂત્રો અવચૂરિ સહિત પ્રકાશિત કર્યાં છે. સંશોધક–આચાર્યશ્રી ચલબ્ધિસૂરિ શિષ્ય મુનિશ્રી લલિતાંગવિજય. પ્રકાશક મોતીચંદ મગનભાઇ ચોકસી. મુદ્રણકાલ, વિ. સં. ૨૦૦૭. ઈ. સ. ૧૯૫૧. સંવત ૨૪૭૭. મુદ્રણસ્થાન સરસ્વતી મુદ્રણાલય, સુરત. કિં. રૂા. ૧–૦૦. કુલ નકલ ૫૦૦ કુલ ખર્ચ રૂા. ૧૨૫૦ થયો છે.

૭. ગ્રંથાંક ૧૦૦. વન્દન પ્રતિક્રમણ અવચૂરિ

પૂર્વના મહર્ષિએ રચેલી આ અવચૂરિ વન્દન પ્રતિક્રમણ નામની છે. પ. પૂ. આચાર્ય પ્રવર શ્રી દેવેન્દ્રસૂરિકૃત વન્દારુવૃત્તિ આચાર્યશ્રી રત્નશેખરસૂરિ કૃત અર્થદીપિકા જે છે, તેમાંથી કથાઓ વગેરે છોડીને અવચૂરિ રૂપ જે ટીકાનો ભાગ તે આ ગ્રંથમાં માં આવેલો છે; તેથી આ અવચૂરિ કહેવાય છે, આ અવચૂરિના કર્તાએ કોઈ જગ્યાએ પોતાના નામનો ઉલ્લેખ કર્યો નથી. તેથી આ રિ અનિર્દિષ્ટ નામવાળી છે. સંપાદક–આચાર્યશ્રી આનન્દસાગરસૂરિના અંતેવાસિ મુનિશ્રી કંચનવિજય તથા શ્રી રસાગર. પ્રકાશક મોતીચંદ મગનભાઈ ચોકસી. મુદ્રણકાલ–વિ. સં. ૨૦૦૮ ઈ. સ. ૧૯૫૨ વીર સંવત ૨૪૭૮. મુદ્રણસ્થાન નિર્ણયસાગર મુંબઈ. વિષયવન્દન–ષડાવશ્યક, ભાષા સંસ્કૃત. કિં. રૂા. ૧–૫૦ કુલ નકલ ૫૦૦ કુલ ખર્ચ ૫૫૦૦ થયો છે.

૮. ગ્રંથાંક ૧૦૨. આદ્ય (શ્રાવકધર્મ) પંચાશકચૂર્ણિ.

આચાર્યશ્રી હરિભદ્રસૂરિ કૃત પંચાશક ગ્રંથમાંનું એક શ્રાવકધર્મ પંચાશક પ્રકરણ શ્રી યશોદેવસૂરિ કૃત ચૂર્ણિસહિતનું આ

૩. ગ્રંથાંક ૯૩ જૈનકુમારસંભવ મહાકાવ્ય

આ ગ્રંથના કર્તા અંચલગચ્છીય આચાર્યશ્રી જયશેખરસૂરિ છે. ટીકાકાર આચાર્યશ્રી ધર્મશેખરસૂરિ સંશોધક શ્રીમદ્ વિજયક્ષમાભદ્ર
અને આચાર્યશ્રી વિજયલબ્ધિસૂરિ શિષ્ય મુનિશ્રી વિક્રમવિજયજી. પ્રકાશક શ્રી હીરાચંદ કસ્તુરચંદ ઝવેરી અને મોતીચંદ મંગનભાઈ
સી. પ્રસ્તાવના મુનિશ્રી વિક્રમવિજયજીએ લખી છે. આભારદર્શક શ્રી હીરાચંદ કસ્તુરચંદ ઝવેરી. મુદ્રણકાલ વિક્રમ સંવત ૨૦૦૨ ઈ. સ.
'૬, વીર સંવત ૨૪૭૨. મુદ્રણ સ્થાન–નિર્ણયસાગર પ્રેસ, મુંબઇ. વિષય મહાકાવ્ય ચરિત્ર, ભાષા સંસ્કૃત, પૃષ્ઠ સંખ્યા ૩૯૬, કિંમત રૂા.
° કુલ નકલ ૭૫૦ કુલ ખર્ચ રૂા. ૫૦૦૦ થયો છે.

૪. ગ્રંથાંક ૯૪ સિદ્ધહેમચન્દ્ર–શબ્દાનુશાસન–બૃહદ્દન્યાસવચૂર્ણિ.

(બૃહદ્વૃત્તિદુર્ગપદ–વિવરણ નવપાદી.) આ ગ્રન્થના કર્તા આચાર્યશ્રી હેમચન્દ્રસૂરિજી છે. દુર્ગપદવિવરણ–અવચૂર્ણિના કર્તા શ્રી
ાનંદસૂરિના શિષ્ય શ્રી અમરચન્દ્ર મુનિ છે. સંશોધક–આચાર્યશ્રી ચન્દ્રસાગરસૂરિજી છે. પ્રકાશક શ્રી મોતીચંદ મગનભાઈ ચોકસી.
ણકાલ–વિ. સં. ૨૦૦૪ ઈ. સ. ૧૯૪૮ વીર સંવત ૨૪૭૪ મુદ્રણસ્થાન–મહોદય મુદ્રણાલય, ભાવનગર. પૃષ્ઠ સંખ્યા ૩૧૨, કિંમત રૂા.
.૦૦ વિષય–સંસ્કૃત વ્યાકરણ. કુલ નકલ ૫૦૦ કુલ ખર્ચ રૂા. ૭૫૦૦ થયો છે. વિશેષ આગમોદ્ધારક આચાર્યશ્રી આનંદસાગર સૂરિશ્વરજી
ત લિખિતકૃતિ જે અત્યાર સુધી અપ્રસિદ્ધ હતી તે દ્વાત્રિંશિકા પ્રતિકૃતિ (ફોટો) આમાં દાખલ કરી છે. આદિમાં શ્રી ચન્દ્રકાન્તસાગરજીએ
શ્રીચન્દ્રસાગરગણિની ચાતુર્માસ નોંધ આપી છે.

૫. ગ્રંથાંક ૯૫. વીતરાગસ્તોત્ર

આ ગ્રંથના કર્તા–કલિકાલ સર્વજ્ઞ–આચાર્યશ્રી હેમચન્દ્રસૂરિ છે. શ્રી વિશાલરાજસૂરિ શિષ્ય શ્રીસોમોદયગણિકૃત અવચૂર્ણિ,
. દેવભદ્રમુનિન્દ્ર શિષ્ય શ્રી પ્રભાનન્દસૂરિકૃત વિવરણ અને મુનિશ્રી ચન્દ્રપ્રભસાગરકૃત મૂલનો ગુજરાતી અનુવાદ સહિત. સંપાદક–સંશોધક

અનુવાદક મુનિશ્રી ચન્દ્રપ્રભસાગર છે. પ્રકાશક મોતીચંદ મગનભાઇ ચોકસી. મુદ્રણકાલ વિ. સં. ૨૦૦૬, ઇ. સ. ૧૯૪૯ વીર સંવત ૨૪૭૬. મુદ્રણ સ્થાન મહોદય મુદ્રણાલય ભાવનગર. ભાષા–સંસ્કૃત–ગુજરાતી. કિં. રૂા. ૧–૫૦ કુલ નકલ ૧૦૦૦.

૬. ગ્રંથાંક ૯૯. શ્રમણ સૂત્રાદિ અવચૂરિ.

સાધુ સાધ્વીઓને ઉપયોગી શ્રી શ્રમણસૂત્ર પાક્ષિકસૂત્ર–ક્ષામણકસૂત્રો અવચૂરિ સહિત પ્રકાશિત કર્યા છે. સંશોધક–આચાર્યશ્રી વિજયલબ્ધિસૂરિ શિષ્ય મુનિશ્રી લલિતાંગવિજય. પ્રકાશક મોતીચંદ મગનભાઇ ચોકસી. મુદ્રણકાલ, વિ. સં. ૨૦૦૭. ઈ. સ. ૧૯૫૧. વીર સંવત ૨૪૭૭. મુદ્રણસ્થાન સરસ્વતી મુદ્રણાલય, સુરત. કિં. રૂા. ૧–૦૦. કુલ નકલ ૫૦૦ કુલ ખર્ચ રૂા. ૧૨૫૦ થયો છે.

૭. ગ્રંથાંક ૧૦૦. વન્દન પ્રતિક્રમણ અવચૂરિ

પૂર્વના મહર્ષિએ રચેલી આ અવચૂરિ વન્દન પ્રતિક્રમણ નામની છે. પ. પૂ. આચાર્ય પ્રવર શ્રી દેવેન્દ્રસૂરિકૃત વન્દારુવૃત્તિ તથા આચાર્યશ્રી રત્નશેખરસૂરિ કૃત અર્થદીપિકા જે છે, તેમાંથી કથાઓ વગેરે છોડીને અવચૂરિ રૂપ જે ટીકાનો ભાગ તે આ ગ્રંથમાં લેવામાં આવેલો છે; તેથી આ અવચૂરિ કહેવાય છે, આ અવચૂરિના કર્તાએ કોઈ જગ્યાએ પોતાના નામનો ઉલ્લેખ કર્યો નથી. તેથી આ અવચૂરિ અનિર્દિષ્ટ નામવાળી છે. સંપાદક–આચાર્યશ્રી આનન્દસાગરસૂરિના અંતેવાસિ મુનિશ્રી કંચનવિજય તથા શ્રી ક્ષેમંકરસાગર. પ્રકાશક-મોતીચંદ મગનભાઈ ચોકસી. મુદ્રણકાલ-વિ. સં. ૨૦૦૮ ઈ. સ. ૧૯૫૨ વીર સંવત ૨૪૭૮. મુદ્રણસ્થાન નિર્ણયસાગર પ્રેસ, મુંબઈ. વિષયવન્દન–ષડાવશ્યક, ભાષા સંસ્કૃત. કિં. રૂા. ૧–૫૦ કુલ નકલ ૫૦૦ કુલ ખર્ચ ૫૫૦૦ થયો છે.

૮. ગ્રંથાંક ૧૦૨. આદ્ય (શ્રાવકધર્મ) પંચાશકચૂર્ણિ.

આચાર્યશ્રી હરિભદ્રસૂરિ કૃત પંચાશક ગ્રંથમાંનું એક શ્રાવકધર્મ પંચાશક પ્રકરણ શ્રી યશોદેવસૂરિ કૃત ચૂર્ણિસહિતનું આ

પ્રકાશન પ્રથમવાર જ થાય છે. સંપાદક–આચાર્યશ્રી આનન્દસાગરસૂરિન અંતેવાસિ મુનિ શ્રી કંચનવિજય તથા શ્રી ક્ષેમંકરસાગરજી. પ્રકાશક મોતીચંદ મગનભાઈ ચોકસી. મુદ્રણકાલ વિ. સં. ૨૦૦૮. ઇ. સ. ૧૯૫૨. વીર સંવત ૨૪૭૮. મુદ્રણસ્થાન, મહોદય મુદ્રણાલય, ભાવનગર. કિં. રૂા. ૨–૫૦ કુલ નકલ ૫૦૦ કુલ ખર્ચ રૂા. ૨૫૦૦ થયો છે.

૯. ગ્રંથાંક ૧૦૩. શ્રી દશવૈકાલિકસૂત્ર

આ ગ્રંથના કર્તા શ્રી શય્યંભવસૂરિજી છે. ટીકાકાર શ્રી સુમતિસાધુસૂરિજી છે. સંપાદક–શ્રી આનન્દસાગરસૂરિના અન્તેવાસિ મુનિ શ્રી કંચનવિજય તથા શ્રી ક્ષેમંકરસાગરજી. પ્રકાશક–મોતીચંદ મગનભાઈ ચોકસી. મુદ્રણકાલ–વિ. સં. ૨૦૧૦. ઇ. સ. ૧૯૫૪. વીર સંવત ૨૪૮૦. વિષય સાધુ-સાધ્વીના આચાર. ભાષા પ્રાકૃત–સંસ્કૃત. મુદ્રણસ્થાન–મહોદય મુદ્રણાલય, ભાવનગર. કિં. રૂા. ૩–૦૦ કુલ નકલ ૫૦૦ કુલ ખર્ચ રૂા. ૩૦૦૦ થયો છે.

૧૦. ગ્રંથાંક ૧૦૪. શ્રી ઉત્તરાદયયન અવચૂરિ ભા. ૧ લો.

આ અવચૂર્ણિના કર્તા ચિરંતનાચાર્ય છે. આ સકથાનક લઘુ વૃત્તિ છે. આ ગ્રંથના ૩૬ અધ્યયનો છે, તેમાંથી આ પ્રથમ ભાગમાં ૨૩ અધ્યયનો આપવામાં આવ્યાં છે. સંપાદક–આચાર્ય શ્રી આનંદસાગરસૂરિજીના ઉપસંપદા પ્રાપ્ત મુનિ શ્રી કંચનવિજયજી પ્રકાશક–મોતીચંદ મગનભાઇ ચોકસી. મુદ્રણકાલ–વિ. સં. ૨૦૧૬. ઈ. સ. ૧૯૬૦. વીર સંવત ૨૪૮૬. મુદ્રણસ્થાન–નિર્ણયસાગર પ્રેસ, મુંબઈ. ભાષા પ્રકૃત-સંસ્કૃત કિં. રૂા. ૪–૦૦. કુલ નકલ ૫૦૦. કુલ ખર્ચ રૂા. ૪૦૦૦ થયો છે.

૧૧. ગ્રંથાંક ૧૦૫. શ્રી પિણ્ડનિર્યુક્તિ અવચૂરિ.

શ્રી શય્યંભવસૂરિકૃત શ્રી દશવૈકાલિકસૂત્રમાં પાંચમું અધ્યયન પિણ્ડૈષણા છે. તેની નિર્યુક્તિ શ્રી ભદ્રબાહુસ્વામી મહારાજે

રચેલી છે, તેજ આ પિણ્ડનિર્યુક્તિ નામનો ગ્રંથ છે. તેના ઉપર અવચૂરિ શ્રી જયકીર્તિસૂરિના શિષ્ય શ્રી ક્ષમારત્નજીએ રચી છે. શ્રી વીર ગણિરચિત શિષ્યહિતા નામની વૃત્તિનો આદિઅંત ભાગ પરિશિષ્ટ ૯માં આપવામાં આવ્યો છે. અંચલગચ્છીય શ્રી મેરુતુંગ સૂરિના શિષ્ય શ્રી માણિક્યશેખરસૂરિ રચિત દીપિકાનો આદિઅંત ભાગ પરિશિષ્ટ ૧૦માં આપવામાં આવ્યો છે. આનું પ્રકાશન પ્રથમવાર થાય છે. સંપાદક–આચાર્યશ્રી આનન્દસાગરસૂરિજીના ઉપસંપદા પ્રાપ્ત મુનિ શ્રી કંચનવિજયજી. પ્રકાશક–મોતીચંદ મગનભાઈ ચોકસી. મુદ્રણકાલ–વિ. સં. ૨૦૧૪. ઈ. સ. ૧૯૫૮. વીર સંવત ૨૪૮૪. કિં. રૂા. ૩–૦૦. ભાષા પ્રાકૃત–સંસ્કૃત. મુદ્રણસ્થાન–મહોદય મુદ્રણાલય, ભાવનગર. કુલ નકલ ૫૦૦. કુલ ખર્ચ રૂા. ૧૫૦૦ થયો છે.

૧૨. ગ્રંથાંક ૧૦૬. શ્રી શ્રાદ્ધવિધિ પ્રકરણ શ્રાદ્ધવિધિ કૌમુદીવૃત્તિસહિત

આ ગ્રંથના કર્તા શ્રી રત્નશેખરસૂરિ છે. તેના ઉપર સ્વોપજ્ઞ 'શ્રાદ્ધવિધિ–કૌમુદી' વૃત્તિ છે. સંશોધક–શ્રીમદ્ વિજયલબ્ધિસૂરિ શિષ્ય પં. શ્રી વિક્રમવિજયગણિ અને મુનિ શ્રી ભાસ્કરવિજયજી. આદ્વિતીય સંસ્કરણ છે.

પ્રકાશક–મોતીચંદ મગનભાઈ ચોકસી. મુદ્રણકાલ–વિ. સં. ૨૦૧૬. ઈ. સ. ૧૯૬૦. વીર સંવત ૨૪૮૬. મુદ્રણસ્થાન–નિર્ણયસાગર પ્રેસ; મુંબઈ. વિષય–શ્રાવકધર્મ અંગે વિધિવાદનું નિરૂપણ. ભાષા પ્રાકૃત–સંસ્કૃત. કિં. રૂા. ૪–૦૦. કુલ નકલ ૫૦૦. કુલ ખર્ચ રૂા. ૪૦૦૦ થયો છે.

૧૩. ગ્રંથાંક ૧૦૮. શ્રીમદાવશ્યકસૂત્ર નિર્યુક્તેરવચૂર્ણિ : (પ્રથમો વિભાગ :)

આ અવચૂર્ણિના કર્તા ભટ્ટારક શ્રી જ્ઞાનસાગરસૂરિ છે, તેઓશ્રી તપાગચ્છમાં થઇ ગયેલ શ્રી દેવસુંદરસૂરિના શિષ્ય હતા. એઓશ્રીનો સત્તાકાલ પંદરમાં સૈકાનો છે. તેઓશ્રીએ આ અવચૂર્ણિ શ્રી હરિભદ્રસૂરિકૃત વૃત્તિની અનુસારે કરેલી છે. સંશોધક :

પંન્યાસ શ્રી માનવિજયગણિ. પ્રકાશક : મોતીચંદ મગનભાઈ ચોકસી. મુદ્રણકાલ : વિ. સં. ૨૦૨૧, ઇ. સ. ૧૯૬૫, વીર સંવત ૨૪૯૧ મુદ્રણસ્થાન : નિર્ણયસાગર પ્રેસ, મુંબઈ આ પ્રથમ વિભાગમાં સામાયિક અધ્યયનની અવચૂર્ણિ છે. પ્રતના પાના ૪૫૨. નિર્યુક્તિ ગાથા ૧૦૬૮ છે. વિષય : ષડાવશ્યકનો છે. ભાષા : પ્રાકૃત, સંસ્કૃત, કિં. રૂા. ૫–૦૦ કુલ નકલ ૫૦૦.

૧૪. ગ્રંથાંક ૧૦૮. શ્રીમદાવશ્યકસૂત્ર નિર્યુક્તેરવચૂર્ણિ : (દ્વિતીયો વિભાગ :)

આ બીજા ભાગને પણ પ્રથમ ભાગની માફક ગ્રંથાંક : ૧૦૮ આપવામાં આવ્યો છે. બીજા ભાગનું સંપાદન પણ પંન્યાસ શ્રી માનવિજયગણિએ કર્યું છે. આમાં આવશ્યકસૂત્રના બીજા ચતુર્વિંશતિ અધ્યયનથી છેલ્લા છઠ્ઠા પચ્ચક્ખાણ અધ્યયન સુધીની નિર્યુક્તિની અવચૂર્ણિ આપવામાં આવી છે. નિર્યુક્તિ ગાથા ૧૦૬૯ થી ૧૬૩૭. પ્રતના પાના ૨૮૬ છે. સાથે સાથે પરિશિષ્ટ ૧ આવશ્યકસૂત્ર અંગેના ગ્રંથોની યાદી. પરિશિષ્ટ–૨ આવશ્યકસૂત્ર નિર્યુક્તિ ઉપર શ્રી તિલકાચાર્યકૃત. લઘુવૃત્તિનો આદિ વિભાગ, પાના ૧ થી ૪૦ ભાષા પ્રાકૃત–સંસ્કૃત. વિષય : ષડાવશ્યકનો છે. પ્રકાશક : મોતીચંદ મગનભાઈ ચોકસી. મુદ્રણસ્થાન : મહોદય મુદ્રણાલય ભાવનગર તથા નવપ્રભાત મુદ્રણાલય, રાજનગર મુદ્રણકાલ : વિ. સં. ૨૦૨૧. ઈ. સ. ૧૯૬૫. વીર સંવત ૨૪૯૧. કિં. ૩–૦૦ કુલ નકલ ૫૦૦.

૧૫. ગ્રંથાંક ૧૦૯. શ્રી સૂયગડાંગસૂત્ર–દીપિકા. (પહેલો શ્રુતસ્કન્ધ : પ્રથમો વિભાગ :)

આ સૂત્રના મૂલ કર્તા સુધર્માસ્વામીગણધર. ભાષા : પ્રાકૃત. દીપિકાનાં કર્તા : શ્રી સાધુરંગગણિ, ભાષા : સંસ્કૃત. વિષય : જૈન દર્શનનું સ્થાપન અને પરદર્શનનું નિરાકરણ (દાર્શનિક) સંપાદક : શ્રી બુદ્ધિસાગરગણિ, પ્રકાશક : મોતીચંદ મગનભાઈ ચોકસી. મુદ્રણકાલ : વિ. સં. ૨૦૧૫, ઈ. સ. ૧૯૫૯, વીર સંવત ૨૪૮૫ મુદ્રણસ્થાન : મહોદય મુદ્રણાલય, ભાવનગર. કિં. રૂા. ૩–૦૦ કુલ નકલ ૫૦૦.

૧૬. ગ્રંથાંક ૧૧૦. શ્રી સૂયગડાંગસૂત્ર–દીપિકા. (દ્વિતીય શ્રુતસ્કન્ધ : દ્વિતીય વિભાગ :)

જેનો પ્રથમ ભાગ ગ્રંથાંક ૧૦૯ અમારા તરફથી પ્રકાશિત થયેલો
આ દીપિકા શ્રી સાધુરંગગણિએ તથા શ્રી હર્ષકુલગણિએ રચી છે. સંપાદક : શ્રી બુદ્ધિસાગરગણિ. પ્રકાશક :
છે. ભાષા : પ્રાકૃત–સંસ્કૃત. વિષય : જૈન દર્શનનું સ્થાપન અને પરદર્શનનું નિરાકરણ (દાર્શનિક). મુદ્રણસ્થાન : મહોદય મુદ્રણાલય–ભાવનગર.
મોતીચંદ મગનભાઈ ચોકસી. મુદ્રણકાલ : વિ. ૨૦૧૯, ઈ. સ. ૧૯૬૨, વીર સંવત ૨૪૮૯.
કિં. ૩–૦૦ કુલ નકલ ૫૦૦.

૧૭. ગ્રંથાંક ૧૧૫. શ્રી અલ્પપરિચિત સૈદ્ધાન્તિક શબ્દકોષ. (દ્વિતીય વિભાગ :)

આ ગ્રંથનો પહેલો ભાગ શ્રી આનન્દસાગરસૂરીશ્વરજી સંકલિતસંપૂર્ણસ્વરસુધાનો ગ્રંથાંક ૧૦૧ વિ. સં. ૨૦૧૦. ઇ. સ. ૧૯૫૪માં
અમારા તરફથી પ્રકાશિત થયો હતો. તેનો જ આ બીજો ભાગ શ્રી આનન્દસાગરસૂરીશ્વરજી સંકલિત છે. આમાં ક થી ઝ સુધીનો શબ્દકોષ
છે. સંપાદક : શ્રી કંચનવિજયજી અને શ્રી પ્રમોદસાગરજી. સંગ્રાહક : શ્રી ગુણસાગરજી. પ્રકાશક : મોતીચંદ મગનભાઈ ચોકસી. ભાષા :
પ્રાકૃત–સંસ્કૃત. વિષય : આગમગતસૈદ્ધાન્તિક શબ્દોનો સંગ્રહ અને અર્થ સંક્ષેપમાં ટીકાકારોને આધારે મુદ્રણકાલ : વિ. સ. ૨૦૨૦.
ઈ. સ. ૧૯૬૪. વીર સંવત ૨૪૯૦, મુદ્રણસ્થાન : જૈનેન્દ્ર મુદ્રણાલય, લલિતપુર. કિં. રૂા. ૫–૦૦ કુલ નકલ ૫૦૦.

આઠ ગ્રંથો પ્રેસમાં છે.

(૧) નંદીસૂત્ર અવચૂરિ ભા. ૧. (૨) જમ્બુદ્વિપ્રજ્ઞપ્તિચૂર્ણિ. (૩) નંદીસૂત્ર અવચૂરિ ભા. ૨. (૪) અલ્પપરિચિતસૈદ્ધાન્તિક શબ્દકોષ ભા. ૩
(૫) ભગવતી અવચૂરિ. (૬) જ્ઞાતાધર્મ. (૭) આચારાંગ દીપીકા. (૮) જમ્બુવૃતિ.

શ્રીમતી આગમોદય સમિતિના પ્રકાશનો

	કિં. રૂા. પૈ.
૧ નંદ્યાદિગાથાદ્યકારાદ્યિુતો (સપ્તસૂત્ર) વિષયાનુક્રમ	૨ – ૦૦
૨ ભક્તામરસ્તોત્ર પાદપૂર્તિરૂપ કાવ્ય ટીકા ભાષાંતર	
,, દ્વિતીય વિભાગ ,,	૩ – ૫૦
૩ સ્તુતિ ચતુર્વિંશતિકા સચિત્ર શ્રી શોભનમુનિ કૃતા સંસ્કૃતા.	૮ – ૦૦
૪ ,, શ્રી બપ્પભટ્ટિસૂરિકૃતા ભાષાંતર યુક્તા.	૬ – ૦૦
૫ ,, કવિધનપાલકૃતા વ ઐન્દ્ર સ્તુતિ.	૬ – ૦૦
૬ લોકપ્રકાશ ભા. ૨ જો ક્ષેત્રલોકસર્ગ ૧૨ થી ૨૦ ભાષાંતર સહિત.	૩ – ૫૦